वर्तमान परिवेश में पुराणों के शैक्षिक निहितार्थ
एक समालोचनात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से शिक्षाशास्त्र
में पी0-एच0डी0 की उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध
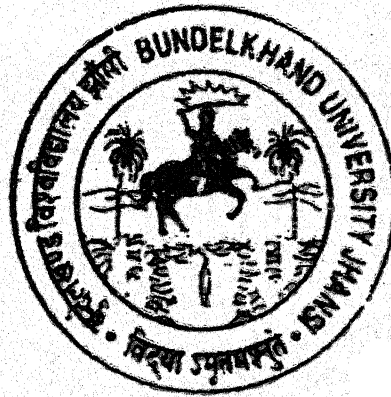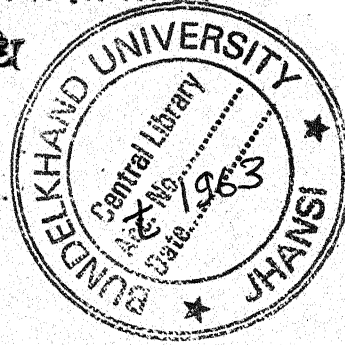
सह निर्देशक :
डा. दिनेश कुमार शर्मा
रीडर, शिक्षा विभाग
जे. वी. जैन कॉलिज, सहारनपुर

निर्देशक :
प्रो0 शशिकान्त
शिक्षा संस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

शोधकर्ता :
राज कुमार
एम० ए०, एम० एड०

शिक्षा संस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

2005

कुलसचिव,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी।

विषय :– पर्यवेक्षक का प्रमाणपत्र

महोदय,

सहर्ष प्रमाणित किया जाता है कि *'वर्तमान परिवेश में पुराणों के शैक्षिक निहितार्थ–एक समालोचनात्मक अध्ययन'* शीर्षक शोध–प्रबन्ध बुन्देलखण्ड, विश्वविद्यालय, झाँसी की पी–एच. डी. उपाधि के लिये लिखा गया है। श्री राजकुमार द्वारा मेरे निर्देशन व पर्यवेक्षण में यह शोधकार्य सम्पन्न किया गया है। यह इनका स्वयं का कृतित्व है, जिसे उन्होंने अत्यधिक श्रम व अध्यवसाय से पूर्ण किया है। यह विश्वविद्यालय द्वारा परीक्षण हेतु प्रस्तुत है।

इस कार्य को पूर्ण करने में इनके द्वारा विश्वविद्यालय के नियमानुसार आवश्यक उपस्थिति पूर्ण की गई है।

सह निर्देशक,
डॉ0 दिनेश कुमार शर्मा
रीडर, शिक्षा विभाग,
जे. वी. जैन कॉलेज,
सहारनपुर।

निर्देशक,
शशिकान्त
डॉ0 शशिकान्त,
प्रोफेसर, शिक्षा संस्थान,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी।

उद्घोषणा

मैं घोषित करता हूँ कि प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध 'वर्तमान परिवेश में पुराणों के शैक्षिक निहितार्थ– एक समालोचनात्मक अध्ययन' मेरा अपना मौलिक प्रयास है तथा मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे इस कार्य से पूर्व इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है।

शोधकर्ता

राजकुमार

राजकुमार,

एम. ए. एम. एड.

आभार स्मृति

प्रस्तुत शोध कार्य को सुव्यवस्थित रूप में सम्पन्न कराने का श्रेय मेरे शोध निर्देशक डॉ0 शशिकान्त, प्रोफेसर, शिक्षा संस्थान बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी व सह निर्देशक डॉ0 दिनेश कुमार शर्मा, रीडर, शिक्षा विभाग, जे. वी. जैन कालिज, सहारनपुर, को है। उनके निर्देशन में सूक्ष्म दृष्टि एवं मूल्यवान सुझावों से शोधकर्ता इस कार्य को पूर्ण करने में सक्षम हो सका है। शोधकर्ता स्वयं को धन्य व कृतकृत्य अनुभव करता है कि प्रो0 शशिकान्त व डॉ0 दिनेश कुमार शर्मा ने अपना अमूल्य सहयोग वास्तव में बड़ी आत्मीयता और सहजता से दिया है, जिसके लिए शोधकर्ता उनका हृदय से आभारी है।

इसके साथ ही शोधकर्ता श्री रामबाबू यादव, प्रधानाचार्य, पब्लिक इन्टर कालिज, स्याना, बुलन्दशहर, श्री लीला सिंह, डॉ0 श्याम कुमार व अन्य अध्यापकों–कर्मचारियों का भी आभार व्यक्त करता है, जिनसे शोधकर्ता को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है।

अन्त में शोधकर्ता अपने पूज्य पिता श्री बाबूराम, माता श्रीमती प्रकाशवती, जीवन संगिनी श्रीमती संतोष, अपने भाइयों व परिवार के अन्य सभी सदस्यों सहित श्री रविन्द्र कुमार गुप्ता व अन्य इष्ट मित्रों को धन्यवाद ज्ञापित करता है, जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण करने में समय–समय पर हर संभव सहयोग व सहायता प्रदान की।

शोधकर्ता

राजकुमार

एम. ए. एम. एड.

विषय–सूची

भूमिका

प्रस्तावना

वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद एवं पुराण पुरातन भारतीय संस्कृतिं को जानने व समझने के अनुपम स्त्रोत हैं। विविध पक्षों पर गहनता व समग्रता के साथ अन्वेषण, चिन्तन–मनन करके उन्हें सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने का सतत् प्रयास भारतीय मनीषियों द्वारा किया जाता रहा है। स्वानुभूतिजन्य व दार्शनिक गवेषणा की तर्कपूर्ण प्रक्रिया से उत्पन्न आध्यात्मिक ज्ञान के साथ–साथ इन पुरातन ग्रन्थों में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा शैक्षिक परिदृश्य का आकलन कर उसे वांछित दिशाओं में मार्गान्तरित करने की चेष्टा भी इन मनीषियों के द्वारा अपनी कृतियों के माध्यम से की गई थी। देश, काल एवं परिस्थितियों के साथ–साथ ज्ञान के स्वरूप में भी परिवर्तन होना निरन्तर विकास का एक लक्षण है।

वास्तविकता अथवा सत्य की पुष्टि एक काल विशेष में उपलब्ध साधनों या उपकरणों के द्वारा ही संभव हो सकती है। कसौटीरूपी ये साधन मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में भी हो सकते हैं तथा वैज्ञानिक भौतिक उपकरणों के रूप में भी। ज्ञान का प्रस्तुतिकरण आम जनता में प्रचलित सरल व सुबोधगम्य भाषा के माध्यम से भी किया जा सकता है तथा गूढ़, रहस्यात्मक कूट प्रतीकों व ऐसी भाषा में भी, जो न केवल आम जन–मानस की बुद्धि से परे होती हैं, अपितु विषय–विशेषज्ञों तथा बड़े–बड़े विद्वान भी उन्हें जानने समझने व गुत्थियों को खोल पाने में वर्षों जुटे रहकर अन्ततः स्वयं को असफल ही पाते हैं। भारतीय अर्वाचीन साहित्य में क्या कुछ है? अब यह गोपनीय या रहस्य नही रह गया है। इस ज्ञान को प्रचलित भाषा में सरलीकृत रूप में उपलब्ध कराने, विभिन्न ग्रन्थों की मीमांसा, टीका, आलोचना व मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास भी समय–समय पर विद्वानों द्वारा किया जाता रहा है। यह ज्ञान वर्तमान परिस्थितियों में, विशेषतः आधुनिक भारतीय दशाओं में कितना प्रासंगिक है तथा समाज के विभिन्न पक्षों में इसकी क्या उपादेयता है, यह भी चिन्तन–मनन एवं शोध का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है।

विश्व इतिहास के पन्नों पर भारतवर्ष की गौरव–गरिमा अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस महान महिमा के मूल में वस्तुतः विचारों की मौलिकता, आध्यात्मिकता, दार्शनिकता तथा आदर्शवादिता सन्निहित है। विश्व में सदैव से भारतवर्ष की एक आध्यात्मिक गुरू के रूप में प्रतिष्ठा रही है। यह 'गुरुत्व' आज भी अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मन, जापान आदि देशों में पूर्ण रूप से व्याप्त है। धन–सम्पदा से परिपूर्ण विकसित देशों, विशेषकर अमेरिका और ब्रिटेनवासियों के अशान्त एवं अतृप्त मन को भारतीय सन्त, उपदेशक तथा योगीजन शान्त करने में सफल हो रहे हैं। अनेक देशों के पर्यटक अपनी उद्विग्नता व तनावों से मुक्त होने की आशा लेकर देश के विभिन्न धार्मिक स्थलों यथा, हरिद्वार, ऋषिकेश, वाराणसी व कुरुक्षेत्र आदि में साधुजनों से बात–चीत करते देखे जा सकते हैं। भौतिकतावाद के चरम् पर पहुँचकर भी सन्तोष व शान्ति प्राप्त न कर सके, ये विदेशी जन भारत के आध्यात्मिक चिन्तन से प्रभावित होते हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में योग, आयुर्वेद, मन्त्रोच्चार आदि विश्व स्तर पर मान्यता प्राप्त कर रहे हैं। भारतीय प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्रों पर बहुतायत में विदेशों से लोग उपचार कराने आ रहे हैं।

भारतवर्ष मूलतः आध्यात्मिक देश है। इस देश के मिट्टी के कण–कण में अहिंसा, सदाचार, सात्विकता, नैतिकता, दार्शनिकता तथा सदाशयता रची–बसी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त राजशक्ति की लालसा तथा पद–प्राप्ति की अभिलाषा में वृद्धि के कारण नैतिक मूल्यों के पतन का आभास अवश्य मिलता है। परन्तु इस प्रवृत्ति के प्रति भी भारतीय सजग हैं और स्वयं ही इसकी आलोचना करने में पीछे नहीं हैं। वैश्विक स्तर पर बढ़ती हिंसा, उग्रवादी एवं आतंकवादी घटनाएं निश्चय ही सभी के लिए गहन चिन्ता का विषय हैं। अफगानिस्तान, ईरान, अमेरिका, ब्रिटेन के बाद अब भारत में भी इन हिंसक घटनाओं के भयावह दुष्परिणाम दिखाई पड़ने लगे हैं। युद्धों की विभीषिका से बचने का भी उपाय सिर्फ युद्ध हेतु अधिक मारक शस्त्र निर्मित व अर्जित करना नहीं है। हिंसा की समाप्ति प्रतिहिंसा व दमन से संभव नहीं है। इसके लिए लोगों के विचारों, दृष्टिकोणों तथा चिन्तन शैलियों में परिवर्तन आवश्यक है। एक शान्तिपूर्ण, सह–अस्तित्व पर आधारित व्यवस्था के

लिए अहिंसा में लोगों का विश्वास जब तक नहीं होगा, तब तक विश्व में स्थायी शान्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। भौतिकता व आध्यात्मिकता में सन्तुलन रखते हुए ही विकास के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। अन्यथा, परिणाम असंतुलनपूर्ण होंगे, जैसाकि वर्तमान में विदित है।

वैश्वीकरण के इस दौर में इस तथ्य से तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है कि भारतीय समाज व संस्कृति पाश्चात्य संस्कृति से बडी तीव्रता से प्रभावित हो रही है तथा नयी पीढ़ी बाह्य संस्कृति के मूल्यों व तौर–तरीकों का अनुगमन करने में ही गौरव अनुभव कर रही है। एक सर्वथा नूतन विश्व–संस्कृति का अभ्युदय एवं विकास आधुनिक विश्व की एक विलक्षण विशेषता बन गया है। इन अन्तर–सांस्कृतिक प्रभावों के फलस्वरूप विभिन्न देशों की अपनी पारम्परिक संस्कृतियों में सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यद्यपि ये परिवर्तन सकारात्मक हैं अथवा नकारात्मक, यह भी व्यक्तिनिष्ठ होने के कारण विवाद का ही विषय है। इसी भांति, अपनी पुरातन संस्कृति में क्या गुण हैं तथा क्या दोष? यह भी स्वयं में एक जटिल प्रश्न है, जिसका कोई सर्वमान्य उत्तर दे पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः वस्तुतः एक आदर्श सर्वहितकारी समाज की संकल्पना को दृष्टिगत रखते हुए ही इस दिशा में चिन्तन करना उपयुक्त होगा।

शिक्षा का अर्थ मात्र ज्ञान का हस्तांतरण नही है। न ही सच्ची शिक्षा व्यक्तित्व के एकपक्षीय विकास पर बल देती है। शिक्षा को न तो विद्यालय की चारदिवारी में कैद किया जा सकता है, न ही वह किसी उम्र विशेष तक सीमित होती है। यह जीवन पर्यन्त चलने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है जो मानव के सर्वतोमुखी विकास में सहायक होती है। मानव की अर्न्तनिहित शक्तियों को विकसित करके यह उसे लोक–कल्याण व समाजोत्थान को अपना अप्रतिम योगदान करने में सक्षम बनाती है। अन्ततोगत्वा वह समाज के माध्यम से ही आत्मपरिपूर्णता व आत्मानुभूति की परम् अवस्था को प्राप्त कर पाता है।

धर्म एवं शिक्षा परस्पर सघन रूप से गुंफित होते हैं। दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही है– मानव को आत्म–परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाना। सच्चा धर्म व सच्ची शिक्षा मानव को मानव से जोड़ते हैं, तोड़ते नही। ये परस्पर पूरक हैं, सहायक हैं तथा अन्योन्याश्रित हैं। अतः इनमें परस्पर विरोधाभास नही होना चाहिये। धर्मग्रन्थों में चेष्टापूर्वक उन तत्वों की खोज करना, उन बिन्दुओं पर अनावश्यक रूप से बल देना, उन्हें सन्दर्भ से अलग करके प्रस्तुत, प्रचारित व प्रसारित करना जो किन्ही अन्य धर्मग्रन्थों में कही गई बातों से कुछ विरोधाभास रखते हों, स्वयं में एक नकारात्मक प्रवृत्ति है। सभी धर्मों का सारतत्व एक ही है, यही वास्तविकता है। अतः शिक्षा के माध्यम से संस्कृति के उन तत्वों को विशेष रूप से उभारना चाहिये जिनके द्वारा समाज में धार्मिक व साम्प्रदायिक संकीर्णताएं दूर हो सकें।

वैश्विक स्तर पर एक संयुक्त संस्कृति अथवा विश्व–संस्कृति का विकास आधुनिक समय की एक नवीन परिघटना है। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप अपने राष्ट्र, राज्य, क्षेत्र अथवा स्थानीय संस्कृति पर बाह्य संस्कृतियों के बढ़ते प्रभावों से विचलित होकर उसकी रक्षा के लिए हर संभव तरीके से तत्पर हो उठना भी एक नयी प्रवृत्ति है। स्वाभाविक रूप से यह प्रवृत्ति अपनी पुरातन संस्कृति में पुनः उन तत्वों को खोजने का प्रयास करती है जो उसे बाह्य संस्कृति की तुलना में श्रेष्ठ ठहराने में सहायक हों। निज संस्कृति के प्रति विश्वास एवं आस्था उसके श्रेष्ठ तत्वों को पहचान कर तथा सामान्य जन को उससे अवगत करा कर ही उत्पन्न किया जा सकता है। रूढ़िवादी विचारों, अवैज्ञानिक मान्यताओं तथा विकास में बाधक तत्वों को संस्कृति के नाम पर पुनः जबरन थोपा जाना एक घातक प्रवृत्ति है तथा शिक्षा के माध्यम से तो ऐसा किया जाना कदापि उचित नही है। शिक्षा के द्वारा पारस्परिक सद्भावना, भावात्मक एकता, समता व सामाजिक समरसता के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाना ही अभीष्ट है। अतः उसे इन उद्देश्यों को सम्मुख रखकर ही निज संस्कृति के गौरवशाली, प्रासंगिक, जन–जन के लिये उपयोगी पक्षों को उभारना चाहिये।

आधुनिक भारतीय परिस्थितयों के सन्दर्भ में विचार करने पर यह सहज ही परिलक्षित होता है कि वर्तमान भारतीय समाज एक संक्रमणकालीन अवस्था से गुजर रहा है। जन–मानस पर पाश्चात्य भौतिकतावादी मूल्य हावी हो रहे हैं। व्यक्तिवादिता, स्वार्थपरता, अलगाव तथा सामाजिक विषमताएं बढ़ रही हैं। साम्प्रदायिकता, जातीयता, पारस्परिक द्वेष व कलह, भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता तथा नैतिक मूल्यों का पतन आधुनिक भारतीय समाज के लक्षण बन गए हैं। इन बढ़ते रोगों का उपचार हमें स्वयं ही खोजना होगा और वह भी स्वदेशी तरीकों से। क्या भारतीय संस्कृति को पूर्णतया विदेशी आक्रमण के लिए मुक्त छोड देना उचित होगा अथवा निज संस्कृति के गुण–दोषों का सांगोपांग विवेचन करके आत्म–मूल्यांकन व आत्म–मंथन करके उसके निरर्थक व अनुपयोगी तत्वों को त्याग कर उत्तम तत्वों को पुनर्स्थापित करने का चेतन प्रयास करना ही उचित होगा? किसी भी संस्कृति में सभी कुछ सही होता है अथवा सभी कुछ गलत, ऐसा नही है।

शिक्षा की आधुनिक अवधारणा ही यही है कि *" शिक्षा संस्कृति के संरक्षण, हस्तांतरण एवं विकास का साधन है।"* देश, काल व परिस्थितियों में उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृति के आवश्यक तत्वों का संरक्षण होना चाहिये। समाज की उन्नति में बाधक, अप्रासंगिक व अहितकर तत्वों का मोह त्याग कर उन्हें छोड़ा जाना चाहिये। अन्धानुकरण, चाहे वह निज संस्कृति का हो या बाह्य संस्कृति का, कदापि उचित नही कहा जा सकता। निज संस्कृति के विकास के लिए बाह्य संस्कृति के अच्छे तत्वों को अपनाने में भी कोई दोष नही है। अतः अपनी प्राचीन संस्कृति के विभिन्न तत्वों का नवीन परिदृश्य के सन्दर्भ में पुनः आकलन करना तथा उनकी उपादेयता पर पुनः विचार करना शिक्षा की प्रक्रिया से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति के लिए अभीष्ट है।

समस्या कथन–

प्रस्तुत शोध कार्य का प्रमुख उद्देश्य पुराणों में निहित दर्शन, धर्म परिवार व समाज तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों के स्वरूप का विवेचन करने के साथ–साथ पुराणों में निहित

शिक्षा दर्शन के स्वरूप का शिक्षा के विभिन्न अंगों के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना है। इसके अतिरिक्त यह शोध कार्य पौराणिक अन्तर्वस्तु का वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में प्रासंगिकता व उपयोगिता की दृष्टि से आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का उद्देश्य सम्मुख रखते हुए संचालित किया गया है। प्रस्तावित शोध कार्य का अधोलिखित शीर्षक है–

"वर्तमान परिवेश में पुराणों के शैक्षिक निहितार्थ – एक समालोचनात्मक अध्ययन।"

शोध की आवश्यकता एवं महत्व

शिक्षा के क्षेत्र में हो चुके तथा वर्तमान में हो रहे शोध कार्यों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त विवशतावश यह स्वीकार करना पड़ता है कि शोधकर्ताओं द्वारा शिक्षा दर्शन के क्षेत्र की ओर अल्प रूचि का प्रदर्शन किया गया है। भारतीय दार्शनिकों में विनोबा भावे, अरविन्द, टैगोर, महात्मा गाँधी, डॉ0 जाकिर हुसैन व राधाकृष्णन् आदि पर शोध ग्रन्थ प्रस्तुत किए गए हैं। ओशो रजनीश, अम्बेड़कर, कृष्णमूर्ति व पंडित श्रीराम शर्मा के शिक्षा दर्शन पर भी शोध–प्रयास जारी हैं। परन्तु शिक्षा दर्शन के क्षेत्र में भारतीय शिक्षा शास्त्रियों तथा चिन्तकों द्वारा किए गए कार्यों के महत्वपूर्ण योगदान को दृष्टिगत रखते हुए इन शोध कार्यों को अपर्याप्त ही कहा जायेगा। एक महत्वपमर्ण तथ्य यह भी है कि इन विद्वानों तथा शिक्षा शास्त्रियों के चिन्तन का मूल उद्गम भी भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में है, जिनके प्रति शिक्षा जगत में विशेष उत्साह नहीं दिखाया गया है। वेद, उपनिषद व पुराण आदि ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति की मूल आत्मा निवास करती है। भारतीय शिक्षाविदों के विचारों को इन ग्रन्थों ने निश्चय ही प्रभावित किया है।

शिक्षा के क्षेत्र से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति के लिए, चाहे वह एक शैक्षिक प्रशासक हो, शिक्षक हो या छात्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति के इन परिचायक ग्रन्थों के विषय में जानना आवश्यक व युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वर्तमान समय में इन प्राचीन ग्रन्थों के प्रति सन्देह व मिथ्या धारणाएं रखते हुए इन्हें उपेक्षित करने अथवा इनका विरोध करने की

प्रवृत्ति भी समाज के कुछ वर्गों में देखी जा रही है। प्रतीत होता है मानों इनकी कटु आलोचना ही इनका परम् धर्म है। परन्तु जिस प्रकार की तथा जिस स्तर की आलोचना की जाती है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आलोचक इन ग्रन्थों की बहुत सतही व अपूर्ण जानकारी रखते हैं। उनके अध्ययन में वस्तुनिष्ठता व निष्पक्षता का अभाव साफ दिखाई पड़ता है। अतः पुराण जैसे ग्रन्थों की विषय-सामग्री की समालोचना करने से पूर्व अध्ययनकर्ताओं द्वारा पूर्वाग्रहमुक्त व निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाया जाना भी वांछनीय है। वस्तुतः ये एक शोध कर्ता के आवश्यक गुण भी होते हैं। संबंधित शोधकार्यों के गहन पुनरावलोकन के आधार पर शोधकर्ता निःसंकोच यह स्वीकार करता है कि वैदिक शिक्षा दर्शन, सांख्य दर्शन औपनिषदिक दर्शन, शंकराचार्य का शिक्षा दर्शन तथा गुरू ग्रन्थ साहेब, कुरान, गीता, रामायण, रामचरितमानस तथा महाभारत जैसे ग्रन्थों के शैक्षिक तत्वों के अन्वेषण हेतु तो कुछ शोध प्रयास अवश्य किए गए हैं, परन्तु पुराणों के शैक्षिक तत्वों से संबंधित इस प्रकार का कोई भी कार्य शोधकर्ता को दृष्टिगोचर नहीं हो सका।

पौराणिक साहित्य का भारतीय लोकजीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यद्यपि दार्शनिक तथा साहित्यिक दृष्टि से पुराणों ने अध्ययन हेतु अनेकानेक शोधकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है तथापि जहाँ तक शिक्षा-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुराणों के अध्ययन का प्रश्न है, इसमें उपलब्ध साहित्य नगण्य है। पुराणों की विषय-वस्तु में निहित दार्शनिक, सामाजिक तथा धार्मिक मान्यताओं से आज भी सामान्य भारतीय जन किसी न किसी रूप में प्रभावित दृष्टिगोचर होता है। पाठ्यक्रम के भी कुछ विषयों में पौराणिक उपदेशात्मक कथाओं व गाथाओं के साथ-साथ नीति विषयक तत्वों का समावेश शिक्षाप्रद सामग्री के रूप में किया जाता रहा है। परन्तु पुराणों की विषय-वस्तु पर शिक्षा-व्यवस्था के सम्पूर्ण अंगों के परिप्रेक्ष्य में समग्रता से विवेचन करते हुए वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में उसकी प्रासंगिकता का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना ज्ञान के एक सर्वथा नूतन क्षितिज को उद्‌घाटित करने का प्रयास ही होगा। सांस्कृतिक अभ्युदय, मूल्यों की पुनर्स्थापना तथा सम्यक दिशा बोध, ये कुछ ऐसे उद्‌देश्य हैं, जिन्हें प्राप्त करना आधुनिक

भारत के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। इस दृष्टि से प्रस्तावित शोध विषय पूर्णतः प्रासंगिक एवं समीचीन है।

उद्देश्य

शोधकार्य हेतु चयन किए गए प्रत्येक विषय के कतिपय उद्देश्य होते हैं। शोधकार्य का सामान्य उद्देश्य तो केवल यही है कि शिक्षा का क्षेत्र निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता रहे। अधिकाधिक ज्ञान की उपलब्धि वास्तव में शोधकार्य पर ही अवलम्बित है। तथापि प्रत्येक शोधकार्य के विशिष्ट उद्देश्य भी होते हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1 पुराणों में निहित दर्शन, धर्म एवं समाज के स्वरूप का विवेचन करना।

2 पुराणों में निहित शिक्षा दर्शन के स्वरूप का अधोलिखित के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना।

- अ. शिक्षा की आवश्यकता
- ब. शिक्षा की अवधारणा
- स. शिक्षा के उद्देश्य
- द. पाठ्यक्रम
- य. शिक्षण विधियां
- र. छात्र
- ल. अध्यापक
- व. छात्र–अध्यापक सम्बन्ध
- श. अनुशासन
- ष. विद्यालय

3 पुराण साहित्य के प्रति जन–साधारण की मिथ्या धारणा का निवारण करना।

4. शिक्षा के क्षेत्र में पुराण साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता व महत्व को स्पष्ट करना।

5. पौराणिक अन्तर्वस्तु का वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मे प्रासंगिकता व उपयोगिता की दृष्टि से आलोचनात्मक मूल्यांकन करना।

शोध परिकल्पना

निःसन्देह किसी राष्ट्र की शिक्षा नीति व शिक्षा व्यवस्था अनेक कारकों से प्रभावित होती है। विगत व वर्तमान सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिस्थितियां एवं समस्याएं, दार्शनिक दृष्टिकोण व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आवश्यकताएं व आकांक्षाएं एक सुस्पष्ट, व्यावहारिक तथा प्रभावी शिक्षा व्यवस्था के निर्धारक तत्व होती हैं। वर्तमान का सही ढंग से अवबोध करने तथा वर्तमान की समस्याओं का निराकरण करने में अतीत की घटनाओं व उनके परिणामों का वस्तुनिष्ठ ढंग से विश्लेषण अत्यधिक उपयोगी होता है। पुराणों की वर्ण्य सामग्री यथावत अपने समग्र रूप में वर्तमान भारतीय परिस्थितियों में सर्वसम्मति से स्वीकार्य हो, यह मानना तो उचित न होगा, परन्तु निश्चय ही उसमें अनेक ऐसे तत्व होंगे जो आधुनिक समय में भी पूर्णतः अपनी प्रासंगिकता व उपयोगिता रखते हों। आधुनिक समय में जबकि भौतिकतावादी दृष्टिकोण एवं आध्यात्मिकता में संतुलन स्थापित किया जाना अपरिहार्य प्रतीत होता है, इस स्थिति में पुराणों की विषय–वस्तु शिक्षा व्यवस्था के लिए लाभकारी मार्गदर्शक तत्व उपलब्ध करा सकती है।

अतः प्रस्तुत शोध इस परिकल्पना पर आधारित है कि पुराणों की शिक्षाएं, शिक्षा दर्शन एवं वर्ण्य–विषय वर्तमान परिस्थितियों में व्यवहार्य तथा उपयोगी हैं।

प्रयुक्त शब्दों का परिभाषीकरण

पुराण– पुराण शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनी यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। इसका अर्थ है– पुरातन, प्राचीन, पूर्वकाल में होने वाला। यास्क के निरुक्त के अनुसार पुराण का अर्थ है– 'पुरा नवम् भवति', अर्थात जो प्राचीन होकर भी नया होता है। वायु पुराण के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति है– 'पुरा अनति', अर्थात प्राचीन काल में जो जीवित

था। पद्म पुराण के अनुसार 'पुरा परम्परा वष्टी कामयते' अर्थात जो प्राचीनता की अथवा परम्परा की कामना करता है, पुराण कहलाता है। ब्रह्मांड पुराण कहता है– कि पुराण का अर्थ है– 'पुरा एतत् अभूत' अर्थात प्राचीन काल में ऐसा हुआ। सर्वमान्य अष्टादश पुराणों के नामों का उल्लेख भी प्रायः प्रत्येक पुराण में है। ये 18 पुराण हैं– ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, भागवत् पुराण, नारदीय पुराण, मार्कण्डेय पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण, ब्रह्म वैवर्त पुराण, लिंग पुराण, वराह पुराण, स्कन्ध पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, गरुड पुराण तथा ब्रह्मांड पुराण।

शैक्षिक निहितार्थ– प्रस्तुत शोध में शैक्षिक निहितार्थ से तात्पर्य पुराणों में शिक्षा की दृष्टि से निहित सन्देशों को उद्घाटित करना है। अर्थात पुराणों की वर्ण्य सामग्री में जीवन के उद्देश्य, शिक्षा की संकल्पना, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, छात्र, अध्यापक व अनुशासन आदि के सन्दर्भ में निहित मर्म को उद्घाटित करना है।

समालोचनात्मक अध्ययन– समालोचना से तात्पर्य है– सम्यक रूप से परिनिरीक्षण अर्थात गुण–दोषों का आग्रह–दुराग्रह से रहित होकर वस्तुनिष्ठ व सम्यक दृष्टि से अवलोकन करना। प्रस्तुत शोध प्रस्ताव में पुराणों के समालोचनात्मक अध्ययन से तात्पर्य है कि पुराणों में अभिप्रेत शिक्षाओं, मान्यताओं तथा वर्ण्य विषयों का वर्तमान भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में वस्तुनिष्ठ रूप से गुण–दोष विवेचन करते हुए उनकी प्रासंगिकता व उपादेयता का अध्ययन करना।

शोध परिसीमन

वस्तुतः पुराण–साहित्य विस्तृत साहित्य है। पुराणों की संख्या के विषय में कोई निश्चित मत नहीं है। प्रस्तुत शोध कार्य में सर्वमान्य 18 पुराणों को ही अध्ययन का आधार बनाया गया है। पुराणों की व्याख्या करने में भी अनेक विद्वानों ने पर्याप्त रूचि दिखाई है। अतएव पुराण विषयक विपुल सामग्री वर्तमान समय में उपलब्ध है। शोधकर्ता द्वारा मौलिक

ग्रन्थों के साथ-साथ हिन्दी तथा आँग्ल भाषा में अनूदित ग्रन्थों का भी अध्ययन किया गया। विभिन्न विद्वानों द्वारा चूँकि मूल भाषा में लिखित विषय वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्यायित किया जाता है। अतः मान्य सहायक ग्रन्थों की सहायता से पुराणों के वर्ण्य विषयों का गहन अवबोध, विश्लेषण तथा विवेचन भी किया गया है।

पुराणों में दर्शन, धर्म, परिवार एवं समाज के अनेकानेक पक्षों का अत्यन्त विशद् एवं विस्तृत वर्णन समाहित है। इन सभी पक्षों का पूर्णरूपेण विवेचन करना निश्चिततः एक दुरूह एवं श्रमसाध्य कार्य था। शोधकर्ता का मूल उद्देश्य चूँकि पुराणों की अन्तर्वस्तु का शैक्षिक उपादेयता की दृष्टि से मूल्याकंन करना रहा है, अतः दार्शनिक, धार्मिक एवं सामाजिक पक्षों का सारगर्भित विवेचन शिक्षा दर्शन की आधार भूमि विकसित करने की दृष्टि से ही प्रस्तुत किया गया है।

शोध विधि

प्रस्तुत शोध विषय दार्शनिक-विश्लेषणात्मक श्रेणी का है। चूँकि शोध की विषय वस्तु पुराणों तथा पुराणों से संबंधित अनेकानेक विद्वानों द्वारा सृजित साहित्य पर आधारित है, अतः अध्ययन में प्राथमिक स्त्रोत के रूप में पुराणों तथा द्वितीयक स्त्रोत के रूप में अन्य विद्वानों की पुराण विषयक कृतियों का उपयोग करते हुए अध्ययन के उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है।

विधि अनुसंधान प्रक्रिया को परिचालित करने का एक ढ़ंग है जो समस्या की प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है। ब्राऊंड्री (1963) ने विधि की परिभाषा इस प्रकार दी है-

"विधि कार्यों के अनुक्रम की नियमित संरचना को निर्देश करता है जो साधारणतया दिशा के द्वारा निर्दिष्ट होता है।" शैक्षिक अनुसंधान के क्षेत्र में विविध प्रकार की समस्याएं होती हैं, इसलिये अनेक प्रकार की शोध विधियों को प्रयुक्त किया जाता है। यथा- सर्वेक्षण विधि, प्रयोगात्मक विधि, ऐतिहासिक विधि एवं दार्शनिक विधि आदि। चूँकि वर्तमान

अध्ययन का विषय दर्शन से सम्बन्धित है, इसलिये शोधार्थी ने अध्ययन हेतु दार्शनिक विधि को चुना है।

ए0 वर्मा विधि के निर्धारण में पाठ्यवस्तु की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं। उन्होंने पाठ्यवस्तु को तीन भागों में बाँटा है और उसी के अनुसार विधियां भी बताई हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. सैद्धान्तिक पाठ्यवस्तु– सर्वेक्षण, प्रयोगात्मक विधि।

2. तथ्यात्मक पाठ्यवस्तु– ऐतिहासिक, व्यक्तिवृत्त अध्ययन एवं जननिक पद्धति।

3. व्यावहारिक पाठ्यवस्तु– क्रियात्मक अनुसंधान। जार्ज जे0 मुले ने अनुसंधान विधियों को तीन मौलिक रूपों में विभाजित किया है–

1. सर्वेक्षण 2. ऐतिहासिक 3. प्रयोगात्मक शोध–विधियां।

वैसे अनुसंधान की प्रमुख चार विधियॉं प्रचलित हैं। इनका विशद् विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है–

सर्वेक्षण विधि– इस विधि द्वारा किसी व्यक्ति, समूह, संस्था या विचार के बारे में मत या स्थिति जानने की कोशिश की जाती है। सामान्य सर्वेक्षण, 'वर्तमान में क्या रूप है'– इससे संबंधित है। दूसरे शब्दों में कहें तो सामान्य सर्वेक्षण में परिस्थितियों या सम्बन्ध, जो वास्तव में वर्तमान है, अभ्यास जो चालू है, प्रक्रिया जो चल रही है, अनुभव जो किये जा रहे हैं अथवा नवीन दिशायें जो विकसित हो रही हैं, उन्हीं से इसका सम्बन्ध है। लेकिन बहुत से सर्वेक्षण केवल स्थितियों के विवरण की सीमा से बाहर के भी होते हैं। अतः इस विधि को चार संवर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

1. विवरणात्मक 2. विश्लेषात्मक 3. विद्यालय सर्वेक्षण एवं

4. सामाजिक सर्वेक्षण। इनके द्वारा अन्य प्रकार के सर्वेक्षण किये जाते हैं।

प्रयोगात्मक शोध विधि– प्रयोगात्मक शोध विधि एक वैज्ञानिक विधि है। इसके अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता कुछ नई खोज करने का इच्छुक रहता है। अनुसंधानकर्ता एक वस्तु या कारक का दूसरे पर प्रभाव जानते हैं। 'फेस्टीजर' के शब्दों में– ''प्रयोग का मूलाधार स्वतन्त्र चर में परिवर्तन का आश्रित चर पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन है।'' वास्तव में प्रयोग किसी तथ्य के निरीक्षण और इस निरीक्षण के सामान्यीकरण से संबंधित है और उनकी आंतरिक वैधता की जॉच भी संभव है। प्रयोग इस तरह की स्थितियां निर्मित करता है कि उन दशाओं में सुधार करे जिनका निरीक्षण किया गया है ताकि किसी निश्चित नतीजे पर पहुॅचा जा सके।

ऐतिहासिक विधि– ऐतिहासिक समस्याओं के अन्वेषण में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग ऐतिहासिक अनुसंधान है। इसमें समस्या की सीमायें एवं पहचान, परिकल्पना का निर्माण, ऑकडों का संग्रह, संगठन, सत्यापन, सप्रमाणता एवं विश्लेषण, परिकल्पना की जांच एवं ऐतिहासिक विवरण का आलेख निहित होता है। ऐतिहासिक अध्ययन एक ऐसा ज्ञान है जो कुछ प्राचीन शैक्षिक अभ्यासों से संबंधित आवश्यक सूचनायें देता है तथा इन पुराने अनुभवों के मूल्यांकन के आधार पर वर्तमान में की जाने वाली क्रियाओं के लिये कार्यक्रमों का सुझाव दे सकता है।

दार्शनिक विधि– शोध विधि के क्षेत्र में दो विधियों का प्रयोग किया जाता है– परिमाणात्मक एवं गुणात्मक। परिमाणात्मक विधि का प्रयोग वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में किया जाता है। गुणात्मक शोध विधि का प्रयोग ऐतिहासिक व दार्शनिक शोध में किया जाता है। दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में अधिकतम अनुसंधान दार्शनिक विधि द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। दार्शनिक विधि का मुख्य लक्ष्य नवीन सत्यों एवं मूल्यों का प्रतिस्थापन करना है। यह उद्देश्य तार्किक चिन्तन से प्राप्त किया जाता है। इस विधि में उपलब्ध साहित्य तथा सूचनाओं का सहारा लिया जाता है एवं तार्किक चिन्तन के आधार पर वास्तविकता की खोज की जाती है। जिसमें अनुभवों एवं अनुभूतियों का विश्लेषण भी किया जाता है। इस

प्रकार के शोध कार्य में अंतिम लक्ष्यों को महत्व दिया जाता है। दार्शनिक विधि में चिन्तन प्रक्रिया पूर्ण स्वतंत्र होती है। इसमें उच्च स्तरीय प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है, जैसे– क्यों और क्या? दार्शनिक विधि में मानव मस्तिष्क तथा उसकी चित्त प्रक्रिया के आधार पर तथ्यों के सत्य का प्रतिपादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत मानवता, मानवीय जीवन और सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार को महत्व देते हैं। दार्शनिक शोध, शोध में निरन्तरता तथा स्थिरता वैज्ञानिक विधि की अपेक्षा अधिक होती है। दार्शनिक शोध में किसी विशिष्ट प्रविधि का प्रयोग नही किया जाता है। शोधकर्ता तथ्यों का विवेचन अपने दृष्टिकोण से करता है। कुछ विचारक पुस्तकालय विधि को दार्शनिक विधि की एक प्रविधि बताते हैं तथा कुछ पुस्तकालय विधि को एक स्वतंत्र विधि मानते हैं। वैसे देखा जाये तो पुस्तकालय का उपयोग सभी प्रकार के शोधों में होता है। दार्शनिक व ऐतिहासिक शोधों में पुस्तकालय का अधिक प्रयोग है, इसलिये आजकल अधिकांश विद्वान पुस्तकालय विधि को दार्शनिक के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं। दार्शनिक विधि के अन्तर्गत अध्ययन चार प्रकार से किया जाता है–

1. किसी एक दार्शनिक के विचारों का अध्ययन।
2. किन्ही दो दर्शनों अथवा दार्शनिक विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन।
3. एक विशेष दर्शन के निहितार्थो का अध्ययन।
4. किसी प्रक्रिया या व्यवस्था को किसी दर्शन या सोच के अनुसार समझना।

अध्ययन के उपर्युक्त प्रकारों में से वर्तमान अध्ययन के विषय का सम्बन्ध अंतिम दो प्रकारों से है।

दार्शनिक विधि की प्रविधियाँ– दार्शनिक विधि की कोई प्रविधि विकसित नही है। कंई प्रविधियों का प्रयोग किया जा सकता है। मुख्यतः चार प्रकार की प्रविधियां प्रचलित हैं–

1. विश्लेषणात्मक अध्ययन– विश्लेषण का शाब्दिक अर्थ है– किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा विचार को उसके संरचित घटकों में तोड़ना। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु या विचार को उसके घटकों में तोड़कर बारी–बारी से प्रत्येक घटक का अध्ययन करना।

2. तार्किक विधि– इसके अन्तर्गत अध्ययन में तर्क महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। शोधकर्ता अपने तर्कों द्वारा अपनी बात स्पष्ट करता है अथवा विभिन्न तर्कों के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करता है।

3. तार्किक विश्लेषण– तार्किक विश्लेषण में प्रधानता मूलतः तर्क की रहती है। ये तर्क शोधकर्ता के कथन के आधार होते हैं। कुद तर्क निष्कर्ष कथन के आधार भी होते हैं। इस विधि में तर्कों का विश्लेषण कर उनकी सतयता सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

4. संश्लेषणात्मक विधि– एक निर्माणकारी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों, विचारधाराओं आदि का मिश्रित रूप देने का प्रयास करना ही संश्लेषणात्मक विधि है। इस विधि में विभिन्न विचारों, विचारणाराओं का अध्ययन कर उन्हें आपस में जोड़ते हुए नवीन विचार प्रस्तुत किया जाता है।

जैसे कि स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान अध्ययन हेतु दार्शनिक विश्लेष्णात्मक विधि को चुना गया है। प्रस्तुत शोध में पुराणों के शैक्षिक निहितार्थों का अध्ययन किया गया है एवं वर्तमान समय में इनकी क्या प्रासंगिकता होगी? इसको भी समालोचनात्मक अध्ययन द्वारा जानने एवं बताने का प्रयास किया गया है।
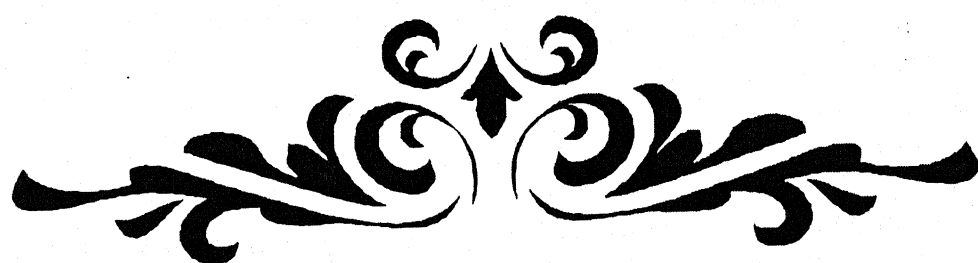
पुराणों का संक्षिप्त परिचय
एवं
सम्बन्धित साहित्य का सिंहावलोकन
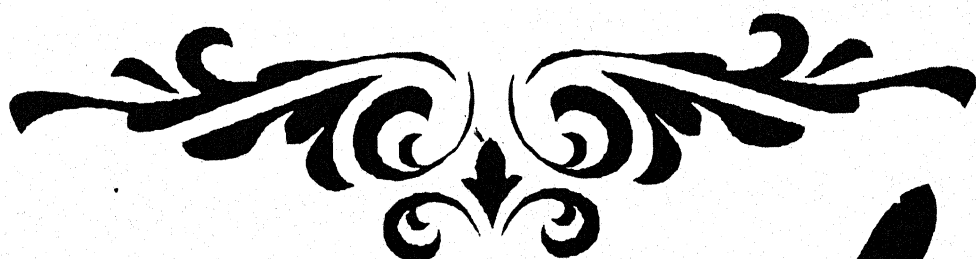
अध्याय– 2

पुराणों का संक्षिप्त परिचय एवं संबंधित साहित्य का सिंहावलोकन

2.1 पुराणों की उत्पत्ति, परिचय एवं रचनाकाल

कहा जाता है कि पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है– वह आधारपीठ है जिस पर जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन कर्ता को प्रतिष्ठित करता है। इस परिच्छेद में उसकी प्राचीनता का अध्ययन किया जायेगा। पुराण शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनी, यास्क तथा स्वयं पुराणों ने भी दी है। 'पुरा भवम्' (प्राचीन काल में होने वाला) इस अर्थ में 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (पाणिनिसूत्र 4/3/23)। पाणिनि के इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने तथा 'तुट्' के आगमन होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है।

भविष्य पुराण में उल्लिखित है कि ऋग्वेद संहिता महात्मा वशिष्ठ के साथ पूर्व मुख से निःसृत हुई थी। दक्षिण मुख से याज्ञवल्क्य के साथ यजुर्वेद निकला था। पश्चिम सामवेद की संहिता और गौतम ऋषि प्रकट हुए। उत्तर मुख से अर्थववेद और लोक के द्वारा पूजित शौनक ऋषि निकले। पांचवा जो लोक में परम प्रसिद्ध मुख है, उससे इतिहास के सहित अठारह पुराण निकले थे। इसके अनन्तर अन्य लोक पूजित अनेक स्मृतियां भी उस मुख से निकली थी। 53–56 पेज 50 भविष्य पुराण 1

मत्स्य पुराण में भी कहा गया है कि ब्रह्माजी ने समस्त शास्त्रों में पुराण को ही सबसे प्रथम कहा था। इसके अनन्तर उनके मुखों से वेदों का निर्गमन हुआ था। उस समय में कल्पान्तर में ही एक पुराण था। वह त्रिवर्ग का साधन पुण्यमय और शतकोटि विस्तार वाला था। जब सब लोग निर्दग्ध हो गये थे, तब ब्रह्माजी ने वाणी रूप से चारों

वेद– उनके उपशास्त्र, न्यायशास्त्र–पुराण, मीमांसा और धर्म–शास्त्र परिगृहीत किये थे। (मत्स्य 1, 3–6/268)

पुराण शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक स्थानों पर मिलता है। यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है प्राचीन, अर्थात् पूर्व काल में होने वाला। यास्क के निरुक्त (3/19) के अनुसार पुराण की व्युत्पत्ति है– 'पुरा नवं भवति' अर्थात जो प्राचीन होकर भी नया होता है। वायु पुराण के अनुसार यह व्युत्पत्ति है– 'पुरा अनति' अर्थात 'प्राचीनकाल में जो जीवित था।' पद्म पुराण के अनुसार यह निरुक्ति इससे किंचित भिन्न है– 'पुरा परम्परां वष्टि कामयते' अर्थात 'जो प्राचीनता की कामना करता है, वह पुराण कहलाता है।' ब्रह्माण्डपुराण की इससे भिन्न एक तृतीय व्युत्पत्ति है– 'पुरा एतत् अभूत्' अर्थात 'प्राचीन काल में ऐसा हुआ।'

इन समग्र व्युत्पत्तियों की मीमांसा करने से स्पष्ट है कि 'पुराण' का वर्ण्य विषय प्राचीन काल से सम्बद्ध था। प्राचीन काल में पुराण का सम्बन्ध 'इतिहास' से इतना घनिष्ठ है कि दोनों सम्मिलित रूप से 'इतिहास–पुराण' नाम से अनेक स्थानों पर उल्लिखित किये गये हैं। अपने प्राचीनतम रूप में 'पुराण' किसी विशिष्ट ग्रन्थ का बोधक न होकर विद्या–विशेष का ही बोधक है।

प्राचीन काल में इतिहास तथा पुराण की विभाजन रेखा बड़ी धूमिल थी और धीरे–धीरे आगे चलकर दोनों अभिधानों का वैशिष्ट्य निश्चित कर दिया गया। पुराण तथा इतिहास का क्षेत्र विभिन्न तथा स्वतन्त्र है। शंकराचार्य की सम्मति में दोनों का पार्थक्य स्पष्ट है। प्राचीन आख्यान तथा आख्यायिका का सूचक भाग 'इतिहास' है तथा सृष्टि–प्रक्रिया का वर्णन 'पुराण' है। पुराण में सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (नाना ऋषियों तथा राजाओं की वंशावली), मन्वन्तर (विशिष्ट काल–गणना) तथा वंशानुचरित (प्रसिद्ध राजाओं और ऋषियों का चरित्र) प्रायः उपलब्ध होते हैं; इतने ही नहीं, इनसे इतर भी विषय– जैसे दान, तीर्थ, व्रत तथा अवतार भी वर्णित हैं। इतिहास का क्षेत्र इससे

सर्वथा भिन्न है। इतिहास प्राचीन आख्यानों का वर्णन करता है परन्तु उसका भी क्षेत्र इतना सीमित नही है अर्थात् वह केवल तिथिक्रम और घटना का संकलन मात्र नही है, प्रत्युत नाना विषयों की शिक्षा देकर तथा लोक–व्यवहार के तत्त्वों को प्रकटित कर वह मानव के हृदय से मोह तथा अज्ञान का भी निवारण करता है।

पुराण के विषय में दो दृष्टियां प्राचीन काल में देखी जाती हैं। एक अर्थ में तो यह प्राचीन काल के वृत्तों के विषय में विद्या के रूप में प्रयुक्त होता था। दूसरे अर्थ में यह एक विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिये प्रयुक्त किया गया उपलब्ध होता है।

ऋग्वेद में 'पुराण' शब्द का प्रयोग अनेक मन्त्रों में उपलब्ध होता है, परन्तु इन स्थलों पर 'पुराण' शब्द केवल प्राचीनता का ही बोधक है। ऋग्वेद के युग में कुछ गाथायें ऐसी विद्यमान थी, जिनका उदय किसी प्राचीन काल में हुआ था।

ब्राह्मण साहित्य में पुराण

ब्राह्मण साहित्य में भी 'पुराण' का अस्तित्व प्रमाणित होता है। शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों में 'पुराण' का बहुशः उल्लेख उपलब्ध होता है, जिससे इसकी लोकप्रियता प्रमाणित होती है। गोपथ का कथन है कि कल्प, रहस्य, ब्राह्मण, उपनिषद, इतिहास, अन्वाख्यात तथा पुराण के साथ सब वेद निर्मित हुए।

शतपथ ब्राह्मण अपने विशाल क्षेत्र में इतिहास पुराण के उदय की बड़ी ही महत्वपूर्ण गाथा सुरक्षित रखे हुए है, जिसका अनुशीलन अनेक नवीन उपलब्धियों को प्राप्त करने में सर्वथा समर्थ है। इस ब्राह्मण के उद्धरण बड़े ही महत्व के हैं।

ब्राह्मण के ही आरण्यक और उपनिषद् अंतिम भाग है। श्रुति के इस अंश में भी पुराण तथा इतिहास की स्थिति पर्याप्तरूपेण सिद्ध होती है।

तैतिरीय आरण्यक ब्रह्म यज्ञ के प्रसंग में 'पुराणानि' पद का व्यवहार करता है।

छान्दोग्य नारदजी के द्वारा अधीत तथा अभ्यस्त शास्त्रों में 'इतिहास पुराण' का उल्लेख करता है तथा उसे पंचम वेद के नाम से अभिहित किया है।

कल्प सूत्रों से भी पुराण के अस्तित्व का, उनके अध्ययन का तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का पूरा संकेत हमें उपलब्ध होता है।

महाभारत के तीन संस्करण माने जाते हैं– जय, भारत तथा महाभारत। आज कल का महाभारत भी नवीन ग्रन्थ नही है। गुप्तकालीन शिलालेखों में इसके लक्षश्लोकात्मक आकार का परिचय मिलता है। फलतः यह तृतीय शती से अर्वाचीन नही हो सकता। इसका मूल तो और भी प्राचीन होना चाहिये। महाभारत में पुराण का सामान्य रूप ही उल्लिखित नही है, प्रत्युत उनकी कथाओं के रूप तथा वैशिष्ट्य से तथा अठारह पुराणों से वह परिचय रखता है। महाभारत में उल्लिखित हैं–

क– पुराण मानव धर्म (अर्थात् मनुस्मृति), सांङ्वेद, चिकित्साशास्त्र ये चारों ईश्वर की आज्ञा से सिद्ध हैं अर्थात् इनका वर्णन यथार्थ और प्रामाणिक है। तर्क का आश्रय लेकर इनका खंडन करना कदापि उचिन नही है। महाभारत के अनुशासन पर्व में उल्लिखित है–

'पुराणं मानवोधर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सिम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः।।'

यह श्लोक पुराणों के प्रति महाभारतीय दृष्टिकोण का पर्याप्त परिचायक है।

आदि पर्व के इस श्लोक से स्पष्ट है कि सत्यवती पुत्र व्यास ने प्रथमतः अठारह पुराणों का प्रणयन किया और तदुपरान्त पुराणों के उपबृहण रूप से महाभारत की रचना की।

'अष्टादश पुराणानि कृत्वा सतयवती सुतः।
पश्चाद् भारतमाख्यानम् चक्रे तदुपबृंहितम्।।

महाभारत में वायु पुराण का भी एक विशिष्ट पुराण के रूप में उल्लेख किया गया है, जिसमें प्राचीन राजाओं का वर्णन विशेष रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

वाल्मीकीय रामायण में भी पुराणवित् का स्पष्ट निर्देश आज भी उपलब्ध होता है। सुमन्त्र पुराण के वेत्ता बताये गये हैं। वे सूत थे, अतः पुराणों से परिचय रखते थे।

धार्मिक स्मृतियों तथा धर्म–सूत्रों में पुराण का उल्लेख बहुशः मिलता है। गौतम धर्म सूत्र, व्यास स्मृति, उशनस स्मृति, मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा शुक्र नीति में अनेक स्थानों पर पुराणों की चर्चा की गई है।

दार्शनिक ग्रन्थकार भी पुराण के प्रामाण्य पर आग्रह दिखलाते हैं। वात्स्यायन, शबर स्वामी, कुमारिल, शंकराचार्य तथा विश्वरूप पुराण की वेदानुगामिता को प्रमाण कोटि में मानते हैं तथा पुराणों के उद्धरणों को देकर उनसे अपना स्पष्ट परिचय घोषित करते हैं। महाभाष्यकार पतंजलि (द्वितीय शती ई0 पू0) पुराण के आख्यानों से परिचय रखते हैं तथा बाणभट्ट (सप्तम शती) ने वायु पुराण के पाठ की चर्चा कर उसके स्वरूप का जो परिचय दिया है, वह आज प्रचलित वायु पुराण से सर्वथा भिन्न नही है। अलबरूनी नामक अरबी ग्रन्थकार ने भरत विषयक ग्रन्थ में पुराण से बहुत सी सामग्री ग्रहण की है जो तत्तत् पुराणों में आज भी उपलब्ध है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास में पुराण का उदय वैदिक युग में हुआ और उसका अभ्युदय महाभागवत् गुप्तों के साम्राज्यकाल में सम्पन्न हुआ। आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा अनेक ग्रन्थों से उद्धरण देते हुए पुराणों की इस प्राचीनता को सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है।

अष्टादश पुराण परिचय

अठारह मान्य पुराणों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है–

1. ब्रह्म पुराण– यह पुराण 'आदि ब्रह्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अध्यायों की संख्या 245 है और श्लोकों की संख्या चौदह हजार के आसपास है। पुराण सम्मत समस्त विषयों का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। सृष्टि कथन के अन्तर्गत सूर्य वंश तथा सोम वंश का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है। पार्वती आख्यान बड़े विस्तार से दिया गया है। मार्कण्डेय आख्यान के अनन्तर अनेक प्राचीन तीर्थों के माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

कृष्ण के चरित्र का वर्णन भी बड़े विस्तार के साथ 32 अध्यायों में किया गया है। मरण के अनन्तर होने वाली अवस्था का वर्णन अनेक अध्यायों में है। पुराण में भूगोल का विशेष वर्णन नही है परन्तु उड़ीसा के कोणादित्य या कोणार्क नामक तीर्थ तथा सूर्य पूजा का वर्णन इस पुराण की विशेषता प्रतीत होती है।

इस पुराण में सांख्य योग की समीक्षा भी बड़े विस्तार के साथ दश अध्यायों में की गई है। कराल जनक के प्रश्न करने पर महर्षि वसिष्ठ ने सांख्य के महनीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। पौराणिक सांख्य निरीश्वर नही है तथा उसमें ज्ञान के साथ भक्ति का भी विशेष पुट मिला हुआ है। इस पुराण के कतिपय अध्याय महाभारत के शान्ति पर्व के कुछ अध्यायों से अक्षरशः मिलते हैं।

2. पद्म पुराण– परिमाण की दृष्टि से यह पुराण स्कन्द पुराण के बाद दूसरे स्थान पर है। इसके श्लोकों की संख्या पचास हजार बताई जाती है। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं– बंगाली संस्करण और देवनागरी संस्करण। बंगाली संस्करण अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों के रूप में है। देवनागरी संस्करण आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में चार भागों में प्रकाशित हुआ है। मूलतः इस पुराण में पांच खण्ड हैं– सृष्टि खंड, भूमि खंड, स्वर्ग खंड, पाताल खंड और उत्तर खंड। पद्म पुराण विष्णु भक्ति का प्रतिपादक सबसे बड़ा पुराण है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बहुत सुन्दर है।

3. विष्णु पुराण– दार्शनिक महत्व की दृष्टि से यदि भागवत् पुराण, पुराणों की श्रेणी में प्रथम स्थान रखता है तो विष्णु पुराण निश्चय ही द्वितीय स्थान का अधिकारी है। यह वैष्णव–दर्शन का मूल आलम्बन है। इसके खंडों को 'अंश' कहते हैं। इसके अंशों की संख्या 6 तथा अध्यायों की संख्या 126 है। प्रथम अंश में सृष्टि वर्णन है, द्वितीय अंश में भूगोल का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन है, तृतीय अंश में आश्रम संबंधी कर्त्तव्यों का विशेष निर्देश है, चतुर्थ अंश विशेषतः ऐतिहासिक है, जिसमें सोम वंश के अन्तर्गत ययाति का चरित्र वर्णित है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह पुराण अत्यन्त रमणीय तथा सरस है। विष्णु

की प्रधान रूप से उपासना होने पर भी इस पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता का लेश भी नही है।

4. वायु पुराण— यह पुराण अत्यन्त प्राचीन है। परिमाण में यह पुराण अन्य पुराणों से अपेक्षाकृत न्यून है। इसके अध्यायों की संख्या 112 और श्लोकों की संख्या ग्यारह हजार के लगभग है। इस पुराण में चार खंड हैं, जो 'पाद' कहलाते हैं— प्रक्रिया पाद, अनुषङ्ग पाद, उपोद्घात् पाद और उपसंहार पाद। यह पुराण भौगोलिक वर्णनों के लिये विशेष रूप से पठनीय है। खगोल का वर्णन भी इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। 99वां अध्याय प्राचीन राजाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। पशुपति की पूजा से सम्बद्ध 'पाशुपत योग' का निरूपण इस पुराण की महती विशेषता है। यह अंश प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप को जानने के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

5. श्रीमद्भागवत— यह पुराण भक्तिशास्त्र का तो सर्वस्व है। भागवत के तत्वों का प्रभाव वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है। भागवत के गूढ़ार्थ को व्यक्त करने के लिये प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्या लिखी है। श्रीमद्भागवत अद्वैततत्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। भागवत के अनुसार भक्ति ही मुक्तिप्राप्ति में प्रधान साधन है। ज्ञान और कर्म भी भक्ति के उदय होने से ही सार्थक होते है। भागवत के अनुसार भगवान अरूप होकर भी रूपवान हैं और भक्तों की रूचि के अनुसार वे भिन्न—भिन्न रूप धारण करते हैं। भगवान की शक्ति का नाम 'माया' है। भागवत में भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्लावित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है।

6. नारदपुराण— बृहन्नारदपुराण नामक एक उपपुराण भी मिलता है। अतः उससे इसे पृथक करने के लिये इसे 'नारदीय पुराण' का नाम दिया है। इस ग्रन्थ में दो भाग हैं। पूर्व भाग के अध्यायों की संख्या 125 है और उत्तर भाग में 82 है। सम्पूर्ण श्लोकों की

संख्या 25,000 है। डा0 विल्सन इस पुराण का रचनाकाल 16वीं शताब्दि का बतलाते हैं। अलबरूनी ने अपने यात्रा विवरण में इस पुराण का उल्लेख किया है, अतः यह पुराण इन दोनों ग्रन्थकारों के काल से प्राचीन है। इस ग्रन्थ के पूर्व भाग में वर्ण और आश्रम के आचार (अ0 24/25) श्राद्ध (अ0 28) प्रायश्चित आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि शास्त्रों का अलग–अलग एक–एक अध्याय में विवेचन है।

7. मार्कण्डेय पुराण– इस पुराण का नामकरण मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कथन किये जाने से हुआ है। इसके अध्यायों की संख्या 137 और श्लोकों की संख्या 9,000 है। प्राचीनकाल की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी महिषी मदालसा का पवित्र जीवन–चरित्र इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को शैशव से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे उसने राजा होने पर भी ज्ञानयोग के साथ कर्मयोग का अपूर्व सामंजस्य कर दिखाया।

8. अग्निपुराण– इस पुराण को समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोष कहा जाये तो अतिश्योक्ति न होगी। इस पुराण के 383 अध्यायों में नाना प्रकार के विषयों का सन्निवेश कम आश्चर्य का विषय नही है। मंदिर –निर्माण की कला के साथ प्रतिष्ठा तथा पूजन के विधान का संक्षिप्त विवेचन सुचारू रूप से किया गया है। ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्रत, राजनीति, आयुर्वेद आदि शास्त्रों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ मिलता है। छन्द शास्त्र का निरूपण आठ अध्यायों में किया गया मिलता है। अलंकार शास्त्र का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से किया गया है। व्याकरण की भी छानबीन कितने ही अध्यायों में की गई है। कोश के विषय में भी कई अध्याय लिखे गए हैं जिनके अनुशीलन से पाठकों के शब्द–ज्ञान की विशेष वृद्धि हो सकती है। योग शास्त्र के यम–नियम आदि आठों अंगों का वर्णन संक्षेप में बड़ा ही सुन्दर किया गया है। अन्त में अद्वैत वेदान्त के

सिद्धान्तों का सार–संकलन है। एक अध्याय में गीता का भी सारांश एकत्रित किया गया है।

9. भविष्य पुराण– इसके नामकरण का कारण यह है कि इसमें भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन किया गया है। पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र को इस पुराण की विभिन्न चार हस्तलिखित प्रतियां मिली थी जो आपस मे विषय की दृष्टि से नितान्त भिन्न थी। उनका कहना है कि आजकल जो भविष्यपुराण उपलब्ध होता है उसमें इन उपर्युक्त चारों प्रतियों का मिश्रण है। यही इस पुराण की गड़बड़ी का कारण है। नारद पुराण के अनुसार इसके पांच पर्व हैं– 1– ब्राह्म पर्व 2– विष्णु पर्व 3– शिव पर्व 4 सूर्य पर्व 5 प्रतिसर्ग पर्व। इन श्लोकों की संख्या 14,000 है। इस पुराण में सूर्य पूजा का विशेष रूप से वर्णन है।

10. ब्रह्मवैवर्त पुराण– इस पुराण के श्लोकों की संख्या 18,000 के लगभग है। इस प्रकार यह पुराण भागवत की अपेक्षा परिमाण से छोटा नही है। इस पुराण में चार खंड़ हैं– 1– ब्रह्म खंड़ 2 प्रकृति खंड़, 3– गणेश खंड़ 4 कृष्ण जन्म खंड़।

11. लिंगपुराण– यह पुराण अपेक्षाकृत छोटा है, क्योंकि इसमें अध्यायों की संख्या 133 और श्लोकों की संख्या 11,000 है। इसमें दो भाग हैं– पूर्व भाग और उत्तर भाग।

12. वराह पुराण– इस पुराण में 218 अध्याय हैं। श्लोकों की संख्या 24,000 है, परन्तु कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी से इस ग्रन्थ का जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, उसमें 10,700 श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा भाग अब तक नही मिला है।

13. स्कन्द पुराण– इसकी श्लोक संख्या 81,000 है, जो लक्षश्लोकात्मक महाभारत से केवल एक पंचमांश ही कम हैं। इस पुराण के अन्तर्गत अनेक संहिताएं, खंड़ और माहात्म्य हैं।

14. वामन पुराण– इस पुराण का संबन्ध भगवान के वामनावतार से है। यह एक छोटा पुराण है। इसमें केवल 95 अध्याय हैं और 10,000 श्लोक हैं।

15. कूर्म पुराण– इस पुराण से पता चलता है कि इसमें चार संहिताएं थी। 1– ब्राह्मी संहिता 2– भागवती 3– सौरी 4 वैष्णवी। परन्तु आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही उपलब्ध होती है और उसी का नाम कूर्म पुराण है। इस उपलब्ध पुराण में 6,000 ही श्लोक हैं।

16. मत्स्य पुराण– इसमें अध्यायों की संख्या 291 हैं तथा श्लोकों की संख्या 15,000 के लगभग है।

17. गरुड़ पुराण– इस पुराण में विष्णु ने गरुड़ को विश्व की सृष्टि बतलायी थी, इसलिये इसका नाम गरुड़ पुराण पड़ गया। इसमें 18,000 श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या 264 है। इसमें दो खंड़ हैं। पूर्व खंड़ में उपयोगिनी नाना विद्याओं के विस्तृत वर्णन है। इसके एक अंश में नाना प्रकार के रत्नों की परीक्षा है। राजनीति का भी वर्णन बड़े विस्तार के साथ यहां अ0 108 से 115 तक उपलब्ध होता है। आयुर्वेद के आवश्यक निदान तथा चिकित्सा का कथन अनेक अध्यायों (अ0 150–181) में किया गया है। नाना प्रकार के रोगों को दूर करने के लिये औषध व्यवस्था भी यहाँ (अ0 170–196 तक) की गई है। इसके अतिरिक्त एक अध्याय (197) में पशु चिकित्सा का भी वर्णन इसमें पाया गया है जो समधिक महत्वपूर्ण है। एक दूसरा अध्याय (अ0 199) बुद्धि को निर्मल बनाने के लिये औषध की व्यवस्था करता है। छन्द शास्त्र के विषय में 6 अध्याय (अ0 211 से 216 तक) यहाँ मिलते हैं। सांख्य योग का भी इसमें (अ0 230 और अ0 243) वर्णन है। एक अध्याय (अ0 242) में गीता का सारांश भी वर्णित है। इस पुराण का उत्तर खंड़ 'प्रेत कल्प' कहा जाता है जिसमें 45 अध्याय हैं। मरने के बाद मनुष्य की क्या गति होती है, वह किस योनि में उत्पन्न होता है और कौन–कौन सा भोग भोगता है? इस पुराण मे इस विषय का अत्यन्त

विस्तृत तथा सांगोपांग वर्णन मिलता है। श्राद्ध के समय इस पुराण का पाठ किया जाता है।

18. ब्रह्मांड पुराण— इस पुराण में समस्त ब्रह्मांड का वर्णन होने के कारण इस पुराण का नाम 'ब्रह्मांड पुराण' पड़ा है। इस पुराण के प्रथम खंड़ में विश्व के भूगोल का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत, नदियों का वर्णन अनेक अध्यायों में (अ0 66—72 तक) भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्रद्वीप, किंपुरुषवर्ष, कैलाश, शाल्मलि द्वीप, कुश द्वीप, क्रोंच द्वीप, शाक द्वीप, पुष्कर द्वीप आदि समग्र वर्षों तथा द्वीपों का भिन्न—भिन्न अध्यायों में बड़ा ही रोचक तथा पूर्ण वर्णन है। इसी प्रकार ग्रहों, नक्षत्रों तथा युगों का भी विशेष विवरण इसमें दिया गया है। इस पुराण के तृतीय पर्व में भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का वर्णन इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है।

2.2 पुराणों का वर्ण्य विषय

पुराणों से पुराणों की उत्पत्ति, ब्रह्मांड की सृष्टि, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, व्याकरण, साहित्य एवं चिकित्सा विज्ञान आदि अनेक विषयों की जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ कुछ प्रमुख वर्ण्य—विषयों का संक्षेप में विवरण दिया जा रहा है।

2.2.1 पौराणिक सृष्टि तत्व—

पुराण में सृष्टितत्व का वर्णन अत्यन्त विशद रूप में किया गया है। सर्ग (सृष्टि) पुराणों के पंच लक्षणों में आद्य तथा मुख्य लक्षण है। ये पंच लक्षण हैं— सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। पौराणिक सृष्टि विद्या का अपना वैशिष्ट्य है, स्वातन्त्रय है तथा सांख्य मत से प्रभावित होने पर भी उसकी अपनी निजता है। पुराण के अनुसार यह विश्व अनादि तथा अनन्त है। इस समय में वह जैसा है, वह पहले भी वैसा ही था और आगे भी इसी रूप में रहेगा।

'यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।' — (भागवत 3/10—13)

सृष्टि के विषय में प्रवाहनित्यता का सिद्धान्त कार्यशील माना गया है। नदी का जल निरन्तर प्रवहनशील होता है, निरन्तर परिवर्तनशील होता है तथा एक क्षण के लिये भी उसमें विराम नही होता। जल प्रतिक्षण बदलता तो रहता है, परन्तु वह प्रवाह, वह धारा, जिसका वह अविभाज्य अंग है, कभी भी उच्छिन्न नही होती है। वह नित्य होती है। सृष्टि के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त माना जा सकता है। पुराणों मे सृष्टि के नव प्रकार बताये गये हैं। इन नव सर्गों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया गया है– पहला प्राकृत सर्ग, दूसरा वैकृत सर्ग और तीसरा प्राकृत वैकृत सर्ग। प्राकृत सर्ग के विषय में पुराणों का कथन है कि यह अबुद्धिपूर्वक होता है, अर्थात उसकी सृष्टि नैसर्गिक रूप में होती है और उसके निमित्त ब्रह्मा को अपनी बुद्धि या विचार को कार्य–रूप में लाने की आवश्यकता नही होती। इसके विपरीत वैकृत सर्ग बुद्धिपूर्वक होता है। अर्थात ब्रह्मा ने पूर्ण सोच–विचार कर इस सर्ग का निर्माण किया। प्राकृत सर्ग की संख्या तीन है, वैकृत सर्ग की पांच तथा प्राकृत–वैकृत सर्ग की एक। इस प्रकार सर्गों की कुल संख्या नव है। अधिकतर पुराणों में यही संख्या मान्य है परन्तु श्रीमद्भागवत् ने इसमें एक सर्ग जोड़कर इसे दश संख्या बताया। संक्षेप में ये सर्ग निम्न प्रकार हैं–

1– ब्रह्म सर्ग– ब्रह्म सर्ग में ब्रह्मन् शब्द गीता के अनुसार महत् ब्रह्म अर्थात बुद्धि तत्व का बोधक है। सांख्य दर्शन के अनुसार बुद्धि या महत् तत्व ही प्रकृति–पुरुष के संयोग का प्रथम परिणाम है। वही मत यहां भी स्वीकृत है।

2– भूत सर्ग– पंच तन्मात्राओं की सृष्टि का यह अभिधान है। तन्मात्रायें पृथिव्यादि पंच भूतों की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था के द्योतक तत्व हैं। ये 'अविशेष' नाम से भी सांख्य में प्रख्यात हैं।

3– वैकारिक सर्ग– इंद्रिय सम्बन्धी सृष्टि का यह नाम है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रिया तथा उभय रूपात्मक संकल्प–विकल्पात्मक मन को मिलाने से इंद्रियों की संख्या एकादश होती है।

4– मुख्य सर्ग– विष्णुपुराण के कथनानुसार सर्ग के आदि में सबसे पूर्व पंच पर्वा अविद्या के रूप में अबुद्धिपूर्वक तमोगुणी सृष्टि का आविर्भाव हुआ। तम (अज्ञान), मोह, महामोह (भोगेच्छा), तामिश्र (क्रोध) तथा अन्धतामिश्र (अभिनिवेश)– ये अविद्या के पंच पर्व या पांच प्रकार हैं। पुनः जो सृष्टि हुई, वह ज्ञान शन्य, भीतर–बाहर से तमोमय तथा जड़ नगादि (वृक्ष, गुल्म, लता, तृण, वीरूध्) रूप पांच प्रकार के जड़ पदार्थों की थी। यह जड़ सृष्टि मुख्य सर्ग के नाम से इसलिये अभिहित की गई है कि भूतल पर चिर स्थायिता की दृष्टि से पर्वतादिकों की मुख्यता है।

5– तिर्यक सर्ग– तिर्यक नाम का स्वारस्य यही है कि इस योनि के प्राणी वायु के समान तिरछी गति से चलते हैं। इस सर्ग में पक्षी तथा पशु आते हैं। ये सब प्रायः तमोमय (अज्ञानी), विवेक से रहित, अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले और विपरीत ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान मानने वाले होते हैं।

6– देव सर्ग– यह सात्विक वर्ग है। इस सृष्टि के प्राणी विषय–सुख की प्रीति से सम्पन्न होती है, बाह्य तथा आन्तर दृष्टि व प्रकाश से युक्त होते हैं।

7– मानुष सर्ग– इस सर्ग में पृथ्वी पर ही भ्रमण करने वाले जीव आते हैं। इनमें सत्व, रज तथा तम– इन तीनों गुणों का आधिक्य रहता है। इस वैशिष्ट्य के कारण वे दुःखबहुल होते हैं। (तमोद्रेकात्), वे अत्यन्त क्रियाशील हैं, सदा कार्य में संलग्न रहते हैं (रजोद्रेकात्) तथा बाह्य–आभ्यन्तर ज्ञान से सम्पन्न होते हैं (सत्वोद्रेकात्)। इस सर्ग के प्राणी 'मनुष्य' कहलाते हैं (विष्णु, 1/5/15–18)।

8– अनुग्रह सर्ग– इस सर्ग की चर्चा विष्णुपुराण, मार्कण्डेय तथा वायुपुराण में की गई है। मार्कण्डेय में इसे चार प्रकार का बताया गया है– विपर्यय, सिद्धि, शांति तथा पुष्टि। स्थावरों में रहता है विपर्यास, तिर्यक योनि में शक्ति, मनुष्यों में सिद्धि तथा देवों में पुष्टि।

9– कौमार सर्ग– यह अंतिम सर्ग प्राकृत–वैकृत उभयात्मक माना गया है। इस शब्द से सनत्कुमार के उदय का संकेत है।

प्राणि सृष्टि में नाना प्रकार के प्राणियों का निर्माण किस प्रकार हुआ, यह भी पुराणों मे बतलाया गया है। ब्रह्माजी की जंघा से तमोगुण प्रधान असुर, मुख से सत्व प्रधान सुरों, पार्श्व से पितरों और तत्पश्चात रजःप्रधान मनुष्यों की सृष्टि हुई। असुर का संबंध रात्रि से, सुर का दिन से, पितरों का संध्याकाल से तथा मनुष्य का प्रातःकाल से बताया गया है। जीवों का यह वैशिष्ट्य है कि प्राक् कल्प में उनका जैसा स्वभाव था, जैसी प्रवृत्ति थी, इस सृष्टि में भी वही उन्हें प्राप्त होता है– वैसा ही स्वभाव तथा वैसी ही प्रवृत्ति। उस समय हिंसा–अहिंसा, मृदुता–कठोरता, धर्म–अधर्म, सत्य–अनृत– ये सब अपनी पूर्व भावना के अनुसार ही उन्हें प्राप्त होते हैं, तथा उन जीवों को वे अच्छे भी लगने लगते हैं

'तेषां से यानि कर्माणि प्राक्सृष्टयां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।।
हिंस्राहिंस्रे मृदु – क्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत्तस्य रोचते।।'

इस प्रकार पुराण की दृष्टि में कर्मानुसार सृष्टि है। पूर्व कर्म के कारण ही इस जन्म में प्राणियों की विभिन्न प्रकृति तथा विभिन्न प्रवृत्ति है। पुराणों का यह तथ्य तथा भारतीय दर्शन की सुचिन्तित परम्परा के अन्तर्भुक्त ही है।

प्रतिसर्ग का वर्णन प्रायः समस्त सर्गों में किया गया है। प्रतिसर्ग के विषय में बहुत से विशिष्ट शब्द पुराणों के द्वारा व्यवहृत हैं। प्रलय चार प्रकार का होता है– नैमित्तिक, प्राकृत, आत्यन्तिक तथा नित्य प्रलय।

2.2.2 पौराणिक विज्ञान एवं विभिन्न विद्याएं

जनोपयोगी अनेक विद्याओं का वर्णन पुराणों में, विशेषतः विश्वकोशीय अग्नि0, गरुड़0 तथा नारदीय0 में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन विद्याओं का विवरण इनके प्रतिपादक मौलिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। वर्णन है तो संक्षिप्त ही, किन्तु पर्याप्त प्रामाणिक है। कुछ विद्याएं तो इतनी विलक्षण हैं कि उनके मूल ग्रन्थ आज बड़े परिश्रम से खोजे जा सकते हैं। इस विषय की स्थूल सामग्री संक्षेप में यहां दी जा रही है–

2. पशु चिकित्सा– यह प्राचीन विद्या है। सभापर्व के 5/109 में अश्वसूत्र तथा हस्तिसूत्र का उल्लेख है। अश्वों की चिकित्सा के निमित्त एक स्वतंत्र आयुर्वेद विभाग था, जो 'शालिहोत्र' के नाम से विख्यात था। पुराणों में अश्व के सामान्य परिचय, उनके चलाने के प्रकार, उनके रोग और उपचार आदि विषयों की सम्यक जानकारी प्राप्त हो सकती है। अग्निपुराण (अ0 288) में घोड़ों के चलाने के प्रकारों का बड़ा ही उपयोगी वर्णन है। इस पुराण के 289–290 अ0 में अश्वों की चिकित्सा संक्षेप में वर्णित है। गरुड़पुराण के एक (201 अ0) में भी यह विषय विवृत हुआ है। इसी के प्रसंग में हस्तिशास्त्र का भी विवरण बड़ा उपयोगी है। सोमपुत्र बुध गजवैद्यक के प्रवर्तक थे। ऐसी पौराणिक अनुश्रुति मत्स्य पुराण (24/23) में निर्दिष्ट है। गजायुर्वेद का वर्णन धन्वन्तरि ने किया था। इसका संक्षिप्त विवेचन गरुड़पुराण (201 अ0, 33–39 श्लोकों) में दिया गया। अग्निपुराण के 287 अ0 में यह विषय वर्णित है तथा 291 अ0 में गज शान्ति का विवरण है। मत्स्य पुराण में संकेतित सोमपुत्र बुध का निर्देश पालकाप्य ने अपने हस्तिविद्या विषयक ग्रन्थ में किया है। मत्स्य का कथन इस प्रकार है–

'तारोदर–विनिष्क्रान्तः कुमारश्चन्द्रसन्निभिः।
सवार्थविद् धीमान हस्तिशास्त्र प्रवर्तकः ।।
नाम्ना यत् राजपुत्रीयं विश्रुतं गजवैद्यकम्।
राज्ञः सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुधः स्मृतः।।' – मत्स्य0 24/2–3

2. गज–चिकित्सा– इसके अन्तर्गत हाथियों के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। मत्स्य0, 1–33/112–116.

3. अश्व वाहन सार– इसमें अश्वों की चिकित्सा और अश्व वाहन का सार है। मत्स्य0, 1–66/117–126.

4. अश्व चिकित्सा– इसके अन्तर्गत अश्वों के लक्षण और चिकित्सा का वर्णन है। मत्स्य0, 1–56/127–135.

5. अश्व–शान्ति– इसमें अश्वों के रोगों का विमर्दन करने वाली अश्व शान्ति का वर्णन है। मत्स्य0, 1–8/135–137.

6. गज–शान्ति– इसमें गज–शान्ति के विषय में बताया है, जोकि गजों के रोगों का विमर्दन करने वाली होती है। मत्स्य0, 1–24/137–140.

7. गवायुर्वेद– इसके अन्तर्गत गौ शान्ति के विषय में बताया है। मत्स्य0, 1–44/140–147.

अग्निपुराण (282 अध्याय) गायों की चिकित्सा का अलग से वर्णन करता है। इस प्रकार पशु चिकित्सा के त्रिविध प्रकारों का वर्णन पुराणों ने प्रस्तुत किया है।

1. आयुर्वेद–

आयुर्वेद लोकोपयोगी जनजीवन से नित्यप्रति सम्बद्ध शास्त्र है। फलतः लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। अग्नि तथा गरुड़– दोनों पुराणों से यह विषय विशद् रूप से चर्चित है। आयुर्वेद के अनेक विभागों में निदान तथा चिकित्सा मुख्य है। इसके निमित्त औषधियों के स्वरूप का तथा गुण का परिचय होना आवश्यक है। इन पुराणों में ये विषय विस्तार से विवृत हुए हैं। धन्वन्तरि यहाँ वक्ता है जो सुश्रुत को उपदेश देते हैं। यह धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास का ही नामान्तरण

बतलाया जाता है। सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बतलाये गये हैं। गरुड़पुराण 56 अध्यायों में (146 अ0—202अ0) इस विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करता है। प्रधान रोगों के, जैसे ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास आदि के निदान का वर्णन (416 अ0—167 अ0) में किया गया है। औषधियों के नामों की विस्तृत सूची 202 अ0 में दी गई है तथा 173 अ0—193 अ0 में द्रव्य गुण का वर्णन है। गारूडी विद्या अर्थात सर्पदंश को दूर करने की विद्या भी 197 अ0 में विवृत है। अ0 279—281 तक रोगों का, 283 अ0 नाना रोगों को हरण करने वाली औषधियों का, 285 अ0 में 'मृत—संजीवनी' नामक सिद्ध योगों का तथा 286 अ0 में नाना कल्पयोगों का विवरण देकर पुराणकार ने चिकित्साशास्त्र का एक हस्तामलक ही प्रस्तुत कर दिया है।

सिद्धौषधानि— सिद्ध औषध, अग्नि 2, 1—63/60—69

सर्वरोगहरान्यौषधानि— समस्त रोगों के हरण करने वाली औषधि। अग्नि 2, 1—48/70—78.

रसादिलक्षणम्— इसमें औषधियों के रसादि लक्षणों का वर्णन है। अग्नि 2, 1—33/78—82.

वृक्षायुर्वेद— इसमें वृक्षों की स्थिति का वर्णन है। अग्नि 2, 1—14/83—85.

नानारोगहरान्यौषधानि— इसके अन्तर्गत अनेक रोगों के हरण करने वाली औषधियों का वर्णन किया है। अग्नि 2, 1—51/85—93.

नागलक्षणानि— इसके अन्तर्गत सर्पों के लक्षणों का वर्णन है। अग्नि 2, 1—40/155—161.

मुद्राणां लक्षणानि— इसके अन्तर्गत सान्निध्य आदि के प्रकार वाली मुद्राओं के लक्षण हैं। अग्नि 2, 1—7/168—169.

दष्ट चिकित्सा– इसके अन्तर्गत दष्ट चिकित्सा का वर्णन है। ध्यान और औषधों के द्वारा दष्ट की चिकित्सा का वर्णन है। अग्नि 2, 1–36/258–263.

विषहन्मन्त्रौषधम्– इसमें विष के हरण करने वाले मन्त्र और औषधों का वर्णन है। अग्नि 2, 1–12/267–269.

गोनसादिचिकित्सा– इसमें गोनसादि की चिकित्सा का वर्णन है। अग्नि 2, 1–24/269–272.

नानामन्त्रौषधकथनम्– इसमें अनेक मन्त्र और औषधों का वर्णन है। विदारी, कंद व जटामाँसी का चूर्ण कर और शर्करा से युक्त मंथन करके जो क्षीर के साथ पीता है, वह नित्य ही सौ स्त्रियों के गमन की शक्ति प्राप्त किया करता है। अग्नि 2, 1–31/293–298.

शरीरावयवा– इसमें शरीर के अवयवों का वर्णन है। अग्नि 2, 1–43/399–405.

नरकनिरूपणम्– इसके अन्तर्गत नरकों का निरूपण किया जाता है। अग्नि 2, 1–40/405–412.

मृत्युजंयकल्पा– इसके अन्तर्गत मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले तथा आयु के देने वाले और रोगों का मर्दन करने वाले कल्पों को बताया गया है। माण्डूकी का चूर्ण दूध के साथ सेवन करने से झुर्रियां और फलित बुढ़ापे में होने वाली केशों की सफेदी को जीत लेता है। अग्नि 2, 1–24/108–111.

यह तो निश्चित है कि इन पुराणों ने उपयोगी विद्याओं के सार–संकलन की अपनी प्रक्रिया के अनुसार विषय विवेचन किया है, जो प्रामाणिक होने के साथ–साथ नितान्त व्यवहारोपयोगी भी है।

वृक्षायुर्वेद भी भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये तो सर्वोपरि उपादेय शास्त्र है। इसमें लताओं तथा गुल्मों में लग जाने वाले रोगों की दवाओं का वर्णन है। अग्निपुराण के

एक विशिष्ट अध्याय में (अ0 282) ही इस विषय का प्रामाणिक किन्तु संक्षिप्त विवरण उल्लिखित है।

2. रत्नपरीक्षा–

रत्नों की परीक्षा का विषय भी पुराणों में वर्णित है। गरुड़पुराण में यह विषय बारह अध्यायों में काफी विस्तार के साथ (अ0 68–80) प्रस्तुत है। प्रथमतः रत्नों का विभाजन किया गया है और तदनन्तर उनके गुण–दोषों का विवरण है, जिससे दुष्ट रत्नों का त्याग कर निर्दुष्ट रत्न ग्रहण किया जाये। वज्र (68 अ0), मुक्ताफल (69 अ0), पद्मराग (70 अ0), मरकत (71 अ0), इन्द्रनील (72 अ0), वैदूर्य (73 तथा 76 अ0), पुष्पराग (70 अ0), कर्केतन (75 अ0), पुलक (77 अ0), रुधिर रत्न (78 अ0), स्फटिक (79 अ0) तथा विद्रुम (80 अ0)– इन रत्नों की परीक्षा तत्तत् अध्यायों में की गई है। अग्निपुराण के 264 अ0 में यही विषय वर्णित है परन्तु बहुत की संक्षेप में 15 श्लोकों में केवल सामान्य निर्देश ही किया गया है। गरुड़पुराण का विवरण इसकी अपेक्ष विस्तृत, विशद् तथा अधिक उपादेय है। अन्य पुराणों में भी जहाँ यह विषय आया है, उसका उल्लेख भोजराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'युक्तिकल्पतरू' में विशेष भाव से किया है।

3. वास्तुविद्या

मंदिर तथा राजप्रासाद की निर्माणविधि को वास्तुशास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। मत्स्यपुराण में इस विषय का बड़ा ही विस्तृत वर्णन अठारह अध्यायों में किया है। (252 अ0–270 अ0)। अग्निपुराण ने भी यह विषय अनेक अध्यायों में विकीर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। (40 अ0, 93–94 अ0, 105–106 अ0, 247 अ0)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी इन विषयों का विवेचन है (2/29–31)। संक्षिप्त विवेचन गरुड़ में भी उपलब्ध होता है (1/46)। मत्स्य का विवरण इन सबसे अधिक विस्तृत होने के कारण विशेष महत्त्व रखता है। यहाँ चार विषयों का विवेचन पुराणकार करता है– 1– वास्तुविद्या के मूल सिद्धान्त; 2– स्थान का चुनाव तथा उस पर निर्माण की रूपरेखा; 3– देवों की

मूर्तियों का निर्माण तथा 4– मंदिर तथा राजप्रासादों की रचना। मत्स्य के 252 अ0 में इस शास्त्र के अठारह आचार्यों के नाम दिये गये हैं (भृगु, अत्रि, विश्वकर्मा, मय, नारद आदि)। इन आचार्यों ने इस शास्त्र के विषय में ग्रन्थों का प्रणयन किया था। मत्स्य के इन परिच्छेदों की विस्तृत तथा चित्रसमन्वित व्याख्या के लिये द्रष्टव्य डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल रचित मत्स्यपुराण– ए स्टडी– नामक अंग्रेजी ग्रन्थ (पृष्ठ– 342–370)। इन पृष्ठों में यह विषय बड़ी सुन्दरता तथा विशदता के साथ विवेचित किया गया है।

गृह निर्माण का काल (253 अ0), भवन–निर्माण (254 अ0), स्तम्भ का मान–निर्णय (255 अ0) आदि विषयों का विवरण देने के अनन्तर इस पुराण ने देव प्रतिष्ठा की विधि तथा प्रासाद निर्माण की विधि का विवेचन सविस्तार किया है। इसी प्रसंग में प्रतिमा–लक्षण की भी चर्चा पुराणों में है। अग्निपुराण ने 49–55 अ0 में पूज्य देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण तथा निर्माण का विवरण दिया है। मत्स्य ने यह विषय 258–264 अध्याय में, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने तृतीय खंड़ में तथा इनके अतिरिक्त यह विषय मौलिक रूप में मानसार, चतुर्वर्ग चिन्तामणि, सूत्रधारमण्डन, रूपमण्डन तथा वृहत्संहिता (58 अ0) में विस्तार से दिया गया है।

4. ज्योतिष

ज्योतिष का भी विवरण पुराणों में यत्र–तत्र उपलब्ध है, खगोल तो भूगोल के साथ संवलित होकर अनेक पुराणों में अपना स्थान रखता है। श्रीमदभागवत के पंचम स्कन्ध में (16 अ0–25 अ0) और इसी के अनुकरण पर देवी भागवत के स्कन्ध आठ (5 अ0– 20 अ0) में। गरुड़पुराण में पांच अध्याय (59 अ0–64 अ0) इसी विषय के वर्तमान हैं, जिनमें फलित ज्योतिष का ही मुख्यतया विवरण हैं। नक्षत्र देवता कथन, योगिनी स्थिति का निर्णय, सिद्धि योग, अमृत योग, दशा विवरण, दशा–फल, यात्रा में शुभाशुभ का कथन, राशियों का परिमाण, विभिन्न लग्नों में विवाह के फल आदि विषयों का विवरण इन अध्यायों में दिया गया है। नारदीय पुराण के नक्षत्र कल्प में भी (1/55–53) नक्षत्र

सम्बन्धी बातें दी गई हैं। इस पुराण के 54 अध्याय में गणित का विवरण है। अग्निपुराण के कतिपय अध्यायों में (121 अ0) शुभाशुभ विवेक के विषय में वर्णन उपलब्ध है।

5. सामुद्रिक शास्त्र

स्त्री–पुरुषों के शारीरिक लक्षणों के विषय में किसी 'समुद्र' नामक प्राचीन आचार्य का ग्रन्थ था। स्त्री–पुरुषो के शरीरों के विभिन्न अंगों के स्वरूप को देखकर, उच्चता–ह्रस्वता–दीर्घता–लघुता आदि की परीक्षा कर उनके जीवन की दिशा को बतलाना इस विद्या का अंग है। यह अंग विद्या (प्राकृत– अंग बिज्जा) का विषय है। अंग विद्या सामुद्रिक विद्या के साथ सम्बद्ध एक प्राचीन विद्या थी, जिसके द्वारा नर–नारी के शरीर का विवरण शुभ या अशुभ सूचना के साथ उपस्थित किया जाता है। पुराणों ने अंग विद्या का भी संकलन अपने अध्यायों में किया है। अग्निपुराण के 243–245 अध्यायों में तथा गरुड़ पुराण के 1/63–65 अध्यायों में यही विद्या प्रपंचित है।

6. धनुर्विद्या

प्राचीन काल में यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी, परन्तु देश के परतंत्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र–तत्र उपलब्ध होते हैं। प्रंपच हृदय में इस शास्त्र के वक्ता रूप में ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, मनु तथा जमदग्नि के नाम निर्दिष्ट हैं। महाभारत के अन्य पर्वों में इस विद्या के आचार्यों के नाम संस्मृत हैं, अगस्त्य का नाम आदि पर्व में (152/10, कुम्भकोण संख्या) तथा भारद्वाज का नाम शान्ति पर्व में (210/21) धनुर्विद्या के आचार्य रूप में उल्लिखित है। जमदग्नि का उल्लेख डल्हण करते हैं। अग्निपुराण के चार अध्यायों में (249–252 अ0) इस विद्या का सार संकलित किया गया है। मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थान भेद' में विश्वामित्र कृत धनुर्वेद का उल्लेख किया है, परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

पुराणों में वर्णित विचित्र विद्याएं

पुराणों में ऐसी विद्याएं आख्यानकों के प्रसंग में वर्णित हैं, जिन पर आधुनिक मानव प्रायः विश्वास नही करता। तत्कालीन समाज में उनका उपयोग जन–साधारण के बीच किया जाता था। संस्कृत में 'मन्त्र', शास्त्र, माया और विज्ञान तथा पालि में मन्त्र और विज्जा विद्या के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इन विद्याओं में से कुछ का संकेत यहाँ दिया जाता है–

1. **अनुलेपन विद्या**– मार्कण्डेय (अ० 61, 8–20 श्लोक) में ऐसे विशिष्ट पादलेप का संकेत है, जिसे पैर में लगाने से आधे दिन में ही सहस्र योजन यात्रा करने की शक्ति आती थी। इसके उपयोक्ता एक ब्राह्मण की चर्चा है, जिसने एक अन्य ब्राह्मण को यह लेप दिया था। इसके प्रभाव से वह हिमालय पहुँच गया, परन्तु सूरज की धूप के कारण तप्त बरफ पर पैर रखने से वह लेप धुल गया, जिससे यात्रा की वह अलौकिक शक्ति नष्ट हो गई।

2. **स्वेच्छारूपधारिणी विद्या**– मार्कण्डेय (द्वितीय अ०) में इसका सुन्दर दृष्टान्त है। जब कन्धर ने अपने भ्राता कंक के वध का बदला चुकाने के लिये विद्युद्रूप राक्षस का वध किया, तब उसकी पत्नी मदनिका ने कन्धर के निकट आत्मसमर्पण किया। मदनिका को यह विद्या आती थी, जिससे स्वेच्छया अभीष्ट रूप धारण किया जाता था। वह कन्धर के घर में आकर यक्षिणी बन गई (द्वितीय अ०)। इस विद्या के प्रभाव से महिषासुर ने स्वेच्छा से सिंह, योद्धा, मतंग तथा महिष का रूप धारण किया था (मार्क० 83/20; स्कन्द, ब्रह्मखण्ड 7/15–27)। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में राजा धर्ममूर्ति की प्रशंसा में कहा गया है कि वह 'स्वेच्छारूपधारी' था। (21/3)

3. **अस्त्रग्राम हृदय विद्या**– इसके द्वारा अस्त्रों का रहस्य जाना जाता था, जिससे शत्रुओं की पराजय अनायास होती थी। मनोरमा नामक विद्याधरी के इस विद्या के ज्ञान की

कथा मार्कण्डेय (63 अ0) में दी गई है, जिसने अपने आक्रमणकारी राक्षस से मुक्ति पाने के निमित्त राजा 'स्वारोचिष' को यह विद्या दी थी। वहाँ इस विद्या के उपदेशक्रम का भी वर्णन है। रुद्र स्वायम्भुव–मनु–वशिष्ठ–चित्रायुध (इसी विद्याधरी का मातामह)– इन्द्रवराक्ष (इस विद्याधरी का पिता)– मनोरमा (मार्क0, 63/24–27)। मनोरमा ने इसे पात्रान्तरित करते समय जलस्पर्श कर आगम और निगम के साथ इसे राजा स्वारोचिष को दिया।

4. सर्वभूतरूत विद्या– इस विद्या के प्रभाव से मनुष्य सभी प्रकार के अमानवीय जीव–जन्तुओं की ध्वनियों का अर्थ समझ लेता है। विद्याधर मन्दार की कन्या विभावरी ने यह विद्या राजा स्वारोचिष को दहेज में दी थी (मार्क0 64/3)। मत्स्य पुराण (20/25) राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या का ज्ञाता बताता है, जिसने नर–मादा चींटियों के परस्पर मनोरंजक प्रेमालाप को समझ लिया था। इसी राजा के विषय में इस घटना का उल्लेख पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड 10/85) भी करता है। आजकल बन्दरों की बोली समझने तथा उसका रेकार्ड कर उपयोग करने वाले जर्मनी के वैज्ञानिकों की बातें सुनी जाती हैं। सम्भव है भविष्य में अन्य पशुओं की बोलियों पर भी इसी प्रकार के अनुसंधानों में सफलता मिले।

5. पद्मिनी विद्या– इस विद्या के प्रभाव से निधियों को वश में किया जाता था, जिससे इसके ज्ञाता को कभी भी धन की कमी नही होती थी। कलावती के द्वारा राजा स्वारोचिष् की इसके दान की कथा मार्क0 (64/14) में दी गई है।

6. रक्षोघ्न विद्या– यज्ञों को अपवित्र बनाने वाले राक्षसों को दूर करने की विद्या। मार्क0 70/21 में बलाक राक्षस का हनन इस विद्या के द्वारा वर्णित है।

7. जालन्धरी विद्या– महर्षि वाल्मीकि ने लव–कुश को इस विद्या की शिक्षा दी थी (पद्मपुराण– पातालखण्ड 37/13)। इसके रूप का ठीक परिचय नही मिलता, सम्भवतः अन्तर्ध्यान से इसका सम्बन्ध हो।

8. विद्यागोपाल मन्त्र— भगवान शंकर ने काश्यपवंशी पुण्यश्रव मुनि के पुत्र को यह मन्त्र दिया था (पातालखण्ड 41/125)। इस मन्त्र के प्रभाव से, जिसमें इक्कीस अक्षर होते हैं, साधक को वाक्‌सिद्धि प्राप्त होती थी।

9. पराबाला विद्या— सर्वसिद्धिप्रदायिनी इस विद्या के प्रभाव से अर्जुन को कृष्णलीला का रहस्य समझ में आया था। भगवती त्रिपुरासुन्दरी ने इस विद्या का प्रथम उपदेश अर्जुन को दिया था (पातालखण्ड 43/40)।

10. पुरुषप्रमोहिनी विद्या— इस विद्या के प्रभाव से स्त्रियां पुरुषों को मोहित कर अपने वश में कर लेती हैं। यमराज की कन्या 'सुनीथा' को रम्भा द्वारा इस विद्या के शिक्षण का वर्णन भूमिखण्ड, (34/38) में है, जिससे प्रजापति अत्रि के पुत्र अंश की धर्मपत्नी तथा वेण की माता बनी (भाग0)। वशीकरण विद्या का वर्णन अग्निपुराण (123/26) में है। इसके कंई नुसखे भी दिये गये हैं। भिन्न–भिन्न उद्‌भिद् द्रव्यों को एक–एक साथ पीसकर तिलक करने का विधान है, जिसके लगाने से मनुष्यों की कौन कहे, स्वयं देवता भी वश में हो जाते हैं।

11. उल्लापन विधान विद्या— इस विद्या के प्रभाव से टेढ़ी वस्तु सीधी की जा सकती थी। श्रीकृष्ण ने इसी विद्या के बल से मथुरा की प्रख्यात कुबड़ी कुब्जा को सरल, सीधी तथा स्वस्थ बना दिया था। (विष्णुपुराण, 5/20/9— शौरिरुल्लापन विधानवित्)।

12. देवहूति विद्या— दुर्वासा द्वारा कुन्ती को दी गई विद्या, जिससे देवता भी बुलाने पर प्रत्यक्ष होते थे। सूर्य भगवान के स्मरण करने पर उनके सशरीर प्रकट होने की कथा प्रसिद्ध ही है (भाग0 9/24/32)।

13. युवकरण विद्या— स्पर्श मात्र से ही जीर्ण वस्तुओं को युवक बनाने की विद्या। राजा शान्तनु को यह विद्या आती थी, जिसके बल पर वह स्पर्श मात्र से ही बूढ़ों को नवयुवक बना देता था (भाग0 9/22/11)।

14. वज्रवाहनिका विद्या– युद्धक्षेत्र में शत्रुओं को परास्त करने के लिये यह विद्या अचूक मानी जाती थी (लिंगपुराण– 51 अ0)। इसी प्रकार अनेक चमत्कारिणी विद्याओं के संकेत पुराणों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ के नाम तथा स्थान इस प्रकार हैं– सिंह विद्या (अग्निपु0 43/13), नरसिंह विद्या (अग्नि0 63/3), गान्धारी विद्या (अग्नि0 124/12), मोहिनी तथा जृम्भनी विद्या (अग्नि0 323/4–20), अन्तर्ध्यान विद्या (भाग0 4/15/15), वैष्णवी विद्या या नारायण कवच (भाग0 6/8), त्रैलोक्यविजय विद्या (ब्रह्म वैवर्त–गणेश खण्ड 30/1–32) आदि।

पुराणों में राजनीति शास्त्र–

राजा के गुणों व कर्तव्यों अर्थात राजधर्म व राजनीति के विषय में भी पुराणों में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से निर्देश मिलते हैं। पुराणों में इस संबंध में किए गये उल्लेखों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

राजा के कर्तव्य

राजा के कर्तव्य पुराणों में इस प्रकार निर्देशित किए गए हैं–

गुरू की आज्ञा से कृत पाप उसकी आज्ञा पालन में अर्थ करता है। राजा को दश ब्राह्मणों की भृत्ति (भरण या जीविका रक्षा) के लिये चाहिये कि एक द्विज का हनन कर देवे। सौ ब्राह्मणों की भृत्ति के लिये एक ब्राह्मण को, ब्राह्मण तथा पॉच ब्रह्म (वेद) के ज्ञाताओं के लिये एक वैश्य को, दश वैश्यों की सुरक्षा के लिये एक वैश्य को, सौ वैश्यों के लिये एक द्विज को, एक हजार शूद्रों के लिये एक ब्राह्मण को, पॉच सौ वैश्यों को या 100 शूद्रों को दण्ड देवे। ब्रह्मांड 2, 37–45/153.

यह तिर्यग है–यह नारी है अथवा यह शूद्रा है, इन सब बातों से भी राजाओं को कभी भी बैरियों से अवज्ञा नही करनी चाहिये क्योंकि शक्ति तो ऐसी विलक्षण है कि वह सभी जगह हो सकती है। ब्रह्मांड 2, 55/258.

शत्रु के क्षेत्र में दूत प्रयत्नपूर्वक भेजना चाहिये। अपनी विजय की सिद्धि की इच्छा रखने वाले को चाहिये कि शत्रु के बल और अक्ल का पहले ज्ञान प्राप्त कर लेवे। जो दूतों के द्वारा ही देने वाला है, जिसकी प्रतिज्ञा सुदृढ़ हो, जो सदा ही शंकित मन वाला है, जो अशंकित आकार वाला है, जो अपने मंत्रियों में गुप्त मंत्रणा वाला होता है। ये छह उपाय हैं– इनका प्रयोग करने वाला जो सदा अभ्यर्थित पद पर स्थित रहता है, वही राजा विजय का लाभ प्राप्त किया करता है। जो जालिम होता है, उसका शीघ्र विनाश हो जाया करता है।

जो अपनी आत्मा को अर्थात अपने को हनन करना आरम्भ करे, वह चाहे ब्राह्मण–क्षत्रिय या वैश्य कोई भी हो, तो उसका हनन करके भी दोषों में लिप्त नही होता है। ब्रह्मांड 2, 46/153.

सिंह, व्याघ्र और मृगा आदि जो लोगों की हिंसा करने वाले हैं उनकों राजा देवों के तथा ब्राह्मणों के लिये निरन्तर हनन कर सकता है। ब्रह्मांड 2, 50/153.

सुत भी अपने माता–पिता से और भाई भी अपने छोटे भाई से युद्ध कर सकता है। इसी भाँति शिष्य भी अपने गुरू से युद्ध कर सकता है। इस प्रकार के युद्ध से जो कि क्षत्रिय का धर्म–कर्तव्य ही है, कोई भी पाप की उत्पत्ति नही होती है। पद्म 2, 57/212.

राजा को अन्य देशों से प्राप्त हुए पुरूष की अत्यधिक पूजा करनी चाहिये। यह मेरे देश में प्राप्त हुआ है, अतएव उसके विषय में बहुमान चिन्तन करना चाहिये। मत्स्य0 2, 5–53/247–256.

राजा को नीति शास्त्र में निपुण होना चाहिये। इसके अभाव में वह राज्य का कुशल संचालन करने में असमर्थ रहता है। इस संबंध में मार्कण्डेय पुराण कहता है–

मन्त्र के छल से बहुत से राजा लोग विनष्ट हो गए हैं। आकाश, इंगित, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र तथा मुख की विकृति – इनके द्वारा अन्तर्गत मन का ज्ञान हो जाया करता है और जो नीति शास्त्र में कुशल होते हैं, वे सभी कुछ मन का भाव जान लिया

करते हैं और जो ऐसे कुशल हैं उनके वश में यह सम्पूर्ण वसुन्धरा रहा करती है। मार्कण्डेय, 35–36/301–302.

राजा न्यायशील हो तथा सुरक्षा प्रदान करे। पराई स्त्री की चोरी करने वालों को पाप होता है। वही पाप उस राजा को भी होता है जो रक्षा करने वाले नही होते हैं। इसलिये उसका जो प्रतिग्रह होता है वह भी महान घोर हुआ करता है। जो स्वयं पाप का कर्म करता है या किसी से कराता है, अथवा उसका समर्थन करता है, चाहे शरीर से या मन से अथवा वचन से, किसी भी प्रकार से ऐसा करे, उसका फल अवश्य ही अधोगति होता है। भविष्य 2, 29–43/227–230.

आप्त और मिथ्या प्रिय बोलने वालों के द्वारा राजा पुत्र को शिल्पों की शिक्षा दिलवायें। शरीर की रक्षा के बहाने से इसकी रक्षा करने वालों की भी नियुक्ति करनी चाहिये। राजकुमार की सोहबत क्रोधी, लालची और मानवता–रहित पुरूषों से नही होनी चाहिये। मृगया, पान, और भक्ष्य अर्थात अभक्ष्य मांसादि का खाना– ये नाश करने वाले हैं। इसलिये राजा का कर्तव्य है कि इन सब का त्याग कर देवे।

जो दीर्घसूत्री होता है, उसके कर्म की निश्चय ही हानि होती है। लम्बे समय में काम करने वाला दीर्घसूत्री होता है। राग, दम्भ, मान, द्रोह, पाप–कर्म, अप्रिय वक्तव्य में दीर्घसूत्रता का होना प्रशस्त माना जाता है। राजा की मंत्रणा गुप्त होनी चाहिये जिससे कोई भी निकट से भी निकटतम व्यक्ति भी न जान सके। गुप्त मंत्रणा से कभी भी आपत्तियां नही आती हैं। राजा में यदि अविनय होता है तो वह नाश को प्राप्त हो जाता है और विनय के भाव से राज्य का लाभ होता है। तीन विद्याओं के श्रोताओं के पुरूषों से नयी विद्या का ज्ञान प्राप्त करे। दण्ड नीति, शाश्वती, आन्विक्षिकी का ज्ञान ग्रहण करना चाहिये। अर्थ, विद्या और वार्तारम्भों को लोक से सीखें। भविष्य0, 2–4/406, 15–16/408, 21/ 409

राजा को मंत्रणा के लिए बुद्धिमान व योग्य मंत्री की नियुक्ति करनी चाहिये। जो मंत्री सुन्दर नीति को नही जानता है, वह दुष्ट बुद्धि वाला मंत्री लोहे की नौका की भांति अपने राजा को अनीति के सागर में निमग्न कर दिया करता है। ब्रह्मांड 1, 49/215.

राजधर्म

राजा को अपने सहायकों का वरण करने में देखना चाहिये कि वे रूप और सत्व गुण से युक्त हों, सज्जन हों, क्षमा से संयुक्त हों, क्लेशों के सहन करने में समर्थ हों, महान उत्साह वाले हों, धर्म के ज्ञाता हों, प्रिय वचन बोलने वाले हों। राजा को सदा हित का उपदेश देने वाले, स्वामी के परम भक्त, और यश के चाहने वाले हों। इस तरह के भली–भॉति खूब देखभाल कर सहायकों का वरण राजा को करना चाहिये और फिर उनको शुभ कर्मो में योजित करना चाहिये। जो गुणों से हीन हो, उसको भी राजा को स्वयं जानकर तथा योग्य कर्मो में नियुक्त करना चाहिये। राजा का सेनापति शील स्वभाव से युक्त, धनुर्विद्या का महान विद्वान, हाथियों और अश्वों की शिक्षा में परम प्रवीण, कोमल और मधुर भाषण करने वाला तथा जाति का ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय होना चाहिये। राजा का दूत सभी के चित्त को ग्रहण करने वाला और प्रतिहार होना चाहिये। दूत को जैसा भी कहा जाये, वैसा ही कहने वाला तथा देश–भाषा का विद्वान होना चाहिये। राजा को अपनी रक्षा करने में ऐसे ही व्यक्तियों को करना चाहिये, जो प्राश, व्यापत, शूर, दृढ़, भक्त, निराकुल, सदा क्लेशों के सहन करने के स्वभाव वाले तथा हितकारी हों। राजा का ताम्बूलधारी अनाहार्य्य, अनृशंस और राजा में दृढ़ भक्ति रखने वाला होना चाहिये अथवा उन्हीं गुणों वाली पुरूष न होकर ताम्बूलधारी नारी भी हो सकती है। राजा के यहॉ उसके अपरिमेय कर्म हुआ करते हैं। पार्थिव का कर्तव्य है कि कर्मो की उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणियों को समझ कर ही उत्तम, मध्यम और अधम पुरूषों में से तदनुसार ही पुरूषों को नियोजित करें।

बहुत से नृपवृन्द सपरिच्छद होते हुए भी केवल अविनय के कारण ही राज शासन कर्म से भ्रष्ट हो जाया करते हैं। वन में स्थित रहने वाले भी केवल विनय के कारण से ही राज्यों को प्राप्त कर चुके हैं। जो लोग त्रयी विद्या के महा मनीषी हैं, उनसे त्रयी विद्या को, शाश्वती दण्ड् नीति को, आन्वीक्षिकी तथा आत्मविद्या को ग्रहण करें। लोक से वार्तारम्भों को, और इंद्रियों के विजय में योग को अहर्निश प्राप्त करने की इच्छा रखता है, उसको चाहिये कि अपने सहायता करने वाले लोगों को बनावे।

जिस कर्म में, जिस पुरूष की विशेष रूप से कुशलता हो, उस कर्म में राजा को उसकी परीक्षा करके ही उस पुरूष का विनिवेश करना उचित होता है।जो राजा अपनी प्रजा से अधिक कर लिया करता है, वह अपनी एक हजार पुश्त तक पांच कल्प पर्यन्त यातनायें भोगा करता है। नारद 1, 9/321.

दण्ड् विधान

दण्ड् के सम्बन्ध में राजा के निम्नलिखित कर्तव्य पुराणों में इंगित किए गए हैं–

सभी दण्ड राजा के द्वारा ही दिये जाने चाहियें। नारद 2, 19/23.

ब्राह्मण यदि क्षत्रिय का वध कर देवे तो 6 वर्ष तक कृच्छ व्रत करना चाहिये, वैश्य वध में तीन वर्ष तथा शूद्र वध में एक वर्ष ही पर्याप्त है। नारद 2, 21/24.

विद्वान पुरूषों से वृद्ध, आतुर स्त्री और बालकों का वध होने पर पाप शुद्धि हेतु आधा प्रायश्चित करना ही आवश्यक है। नारद 2, 22/25.

मित्र बन्धु, पिता अथवा गुरू भी यदि प्रजा के पालन में विघ्न उपस्थित करें तो राजा के द्वारा वध किये जाने के योग्य हैं।

"मित्र वा बान्धवोवाऽपि पितावायदिवागुरूः।
प्रजापालनविघ्नाययोहन्तव्यः स भूमृता।। –मार्कण्डेय –37/421

जो दण्ड देने की रूचि वाला होता है, वह नरक में पच्यमान होता है। अपना अधिकार कहकर रिश्वत लेने से तथा तस्करों के द्वारा जिस राजा द्वारा पीड़ित की जाती है, और इन पीड़ितों से अधिक वह प्रजा रुष्ट रहा करती है, वह राजा नरक में जाकर वेदना को सहन किया करता है। अन्याय से शासन का व्यवहार करने वाले राजा का जो द्विज दान ग्रहण किया करते हैं, वे ब्राह्मण भी घोर नरकों में जाया करते हैं। मार्कण्डेय, 14—28/324—27.

राजा के अकर्तव्य

राजा के लिये पांच तरह के दुष्कृत्य कहे गये हैं— किसी का हनन करना, स्तेय या चोरी, हिंसा, मदिरापान और अन्य अंगना के साथ मे रति करना। ब्रहमांड 2, 37/151.

2.2.3. पौराणिक भूगोल

पुराण में भूगोल और खगोल एक अत्यन्त सारवान विषय है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियों से किया है— एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। प्रथम में कल्पना का प्राचुर्य है और द्वितीय में पूर्ण यथार्थता का सद्भाव— ऐसी धारणा अनेक विद्वानों की है। आजकल के वैज्ञानिक युग में परिज्ञात और बहुशः वर्णित समस्त भूमिखण्ड पुराणकारों को ज्ञात थे। इसलिये उन्होंने इसका विवरण बड़ी यथार्थता से दिया है। परन्तु उन स्थानों की पहचान आलकल निःसंदिग्ध रूप से ज्ञात नही हो रही है। पृथ्वी के सप्तद्वीपों की कल्पना पौराणिक भूगोल की निजी विशिष्टता है। इन द्वीपों में से तीन कुशद्वीप, शकद्वीप और जम्बूद्वीप— की पहचान बड़े ही सांगोंपांग रूप से यथार्थतः हो सकी है। कप्तान स्पीक ने पुराणस्थ संकेत को आधार मानकर ही मिस्त्र देश में बहने वाली अफ्रीका की नील नदी के उद्गम का पता लगाया। पुराण में नदी का उद्गम स्थान कुशद्वीप बतलाया गया है। कुश देश तथा कुश लोगों का उल्लेख प्रख्यात पारसीक सम्राट दारियबहु (522—486 ई०पू०) के अनेक फारसी अभिलेखों में मिलता है। कुश द्वीप का आधुनिक नूबिया मानकर पौराणिक वर्णन का अनुसरण करते हुए कप्तान

स्पीक ने नील नदी का स्रोत खोज निकाला। यह पौराणिक भूगोलीय यथार्थता का विजयघोष है।

वहाँ कुश लोगों का राज्य 2200–1800 ई0 पू0 में था। शक द्वीप की पहचान यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित 'सिथिआ' से की जाती है। पुराणों के द्वारा वर्णित शक देश की अवान्तर जातियों का, वहाँ के दूधसागर का तथा नदियों का विवरण इतना यथार्थ है कि यह स्पष्टतः कल्पनाप्रसूत न होकर ठोस अनुभव पर आश्रित है। भारतवर्ष के नवीन उपनिवेश, जहाँ हिन्दुओं ने जाकर अपनी सभ्यता और संस्कृति की वैजयन्ती फैलाई थी, पुराणों में विशदता के साथ उल्लिखित और वर्णित है। एशिया की व्यापारिक दृष्टि से महत्वशालिनी बड़ी–बड़ी सात नदियों का वर्णन भी उतना ही यथार्थ है। पाताल की पहचान पश्चिमी गोलार्ध से की गयी है, जिसमें मध्य अमेरिका के मय संस्कृति के क्रीडा–क्षेत्र मेक्सिको तथा पेरू के भू–वृत्त का नियामक वर्णन है।

इस प्रकार पौराणिक भूगोल यथार्थ है, काल्पनिक नही। इतना होने पर भी अभी भी उसकी कुछ भौगोलिक सामग्री इतनी उलझी हुई है कि उसके आधार पर विश्व का पूरा नक्शा अभी भी ठीक–ठीक तैयार नही किया जा सकता। यहाँ इस पौराणिक भूगोल के मुख्य अंशों की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

पुराण में भुवनकोश एक महत्वपूर्ण विषय है। इसमें समग्र भुवनों का भौगोलिक नाम, विस्तार तथा स्वरूप का विशद् वर्णन पुराणों में उपस्थित किया गया है। इस भू–वृत्त को समझने के लिये इसके केन्द्र स्थानीय पर्वत मेरू का स्वरूप जानना परम् आवश्यक है।

समस्त पृथ्वी को कमल का रूप स्वीकार किया गया है, जिसकी कर्णिका (मूल मध्य जहॉ से पंखुड़ियाँ निकलकर चारों ओर फैलती हैं) में मेरू पर्वत की स्थिति मानी गयी है।

अव्यक्तात पृथिवीपद्मं मेरूपर्वत कर्णिकम्। – वायु0 34/37

वायु पुराण का अन्यत्र कथन है कि उस महात्मा प्रजापति का सोने का बना (हिरण्मय) मेरूपर्वत गर्भ है, समुद्र गर्भ से निःस्यन्दमान उदक है और शिराएँ तथा हड्डियाँ पर्वत हैं–

हिरण्मयस्तु यो मेरूस्तस्योल्बं तन्महात्मनः।
गर्भोदकं समुद्राश्च सिराद्यस्थीनी पर्वताः ।। – वायु0 1– 5/80

इसी प्रकार मत्स्य पुराण में मेरू अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा का नाभि बन्धन माना गया है–

"नाभिबन्धन सम्भूतो ब्रह्मणोव्यक्तजन्मंनः" मत्स्य0, 1/2/14

तात्पर्य यह है कि मेरू पर्वत पृथ्वी की नाभि होने से वह केन्द्र है, जिसे मूल मानकर भुवनकोश का विन्यास किया गया है।

मेरू पर्वत पुराण परम्परा के अनुसार इलावृत्त वर्ष के मध्य में स्थित है, जो जम्बू द्वीप का केन्द्र माना जाता है। इलावृत्त के चारो ओर चार पर्वत मेरू को आलम्बन देने वाले खम्भों के समान फैले हुए हैं– पूरब दिशा में मन्दर पर्वत, दक्षिण में है– गन्धमादन, पश्चिम में है– विपुल पर्वत और उत्तर में है– सुपार्श्व। मेरू को चारो ओर से घेरने वाले अन्य पर्वतों का भी उल्लेख मिलता है। मेरू के उत्तर में है नील पर्वत, उसके उत्तर में है श्वेत पर्वत, जिसके उत्तर में है शृंगी पर्वत। पूरब और है जठर तथा देवकूट। दक्षिण में है निषध पर्वत; जिसके दक्षिण मे है हेमकूट और इसके भी दक्षिण में है हिमवान (हिमालय)। पश्चिम की ओर हैं दो पर्वत– माल्यवान और गन्धमादन। इन पर्वतों के नाम तथा स्थान पुराणों में इतनी भिन्नता से वर्णित हैं कि मेरू की स्थिति समझने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। परन्तु पुराणों में मेरू पर्वत के वर्णनों में इतनी विस्तृत बातों का विवरण दिया गया है कि उसे हम कल्पनाप्रसूत पर्वत नही मान सकते।

चतुर्द्वीपा वसुमती

पुराणों के 'भुवनकोश' के समीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि उसमें वसुमती के द्विविध विवरणों का सम्मिश्रण हो गया है। पृथ्वी के विषय में प्राचीन मत (वायु पुराण में

निर्दिष्ट) था के मेरू की चारों दिशाओं में पृथ्वी पर चार द्वीप हैं परन्तु आगे चलकर सप्तद्वीपा वसुमती की कल्पना भी कभी जागरूक हुई और पुरानी चतुर्द्वीपा कल्पना के साथ इस अभिनव कल्पना का सम्मिश्रण हो जाने से वर्णनों में बड़ी गड़बड़ी तथा मिलावट दीख पड़ती है। छानबीन करके मूल रूप को पहचाना जा सकता है।

मेरू से महाद्वीपों की स्थिति संकेतित की गई है। पूरब की ओर 'भद्राश्व महाद्वीप', दक्षिण में 'जम्बूद्वीप' है जो भारतवर्ष के नाम से भी वर्णित है। पश्चिम में 'केतुमाल' तथा उत्तर में 'उत्तरकुरू'।

इन चारों महाद्वीपों की वर्तमान स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। 'भद्राश्व' का शाब्दिक अर्थ है कल्याणकारी घोड़ा। सम्भवतः यह चीन देश को सूचित करता है। भारत तो हमारा भारतवर्ष है। भारत 'हैमवत वर्ष' के नाम से कभी इस लिये विख्यात था कि वह हिमालय की दक्षिण दिशा में वर्तमान है। वंक्षुनदी' (आकस नदी–आमू दरिया और सिर दरिया) का प्रदेश केतुमाल महाद्वीप है, जो मूरू के पश्चिम में वर्तमान है। उत्तरकुरू वह विशाल देश है, जो आलताई पर्वत से लेकर उत्तरी समुद्र तक फैला हुआ है। साइबेरिया का पूरबी तथा उत्तरी भाग इस क्षेत्र के भीतर आता है। भौगोलिक परिवर्तनों के कारण आज यह प्रदेश अत्यन्त शीतमय तथा हिममय होने के कारण मानवों के निवास लायक नही रहा, परन्तु कभी यह बड़ा ही समृद्धिशाली प्रदेश था।

इन प्रत्येक महाद्वीप में एक विशिष्ट पर्वत, एक नदी, एक वृक्षकुंज, एक झील, एक वृक्ष तथा आराधना के निमित्त एक विशिष्ट रूपधारी भगवान की भी स्थिति थी।

सप्तद्वीपा वसुमती

पुराणों के नवीन संस्करण में सात द्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया। इन सात द्वीपों के क्रम के विषय में पुराणों में एकमत्य नही दृष्टिगोचर होता परन्तु सप्तद्वीपा वसुमती का सिद्धान्त समग्र पुराणों का एक नितान्त महनीय तथा मान्य रहस्य है। जम्बूद्वीप

इस कल्पना के द्वारा माध्य में है और यह सात द्वीपों द्वारा वेष्टित है और ये द्वीप आपस में एक–एक समुद्र द्वारा पृथक्कृत किये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं–

1. जम्बूद्वीप (क्षार समुद्र या लवणोदधि द्वारा वेष्टित)
2. प्लक्ष (गोमदेक) द्वीप (इक्षुरस समुद्र द्वारा वेष्टित)
3. शाल्मलि द्वीप (सुरा समुद्र द्वारा वेष्टित)
4. कुशद्वीप (घृत समुद्र द्वारा वेष्टित)
5. क्रोंच द्वीप (दधि समुद्र द्वारा वेष्टित)
6. शकद्वीप (क्षीर समुद्र द्वारा वेष्टित)
7. पुष्कर द्वीप (स्वादु जल समुद्र द्वारा वेष्टित)

कुशद्वीप– कुश नामक देश तथा वहाँ के निवासी कुशीय लोगों का उल्लेख अनेक फारसी शिलालेखों में मिलता है। उदाहरणार्थ 'दारयबहु' (अंग्रेजी में डैरियस; 522–486 ई0 पू0) के हमदान लेख में उसके राज्य की सीमा। कुश की स्थिति मिश्र से बाहर अफ्रीका के पूर्वोत्तर भाग में कहीं पर मानना उचित होगा।

शकद्वीप या शाकद्वीप– शकद्वीप विषयक पौराणिक सामग्री बड़ी महत्वपूर्ण तथा भौगोलिक तथ्यों से सर्वथा परिपूर्ण है। शकद्वीप में सात पर्वत, सात वर्ष तथा सात नदियों का उल्लेख मिलता है। शकद्वीप का यह भूगोल 'हिरोदोतस' नामक यूनानी लेखक द्वारा वर्णित शकों के निवास प्रान्त के भूगोल से बिल्कुल मिलता है।

शकद्वीपीय जातियाँ– भविष्यपुराण का कथन है कि इस द्वीप में चार जातियां निवास करती थी, जो भारत के चतुवर्णों की प्रतिनिधि मानी जा सकती हैं–

तत्र पुण्या जनपदाश्चतुर्वर्णसमनिवताः।
मगाश्च मगगाश्चैव गानगा मन्दगास्तथा ।।
मगाः ब्राह्मणभूयिष्ठा मगगाः क्षत्रियाः स्मृताः।
वैश्यास्तु गानगा ज्ञेयाः शूद्रास्तेषां तु मन्दगाः।।

'शक' एक सामुदायिक जातीय अभिधान है, जिसके भीतर अनेक जातियां सम्मिलित थी। प्रथम शती ईसवी में भारतवर्ष में अपना शासन स्थापित करने वाले कुषाण लोग भी

शक जाति से ही मूलतः सम्बद्ध थे। शक लोग एक घुमक्कड़ जाति के थे, जो अपने आरम्भिक जीवन में एक स्थान पर स्थिर तथा प्रतिष्ठित न होकर उर्वर भूमि की खोज में घूमा करते थे। कभी ये मध्य एशिया में भी रहते थे, परन्तु वहाँ से चलकर ये 'ईरान' (फारस) के समीपस्थ कास्पियन (काश्यपीय) सागर के तीरस्थ भूमिखंड़ में निवास करने लगे थे। यूरेशिया द्वीप में एक समय दुनाई नदी (डेन्यूब) से लेकर त्यानशान्–आल्ताई (पर्वत श्रेणी) तक फैली शक जाति की भूमि ही भारतीय भाषा के अनुसार 'शकद्वीप' है।

(क) शाकद्वीप की प्रथम जाति, जिसका उल्लेख पुराण में मग (या मक) है। ईरानी ऋत्विज् या पुरोहित की ईरानी संज्ञा है– 'मगुस' और 'मग' इसी शब्द का संस्कृत रूप है। पुराणों में 'मग' की एक व्युत्पत्ति दी गई है– मं मकरं = सूर्य, गच्छतीति मगः अर्थात सूर्योपासकः।

गरुड़पुराण के अनुसार इन्हें भारत में लाने का श्रेय श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को है, जिन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिये चन्द्रभागा नदी (चेनाब) के तीर पर सूर्य का मंदिर बनवाया, परन्तु भारत में उचित पुजारी के न मिलने पर इन ब्राह्मणों को शकद्वीप से गरुड़ द्वारा बुलवाया और भारत में सूर्य की तान्त्रिक पूजा का तभी अवतार हुआ।

(ख) 'गोग' तथा 'मगोग' नामक अत्यनत उग्र आक्रामक शक जातियां थी, जिनके आक्रमण के कारण समग्र ईरान प्रदेश भय के कारण थर–थर काँपता था। पुराणों में निर्दिष्ट 'मन्दग', 'माद' नामक ईरानी जाति का भारतीय प्रतिनिधि है। ये ईरान से सुदूर पूरब से आने वाले लोग बतलाये जाते हैं। 'माद' लोग ही 'मीडीज' के नाम से यूरोपीय इतिहास में अपनी आक्रमणकारी प्रवृत्तियों के कारण नितान्त विख्यात हैं। 'हिरोदोतस' नामक ग्रीक इतिहास लेखक ने भी शक लोगों में चार जातियों की सत्ता मानी है, जो भारतीयों के पूर्वोक्त वर्णन से भली–भाँति मेल रखता है।

(ग) शकों में सूर्य की ही मुख्यरूपेण उपासना होती थी, जिसे वे 'स्वलियु' के नाम से पुकारते थे, जिसमें 'र' के स्थान पर 'ल' के साथ शकों के अत्यन्त प्रेम को हटा देने

पर 'सूर्य' शब्द साफ दिखाई पड़ता है। यह स्वलियु देव दिवू (द्यौः) पिता और अपिया माता का (द्यावापृथिवी का) पुत्र था।

भारतवर्ष : नामकरण एवं महिमा वर्णन

जिसके दक्षिण में हिमाद्रि है और जिसके उत्तर में विन्ध्याचल पर्वत है, उसे ही भारतवर्ष कहते हैं और यह भारतवर्ष शुभ तथा अशुभ कर्मों के फलों को प्रदान करने वाला है। पद्म 2, 24/426.

समुद्र के उत्तर में और हिमालय के दक्षिण में जो वर्ष है, वह भारत नाम वाला वर्ष है। यह भारतवर्ष कर्मों के करने की भूमि कही जाती है जो स्वर्ग जाने के इच्छुक हैं, अथवा मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, वे यहाँ पर ही कर्मों का सम्पादन करने के लिये समुत्पन्न हुआ करते हैं। यहाँ पर भारतवर्ष में सात कुल पर्वत हैं और आठ द्वीप हैं। पद्म 2, 1–2/241.

(क) भारतवर्ष नाम पड़ने से पहले यह देश 'अजनाभ' (भाग0, 5/7/3) तथा 'हैमवतवर्ष (वायु0, 35/52) नाम से प्रख्यात था। 'हैमवतवर्ष' नाम का हेतु तो यह है कि इस वर्ष में सीमा विभाजन करने वाला हिमवत् गिरि (हिमालय या हिमाचल) प्रधान रूप से अवस्थित है और यह वर्षपर्वत है। फलतः हिमवत् के द्वारा उत्तर में वेष्टित होने के कारण यह नाम स्वाभाविक रीति से इस देश को दिया गया है। परन्तु 'अजनाभ' अविधान का तात्पर्य बहुत ही गम्भीर तथा अन्तरंग है। 'अजनाभ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– अज (अजन्मा भगवान विष्णु) के नाभि कमल पर स्थित देश। इस शब्द का स्वारस्य यह है कि ब्रह्मा ने भगवान के नाभि कमल पर निवास करते हुए जिस प्रथम लोक का निर्माण किया, वही है यह 'अजनाभवर्ष'। यह शब्द प्रदर्शित कर रहा है कि आदि सृष्टि यहीं अजनाभवर्ष में ही हुई। मानवों की उत्पत्ति का स्थान यही वर्ष है। मानव सर्वप्रथम यहीं उत्पन्न हुआ और यहीं से भिन्न–भिन्न दिशाओं में फैलकर उसने सभ्यता का विस्तार किया। यह व्युत्पत्ति मनुस्मृति में उपलब्ध इस पद्य की प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है–

एतद्देश – प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।

फलतः आर्य जाति का मूलस्थान यही भारतवर्ष है; अन्य स्थान से आकर आर्यों ने भारतवर्ष को अपना उपनिवेश बनाया आदि नवीन कल्पनाएं सर्वथा अप्रामाणिक हैं। पुराणों में आर्यों के मूलस्थान के विषय में यही सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य है।

'भारत' नाम की निरुक्ति

भारतवर्ष इस देश का नाम क्योंकर पड़ा? इस विषय में पुराणों के कथन प्रायः एक समान हैं। केवल मत्स्य पुराण ने इस नाम की निरुक्ति के विषय में एक नया राग अलापा है। 'भरत' से ही 'भारत' बना है, परन्तु भरत कौन था? इस विषय में मत्स्य मनुष्यों के आदिम जनक मनु को ही प्रजाओं के भरण और रक्षण के कारण 'भरत' की संज्ञा दी है–

भरणात् प्रजानाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्ष तद् भारतं स्मृतम्।। – मत्स्य0, 114/5–6

प्रतीत होता है कि यह प्राचीन निरुक्ति के ऊपर किसी अवान्तर युग की निरुक्ति का आरोप है। प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे 'प्रियव्रत', जिनके पुत्र थे– नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ, जिनके एकशत पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया। और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश 'अजनाभ' से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा के विरोधी होने से अप्रामाणिक है–

ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्साथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तद् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।
– वायु0, 33/51–52; मार्क0, 53/39–40

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः।
तस्याग्नीध्रस्वतो नाभि ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः।।

अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्।
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायण–परायणः।
विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमुत्तमम्।। — भाग0, 11/15, 17

भारतवर्ष का भूगोल दो रीतियों में पुराणों में अभिव्यक्त हुआ है– (क) कार्मुक संस्थान तथा (ख) कूर्म संस्थान। कार्मुक संस्थान से अभिप्राय है कि समग्र भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति कार्मुक अर्थात धनुष के समान है, जिसकी प्रत्यंचा या डोरी स्वयं हिमाचल उत्तर में है तथा जिसका खींचा हुआ दण्ड दक्षिण की ओर फैला हुआ है। कार्मुक संस्थान का निर्देश पुराणों में बहुशः किया गया मिलता है–

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणाः।। — मार्क0, 27/60

कूर्म संस्थान

भारतवर्ष में आराध्य देव भगवान् कच्छप हैं। प्रतीत होता है कि इस भावना को आधार मानकर समग्र भारतवर्ष को कच्छप की आकृति माना गया है और कच्छप के भिन्न अंगों के सादृश्य पर भारतवर्ष को नव भागों में विभक्त किया गया है।

भारत : कर्मभूमि के रूप में

पुराणों में भारतवर्ष की प्रकृष्ट प्रशस्ति दी गई है। जो आधुनिक मत वाले भारतवर्ष के प्राचीन सहित्य के ऊपर देश–प्रेम के अभाव का लांछन लगाते हैं, उन्हें पुराणों में दी गयी 'भारत–प्रशस्ति' का अनुशीलन करना चाहिये। इस प्रशस्ति की पृष्ठभूमि गुप्त साम्राज्य का सुवर्ण युग माना जा सकता है, जब भारतवर्ष आधिभौतिक, भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समस्त विश्व में अपना प्रतिमान नही रखता था और जब इसके पराक्रमी नाविकों ने अगम्य तथा दुर्गम्य उत्तालतरंगमय महार्णव को पार कर पूर्वी द्वीप पुंजों में – जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन्स आदि–आदि में– अपनी सभ्यता की पताका फहरायी थी और इन द्वीपों को अपना उपनिवेश बनाया था। उस युग में

भारतीयों में एक अदम्य उत्साह था, नाना देशों में अपनी संस्कृति फैलाने की अश्रान्त लिप्सा थी। तभी भारतीयों ने अपने भीतर सुप्त स्वज्योतिःपुंज का दर्शन किया था तथा उसी की आभा को विश्व के सामने छिटकाया था। इन प्रशस्तियों के अनेक आधार सूत्र हैं–

(क) भारत के समान पृथ्वी का कोई देश नही है– यह समूचे भूमण्डल में अनुपम और अद्वितीय है।

(ख) भारत स्वर्ग से बढ़कर है और इसीलिये स्वर्गवासी देवगण भारत में मनुष्य के रूप में जन्म लेने को श्रेयस्कर समझते थे।

(ग) मानव जीवन के जितने मंगल तथा कल्याण होते हैं, उनके बीज़ भारत में विद्यमान हैं।

(घ) भारत कर्मभूमि – अन्य देश भोग भूमि हैं। भारत में सिद्धियां कर्म के वशीभूत होकर फलीभूत होती हैं।

इन तथ्यों को सिद्ध करने वाले कतिपय श्लोक पुराणों से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं–

> अहो अमीषां किमकारि शोभनं ।
> प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।।
> यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे।
> मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।। – देववचन; भागवत0, 5/19/21

भारतभूमि कर्मभूमि है और स्वर्गभूमि भोगभूमि है– इस तथ्य की पुष्टि में पुराणों में विशेष महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये गये हैं।

> पृथिव्यां भारतं वर्ष कर्मभूमिरुदाहृता। – ब्रह्म0, 27/2

> जाम्बवे भारतं वर्ष तीर्थ त्रैलोक्यविश्रुतम्।
> कर्मभूमिर्यतः पुत्र तस्मात् तीर्थ तदुच्यते।।
> – (तत्रैव, 70/21)

सभिसम्पूजितं यस्मात् भारतं बहुपुण्यदर्म।
कर्मभूतिरतो देवैर्वर्ष तस्मात् प्रकीर्तितम्।। — तत्रैव, 70/24
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्ग च गच्छताम्। — विष्णु0 2/3/2
अत्रापि भारतं श्रेष्टम् जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः।। — तत्रैव, 2/3/22

तत्रापि भारतमेव वर्ष कर्मक्षेत्रम्। अन्यान्यष्टवर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति। — भागवत0, 5/17/11

भारतवर्ष के मनुष्य देवों से भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके हाथ में उनका भविष्य है। कर्म के सम्पादन की छूट होने से भारतवर्ष का मानव भोगभूमि स्वर्ग में कर्मफल को भोगने में आसक्त देवताओं से कहीं बढ़कर है। मानव की श्रेष्ठता की यह स्वीकृति पुराणों की एक महत्त्वशाली देन माना जाना चाहिये—

अत्र जन्म सहस्त्राणां सहस्त्रैरपि सत्तम।
कदाचित लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्।।
धन्याः खलु ते मनुष्याः
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ।

भारतवर्ष के नवखण्डात्मक विभाजन

भारतवर्ष के नवखण्डों का विभाजन पुराणों में मिलता है। मत्स्य (114/7–8) तथा मार्कण्डेय (57/5) में भारतवर्ष के इन खण्डों की संज्ञा इस प्रकार है— (1) इन्द्रद्वीप, (2) कसेरू, (3) ताम्रपर्ण, (4) गभस्तिमान्, (5) नागद्वीप, (6) सौम्य, (7) गन्धर्व, (8) वारुण, (9) स्वयं भारत ही।

अन्य पुराणों के लेखकों ने नव भागों के विवरण देते समय नवम् भाग की स्थिति के विषय में मौन ही धारण किया है, परन्तु वामन पुराण के रचयिता को यह श्रेय देना चाहिये कि उसने इस नवम् भाग का अभिधान तथा स्वरूप ठीक–ठीक दिया है—

अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।
कुमाराख्यः परिख्यातो द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः।। — वामन0, 13/11

वामनपुराण और काव्य मीमांसा के अनुसार यह नवम् भाग कुमार द्वीप या कुमारीद्वीप के नाम से प्रख्यात था। इस संज्ञा का हेतु यही था कि यह प्रदेश कुमारी (कन्याकुमारी) से आरम्भ होकर गंगा के प्रवाह तक फैला हुआ था। पुराणों में कहा गया है कि जिन देशों में होकर गंगा नदी जाया करती है, वे देश परम पावन देश तथा श्रेष्ठ देश हो जाते हैं। जो प्राणी अपने उद्धार की खोज किया करते हैं, उन समस्त प्राणियों के लिये गंगा सर्वदा गति देने वाली हुआ करती है। नित्य जो गंगा के जल का सेवन किया करते हैं, उनके दोनो वंशों को गंगा तार देती है। गंगा के दर्शन से तथा गंगा जल के स्पर्श करने से और गंगाजल के पान करने से एवं मुख से 'गंगा' इस नाम के उच्चारण मात्र से गंगा सैंकड़ों एवं सहस्त्रों पुण्यवान पुरूषों को पवित्र कर देती है। (आयतस्तु कुमारीतो गंगायाः प्रवहावधि – मत्स्य0, 114/10)। फलतः दक्षिण से उत्तर तक फैलने वाले देश का दक्षिण बिन्दु था– कुमारी या (कन्याकुमारी) और इसीलिये यह भारत ही स्वयं 'कुमारीद्वीप' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वामनपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि जिसे अब तक भारत के नाम से पुकारते थे, उसे ही अब 'कुमारीद्वीप' के अभिधान से पुकारने लगे।

> इमे तवोक्ता विषया सुविस्तराद्, द्वीपे कुमारे रजनीचरेश।
> एतेषु देशेषु च देशधर्मान्, संकीर्त्यमानान् शृणु तत्त्वतो हि।।
> – वामन0, 13/59

2.2.4. पुराणों में ब्रह्माण्ड संबंधी अवधारणा

पुराण की दृष्टि में ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह भुवन हैं, जो भूतत्त्व में निर्मित हैं। पृथ्वी को ही मुख्य मानकर कह सकते हैं कि छह भुवन उसके ऊपर हैं और सात भुवन उसके नीचे हैं, जिनको सामान्य रीति में 'पाताल' कहते हैं। इन चौदह भुवनों की स्थिति इस प्रकार समझनी चाहिये–

ऊर्ध्वलोक[1]
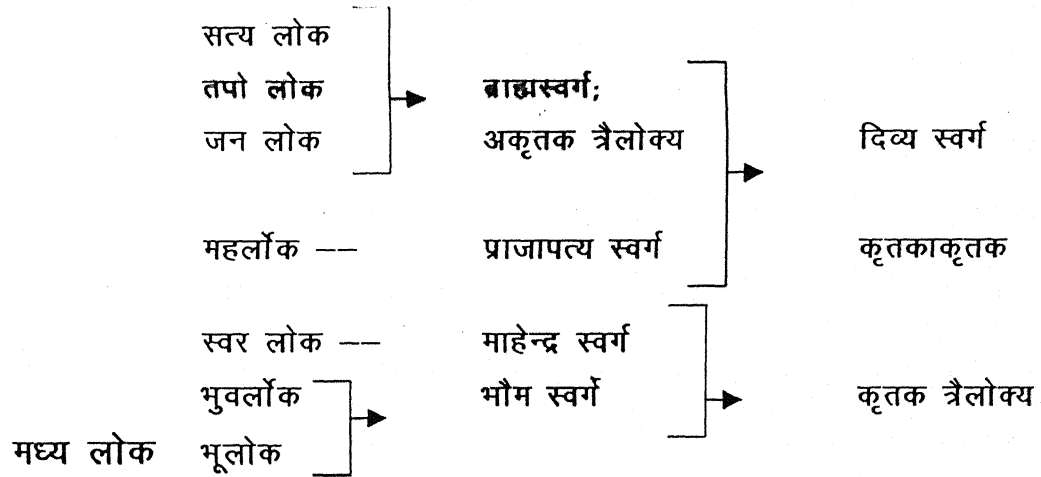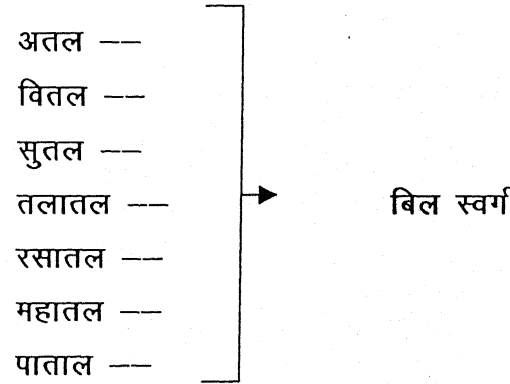
पाताल लोकों का पुराणनिर्दिष्ट विवरण साधारण विश्वासों से नितान्त भिन्न है। सामान्य जनता का तो यही विश्वास है कि पाताल नितान्त अन्धकार से आच्छन्न, क्लेशमय तथा प्राणी निवास के सुतरां अयोग्य है; परन्तु पुराणों का प्रामाण्य इस विषय में ठीक इससे विपरीत है। विष्णुपुराण (2/5/5) महर्षि नारद की अनुभूति को उल्लिखित कर पातल के विषय में यह कहता है – पाताल तो स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है–

1. (ऊर्ध्व लोकों के वर्णन के लिये द्रष्टव्य विष्णुपुराण, द्वितीय अंश, 7 अ० तथा वायुपुराण, 50 अ०)

2. (अधोलोकों के वर्णन के लिये द्रष्टव्य विष्णु०–2/5; श्रीमदभागवत 5/24; वायुपुराण, 50 अ० 1–48 श्लोक)

'स्वर्गलोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः
प्राह स्वर्गसदोमध्ये पातालेभ्यो गतो दिवम्।।

– ब्रह्म0, 21/5 तथा विष्णु0, 2/5/5

सूर्य तथा चन्द्रमा की वहां स्थिति होने से वह सर्वथा प्रकाशमय तथा कान्तिमान होता है– परन्तु एक वैशिष्ट्य के साथ। दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रकाश ही नही करती हैं, परन्तु घाम नही करती; रात में चन्द्रमा की किरणों से शीत नही होता, केवल चॉंदनी ही फैलती है। वहॉं के निवासी दैत्य, दानव तथा नागलोक स्वच्छ आभूषण, सुगन्धमय अनुलेपन तथा वेणु, वीणा आदि स्वरयन्त्रों– आदि उदारजनों के द्वारा भोग्य पदार्थों का सेवन करते हैं। भोग–विलास की समग्र सामग्री से सम्पन्न पाताल लोक का निवास मनुष्यों के लिये भी एक स्पृहनीय वस्तु है, गर्हणीय नही। वहाँ भगवान विष्णु की तामसी तनु, जिसका नाम शेष अथवा अनन्त है, निवास करती है। वे अपने फणों की सहस्त्र मणियों से सम्पूर्ण दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए संसार के कल्याण के लिये समग्र असुरों को वीर्यहीन करते रहते हैं। श्रीमदभागवत (5/24/8–15) ने भी इन्हीं कमनीय शब्दों में पाताल लोकों के ऐश्वर्य, वैभव तथा भोगविलास का वर्णन किया है। विष्णुपुराण की अपेक्षा श्रीमदभागवत का वर्णन विशिष्टतर है, क्योंकि यह सातों पाताल लोकों में प्रत्येक का वर्णन अलग–अलग वैशद्य से करता है। यह वर्णन इतना सांगोंपांग है कि इसमें अनुभूति की सत्यता स्पष्टतः झॉंकती दृष्टिगोचर होती है। इस पाताल की पहवान क्या किसी भू–विशेष से की जा सकती है?

मेरी दृष्टि में पाताल की पहचान समग्र पश्चिमी गोलार्ध से की जा सकती है, जिसे आजकल उत्तरी, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका के नाम से पुकारते हैं। श्रीमदभागवत ने 'अतल' नामक पाताललोक में मय नामक असुरे की स्थिति बतलायी है। यह प्रामाण्य बड़ा सारवान् है। मध्य अमेरिका के मुख्य प्रदेश मेक्सिको की प्राचीन 'मयसंस्कृति' के नाम से विख्यात है और वहाँ के निवासी आज भी उस प्राचीन संस्कृति के प्रचुर उपासक हैं। मय बड़े ही अद्भुत महलों का निर्माता असुरों का इंजीनियर था। मेक्सिको तथा पेरु आदि

देशों की समृद्ध शिल्पकला तथा भास्कर्यकला के प्राणवनत प्रासादों का निरीक्षण कर, उस प्रांचीन युग की इन विशद् कलाकृतियों की विस्मयकारिणी समृद्धि तथा सम्पन्नता की सत्ता से आधुनिक शिल्पी आश्चर्यचकित हो उठता है। मय असुर माया के लिये भी प्रसिद्ध था और इन स्थानों में आज भी प्राचीन युग के गुप्त महलों में असंख्य धनराशि अभिमन्त्रित कर रखी हुई है। मेक्सिको के आचार–विचार, रहन–सहन, सिल–बट्टे का प्रयोग, भोजन का प्रकार, चपातियों का दाल–तरकारी के साथ खाना– सब कुछ आज भी भारतीय है। फलतः मेरी दृष्टि में समग्र अमेरिका की पाताल से पंहचान करना सर्वथा सत्य, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक है।

एक बात और भी इस विषय में ध्यान देने योग्य है– वह है वहॉ की स्थानीय जलवायु। अमेरिका के इस भाग की जलवायु समशीतोष्ण है... न अधिक गरम और न अधिक ठंडा। पुराण वर्णित सूर्य–चन्द्र के मर्यादित व्यवहार का यह सर्वथा प्रमापक माना जा सकता है। गरमी का कम होना तथा शीत का भी मर्यादित रूप इस पुराण निर्दिष्ट वैशिष्ट्य का स्पष्टतः द्योतक माना जा सकता है। पुराण का कथन है कि पाताल लोक भारतीयों के लिये अगम्य और अव्यवहार्य नही थे, परन्तु वहॉ से हमारा व्यवहार भी चलता रहा–

सप्तैवमेते कथिता व्यवहार्या रसातलाः।
देवासुरमहानागराक्षसाध्युषिताः सदा ।। – वायु0, 50 अ0, 54।

निष्कर्ष यह है कि पाताल का पौराणिक वर्णन कल्पनाप्रसूत न होकर अनुभवाश्रित है। ये सच्चे भू–भाग की भौगोलिक इकाई है, जहॉ आर्यो का गमनामगन होता था। यह तो भूगोल के पाठकों को अज्ञात नही है कि साइबेरिया का पूरबी प्रदेश उत्तरी अमेरिका के अलास्का नामक उत्तरी प्रदेश से किसी समय बिल्कुल ही संलग्न था। फलतः पाताल लोकों में जाने का रास्ता इधर से स्थल मार्ग से भी था; यह मानना अनुमान–विरुद्ध नही कहा जा सकता।

मेक्सिको के निवासियों के आचार–विचार के विषय में 'दीवान चमन लाल' रचित 'हिन्दू अमेरिका' नामक अंग्रेजी पुस्तक, जिसके बड़े संस्करण में वहाँ की कलाकृतियों के नमूने भी प्रचुरता से दिये गये हैं, के संक्षिप्त संस्करण में ग्रन्थकार ने अपनी दीर्घकालीन खोजों के आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस पुस्तक का लघु संस्करण विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित है।

स्पेन के इतिहास से भी इन जातियों में से अन्यतम जाति 'इन्का' लोगों का जो अद्भुत वृतान्त मिलता है, उससे भी उक्त पहचान की पुष्टि होती है। सन् 1533 ई० में दक्षिणी अमेरिका के एक विशाल भू–भाग पर जहाँ आजकल पेरु, इक्वाडोर, चिली और अर्जेन्टाइना के कुछ हिस्से हैं, वहाँ 'अताहुआल्पा' नामक राजा राज्य करता था। इसके पूर्वज 'इन्का' जाति के सम्राट थे, जिनका सार्वभौम राज्य पूरे देश पर था। उस सम्राट की राजधानी का विपुल वैभव देखकर आज आश्चर्य होता है, परन्तु बात बिलकुल ठीक है कि सम्राट के प्रमुख पथ और महल की दीवारें सोने के पत्तरों से जड़ी हुई थीं।

मय असुर के विशाल प्रासादों के निर्माता होने की बात भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध है। युधिष्ठिर के राजप्रसाद की रचना मय ने ही की थी, जिसके गच को देखने से भ्रम हो जाता था कि वह जल है या स्थल है। मेक्सिको में मय लोगों के प्रासाद भी इसी नमूने के हैं। इसके विषय में एक विशेषज्ञ की सम्मति यहाँ उद्धृत की जाती है, जिससे मय लोगों की शिल्पकला की प्रक्रिया का परिचय मिल जायेगा। भारतीय मय असुर के निर्माण तो केवल पुराणों में वर्णन के विषय हैं, परन्तु मेक्सिको देश के मय लोगों के निर्माण आज भी विद्यमान हैं और अपनी अनुपम कला के द्वारा वे वर्तमान वैज्ञानिक युग के इंजीनियरों को भी आश्चर्यचकित कर रहे हैं।

पाताल लोक में दैत्य, दानव तथा नाग लोगों का निवास है। सबसे निचले लोक– 'पाताल' में नागलोक हैं, जहाँ उसके अधिपति वासुकि, धृतराष्ट्र, धनन्जय, शंखचूड आदि महाभोग–सम्पन्न नागलोकाधिपति निवास करते हैं, जिनके फणों के ऊपर चमकने वाली

मणियों से उस लोक का अन्धकार सद्यः विदूरित किया जाता है (भाग0, 5/24/31)। भागवत के इस कथन के साक्ष्य पर पाताल लोक में नागलोगों का निवास सर्वथा समर्थित तथा प्रमाण–पुरःसर है। मेक्सिको तथा पेरु में नागलोगों का निवास था– यह वहाँ के इतिहास से समर्थित है। नागपूजा भी उस देश में प्रचलित थी। वोटन नामक उस देश का प्रथम ऐतिहासिक, जिसने उस जाति के उद्‌गम के विषय में एक ग्रन्थ लिखा है, अपने को उस ग्रन्थ में नाग बताता है तथा वहाँ के देशी नागरिकों को भी 'नाग' की संज्ञा देता है। पुराण का पूर्वोक्त वर्णन मध्य तथा दक्षिण अमेरिका में अक्षरशः चरितार्थ होता है। इतना ही नही; मेक्सिको के अंतिम शासक, जो 'अज्‌टेक' के नाम से पुकारे जाते हैं, नागदेवता के पूजक थे और बहुत संभव है कि यह शब्द 'आस्तीक' से ही उद्‌भूत हुआ है। यह नाम उस ऋषि का है, जिन्होंने अपने बुद्धि–वैभव से जनमेजय के नाग यज्ञ में सर्वाहुति होने से नागों को बचाया था। नाग के उपासक 'अजटेक' जाति का नामकरण नागों के उद्धारक तथा संरक्षक आस्तीक ऋषि के नाम पर पड़ा हो– यह कथमपि असम्भाव्य नही है। (आस्तीक का चरित्र महाभारत के आस्तीक पर्व में वर्णित है, जो आदिपर्व का एक अवान्तर पर्व 13 अध्याय से लेकर 58 अ0 तक फैला हुआ है। ये यायावर कुल के जरत्कारु ऋषि के पुत्र थे। नागराज वासुकि के भवन में इनका पोषण हुआ और उसी के प्रत्युपकार में इन्होंने जनमेय द्वारा उत्पीडित नागों को बचाया था। – आदिपर्व, 58 अ0।)

मेक्सिको– पूरु आदि अमेरिकन देशों का धन–वैभव, सोने से जड़ा हुआ महल तथा सड़कें इस बात का प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि ये देश नितान्त समृद्ध तथा धन–दौलत से भरे–पूरे थे। इन सब प्रमाणों को एकत्र करने से हम निःसन्दिग्ध निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमेरिका, विशेषतः मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका, पुराणों में बहुशः वर्णित अतुल धन–सम्पत्तिशाली पाताल लोक से भिन्न नही है। दोनों के सादृश्य–प्रतिपादक अन्य प्रमाणों का भी अध्ययन तथा अनुशीलन अभी भी करने योग्य है।

पुराण साहित्य में चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड का परिचय मिलता है, जिसका एक संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। भूलोक से लेकर सत्यलोक समग्र भूलोक और नीचे के

अधोभुवन सप्त प्रकार पाताल आदि इसी के अन्तर्गत हैं। इसी ब्रह्माण्ड का ज्ञाता व्यक्ति शास्त्रों में 'पुराणविद्' के नाम से प्रख्यात है। परन्तु आगमों से पता चलता है कि इससे भी विस्तृत तथा विशाल ब्रह्माण्डों की सत्ता विद्यमान है। तथ्य यह है कि केवल पृथ्वी तत्व के अन्तर्गत भुवनों की गणना पुराणों में है और उन भुवनों की समष्टि का नाम 'ब्रह्माण्ड' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। परन्तु तन्त्रों की दृष्टि में इस ब्रह्माण्ड के बाहर तथा इससे और भी विशाल अण्डों की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड संख्या में असंख्य हैं, परन्तु ब्रह्माण्ड से भी बाहर, ब्रह्माण्ड से भिन्न एक अण्ड है, जो 'प्रकृत्यण्ड' के नाम से प्रख्यात है। यह जल तत्व से लेकर प्रकृति तत्व के 23 तत्वों की समष्टि से बनता है। यह भी स्वयं असंख्य हैं। प्रकृत्यण्ड से भी ऊपर तद्भिन्न एक अन्य अण्ड है, जो मायाण्ड के नाम से विख्यात है। पुरुष–नियतिकाल–राग–विद्या–कला तथा माया– इन सात तत्वों की समष्टि से निर्मित अण्ड को 'मायाण्ड' कहते हैं। एक–एक मायाण्ड के भीतर असंख्य प्रकृत्यण्ड होते हैं। यह मायाण्ड पुरुष से लेकर पंचकंचुक और उनकी कारणरूपा माया से बना है। माया से बाहर ज्योतिर्मय. शुद्ध सत्त्वात्मक अण्ड है, जो 'शाक्ताण्ड' के नाम से प्रख्यात है। यह विद्यातत्त्वों की समष्टि से बना है अर्थात इस अण्ड के भीतर शुद्ध विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्वों को समष्टि विद्यमान रहती है। इन अण्डों के अधिष्ठाता पुरुषों की भी तन्त्रों में कल्पना है, ब्रह्माण्ड (या पार्थिवाण्ड) के अधिष्ठाता पुरुषों ब्रह्मा हैं, प्रकृत्याण्ड के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मायाण्ड के अधिष्ठाता रुद्र हैं। यहाँ तक तो रहता है माया का राज्य। अब इससे आगे शुद्धसत्त्वात्तमक सृष्टि आरम्भ होती है और इसीलिये ईश्वर और सदाशिव शाक्ताण्ड के अधिष्ठाता हैं। ईश्वर और सदाशिव तिरोधान और अनुग्रह शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर के ही दो कार्यानुरूप आधिकारिक नाम हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव– इन पाँचों अधिकौरी पुरुषों को तन्त्रों में 'पंच कारण' कहते हैं। विश्व के समस्त व्यापारों में अपने विशिष्ट अधिकार के अनुसार इन्हीं का प्राधान्य रहता है।

इस प्रकार तान्त्रिक साहित्य में वर्णित अण्डों से पौराणिक अण्ड (या ब्रह्माण्ड) की तुलना करने पर यह बहुत ही छोटा लघु स्थान को आवृत्त करने वाला प्रतीत होता है। इतने पर भी वह स्वयं अनन्त तथा असंख्य है। तान्त्रिक अण्डों को ध्यान में लेने पर इस महाब्रह्माण्ड की विशालता तथा असंख्यता मानव बुद्धि से अगोचर की वस्तु ठहरती है।

2.2.5. पुराणों में इतिहास

पुराणों में अनुश्रुति के आधार पर इतिहास का वर्णन किया गया है। इस इतिहास की सत्यता की जांच इतर प्रामाणिक शिलालेखों तथा मुद्राओं के द्वारा सिद्ध होती है। श्री काशी प्रसाद जायसवाल आदि अनेक विद्वानों ने पौराणिक अनुश्रुति की पर्याप्त परीक्षा कर यह परिणाम निकाला है कि ये वास्तविक रूप से सत्य हैं। इधर डा० मिराशी ने इस सत्यता के कतिपय दृश्टान्त प्रस्तुत किये हैं। उनके द्वारा पढ़े गये मुदालेखों से पुराणगत अनेक राजचरितों की सत्यता प्रमाणित होती है। वाकाटकों के विषय में वायु तथा ब्रह्मांड़ में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है, जिसकी सत्यता ताम्रपत्रों से सिद्ध होती है। पुराण राजा विन्ध्य शक्ति के पुत्र का नाम 'प्रवीर' बतलाता है, जो प्रवरसेन प्रथम ही प्रतीत होता है। उसके द्वारा वाजपेय तथा अश्वमेघ के अनुष्ठान का पौराणिक निर्देश वाकाटकों के ताम्रपत्रों से प्रमाणित सिद्ध होता है। उसके चार पुत्रों का पौराणिक उल्लेख भी सत्य ही प्रतीत होता है। यद्यपि उसके एक ही पुत्र (गौतमीपुत्र) होने की बात प्रचलित थी, परन्तु मुद्राओं के द्वारा उसके द्वितीय पुत्र 'सर्वसेन' की सत्ता भी पौराणिक उल्लेख को सत्य सिद्ध कर रही है। बहुत संभव है कि उसके अन्य दो पुत्रों के विषय में ऐतिहासिक सामग्री भविष्य में उपलब्ध हो। आन्ध्रों के विषय में भी पौराणिक अनुश्रुति प्रमाणिक सिद्ध हो रही है। पुराणों में पुलोमा वाशिष्ठी पुत्र नामक आन्ध्र राजा निर्दिष्ट है (पार्जिटर की सूची में 34वां नाम)। वायु पुराण के एक हस्तलेख में इस राजा के पुत्र 'शातकर्णि' का उल्लेख मिलता है, जो अन्य पुराणों में न मिलने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था; परन्तु कन्हेरी शिलालेख में इस राजा का 'शातकर्णि वाशिष्ठीपुत्र' नाम उल्लिखित हुआ है,

जो पुराण के साक्ष्य को प्रमाणित करता है। इनकी रानी महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री थी। इस घटना से पुराण का कथन सत्य सिद्ध होता है। आन्ध्रों के उत्तराधिकारियों में 'मान' नामक शक राजा का उल्लेख पुराणों में मिलता है। इस तथ्य की पुष्टी इसी राजा की मुद्रा से अभी हुई है, जो हैदराबाद के दक्षिण से प्राप्त हुई है। यह 'महिष्य' देश का शासक था, जो दक्षिण भारत का एक छोटा प्रान्त विशेष था। शिशुनाग, नन्द, शंग, कण्व, आन्ध्र तथा आन्ध्रभृत्य, मित्र, नागवंशी राजाओं की समग्र ऐतिहासिक सामग्री उपलब्धि पुराणों की देन है। यह विषय इतना विख्यात है कि आज इसे पुष्ट तथा प्रमाणित करने के निमित्त उदाहरण देने की आवश्यकता नही है।

पुराणों की अनुश्रुति में संभव है कि कहीं–कहीं गड़बड़ी हो तथा घटनाएं आपस में मिश्रित कर दी गई हों, परन्तु सूतों ने राजाओं की वंशावली को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा है। इन वंशावलियों में एक नाम वाले अनेक राजा हुए है। इन नामों में अशुद्धि की सम्भावना को दूर करने के लिये पुराणों में ऐसे नामों का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। यथा 'नल' नामक दो राजा हुए– एक तो थे नैषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र तथा दूसरे थे इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न। 'मरुत' नामक दो राजा हुए– करन्धम के पुत्र तथा दूसरे अविक्षित के पुत्र, जो प्राचीन काल में एक महान नरेश गिने जाते थे और जिनके महाभिषेक का वर्णन, ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंचिका में किया गया है। इसी प्रकार ऋक्ष, परीक्षित तथा जनमेजय दो–दो हुए तथा भीमसेन तीन हुए।

पौराणिक अनुश्रुति इतनी तथ्यपूर्ण है कि यदि शिलालेखों, ताम्रपत्रों अथवा मुदाओं के आधार पर अब तक उसकी पुष्टि नही हुई, तो यह असंभव नही है कि भविष्य की खोजों से उनकी पुष्टि न हो सके। इतना अवश्य है कि वह अनुश्रुति अधिक साक्ष्य के ऊपर आधारित होनी चाहिये। पार्जीटर इस विषय के उन्नायक नेता हैं, जिनके महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ– एन्श्येन्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति) ने पुराणों के अन्तरंग ऐतिहासिक महत्व को विद्वानों के सामने प्रमाणभूत तथा यथार्थ सिद्ध किया है।

वंश

पुराणों में जितने वंशों का वर्णन है, उन सबका प्रारम्भ 'मनु' से होता है। मनु की सन्तति होने से ही सब मनुष्य 'मानव' की संज्ञा से पुकारे जाते हैं। यों तो मनुओं की संख्या 14 है (जिनका विवरण मन्वन्तर के प्रसंग में पूर्व ही किया गया है), परन्तु वंश के प्रतिष्ठापक की दृष्टि से दो मनु विशेष महत्वशाली हैं– (1) स्वायम्भुव मनु (प्रथम मनु) तथा (2) वैवस्वत मनु (सप्तम तथा इस समय प्रचलित् मनु)। स्वायम्भुव मनु ब्रह्मा के प्रथम पुत्र तथा पृथ्वी के प्रथम सम्राट थे। मनु की पत्नी 'शतरूपा' थी, जिनसे उनके 'उत्तानपाद' तथा 'प्रियव्रत' नामक दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामक तीन कन्याएं हुईं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को समस्त पृथ्वीमंड़ल का शासन सौंप दिया। उत्तानपाद की दो पत्नियां थी– सुनीति तथा सुरूचि। जिनमें सुनीति के पुत्र थे– ध्रुव तथा सुरूचि के पुत्र थे– उत्तम। इन दोनों का शासनकाल कुछ ही दिनों तक था। प्रियव्रत की दो पत्नियां थी– (1) प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री 'बर्हिष्मति; (2) अज्ञातनामा पत्नी। भागवत के अनुसार बर्हिष्मति से 10 पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम हैं– आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेतस्, धृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वितिहोत्र तथा कवि। प्रियवत ने रात्रि को भी दिन मे परिणत करने के उद्देश्य से एक ज्योतिर्मय रथ पर बैठकर सूर्य के पीछे–पीछे पृथ्वी की सात परिक्रमा की। उनके रथ के पहियों से जो लीकें पृथ्वी पर बनी, वे ही सात समुद्र के रूप में परिणत हुई और उनसे पृथ्वी में सात द्वीप हुए– (1) जम्बू, (2) प्लक्ष, (3) शाल्मलि, (4) कुश, (5) क्रौंच, (6) शाक तथा (7) पुष्कर। इन्हीं सात द्वीपों में अधिपति प्रियव्रत के सातों पुत्र हुए (तीन पुत्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे)। इस प्रकार मनु के इन पौत्रों ने समग्र पृथ्वीमंडत्रल अपना राज्य स्थापित किया तथा इन द्वीपों पर विधिवत शासन किया। प्रियव्रत की दूसरी रानी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए– उत्तम, तापस और रैवत। ये तीनों ही तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम मन्वन्तरों के क्रमशः अधिपिति हुए। मनु की तीनों कन्याओं से प्रजा का विशेषेण विस्तार सम्पन्न हुआ।

इस वंश का आदिर्भाव बहुत ही प्राचीन काल में हुआ। इसमें अनेक बलशाली तथा कीर्तिसम्पन्न शासक हुए, जिनकी गाथा आज भी हमारे लिये प्रेरणा का स्रोत है। ऐसे शासकों में प्रियव्रत, ऋषभ, नाभि, भरत (जिनके नाम पर पूर्व में 'अजनाभ' नाम से विश्रुत यह वर्ष भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ), ध्रुव, भद्राश्व, पृथु आदि शासकों का नाम नितान्त प्रख्यात तथा महत्वसम्पन्न है।

'वैवस्वत मनु' के वंशजों का विवरण पौराणिक इतिहास का मेरुदण्ड है। आज प्रचलित मन्वन्तर के ये ही अधिपति हैं। मनु सूर्यवंश के प्रथम राजा थे। इन्हीं से चन्द्रवंश तथा सौद्युम्न वंश भी चला। मनु के नव पुत्र थे, (भागवत ने मनुपुत्रों की संख्या दश बताई है) तथा एक कन्या थी। इन पुत्रों के नाम हैं– (1) इक्ष्वाकु, (2) नाभाग, (3) नृग, (4) धृष्ट, (5) शर्याति, (6) नरिष्यन्त, (7) प्रांशु, (8) नाभानेदिष्ट (9) कारुष तथा (10) पृषध्र। इन पुत्रों ने भारतवर्ष के भिन्न–भिन्न प्रान्तों में जाकर अपना शासन स्थापित किया।

(1) इनमें से ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु मनु के उत्तराधिकारी होकर मध्य देश के शासक हुए, जिनसे प्रमुख सूर्यवंश चला। राजधानी उनकी अयोध्या नगरी थी, जो इस प्रकार आरम्भ से भारतीय संस्कृति तथा विद्या की केन्द्रस्थली थी।

(2) मनु के पुत्र 'नाभानेदिष्ट' (संख्या 8) ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में एक वंश की स्थापना की।

(3) मनु के पुत्र 'कारुष' (संख्या 9) ने बिहार दक्षिण–पश्चिम तथा रीवां राज्य के पूर्व सोननद के तट पर एक राज्य स्थापित किया, जो रामायण काल में बिहार के शाहाबाद जिले को भी समाविष्ट करता था।

(4) मनु के पुत्र 'धृष्ट' (संख्या 4) के वंशजों ने पूर्वी पंजाब पर अपना अधिकार किया।

(5) मनु के पुत्र 'नाभाग' (संख्या 2) ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक राज्य की स्थापना की।

(6) मनुपुत्र 'शर्याति' (संख्या 5) ने आनर्तदेश (उत्तर सौराष्ट्र) में अपना राज्य स्थापित किया। इन्होंने अपनी पुत्री सुकन्या को च्यवन ऋषि से ब्याही थी, जिन्होंने अश्विनों की कृपा से एक विशिष्ट रसायन का (जो इन्हीं के नाम पर 'च्यवनप्राश' के नाम से प्रख्यात हुआ) सेवन कर वार्धक्य से यौवन प्राप्त किया था।

(7) मनुपुत्र नरिष्यन्त (संख्या 6) के वंशज भारतवर्ष के बाहर मध्य एशिया तक चले गये और 'शक' नाम से प्रख्यात हुए।

(8) मनुपुत्र 'पृषध्र' (संख्या 10) अपने गुरू च्यवन की गाय मारने के कारण शूद्र हो गये और उनसे कोई राजवंश नही चला। मनुपुत्र 'प्रांशु' (संख्या 7) के विषय में कोई विशेष विवरण प्राप्त नही होता।

मनुपुत्र इला का पौराणिक वृत्त बड़ा विलक्षण है। इस इला का विवाह सोम (चन्द्र) के पुत्र बुध से हुआ था। इससे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अला से उत्पन्न होने के कारण 'ऐल' कहलाया तथा सोम से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रवंश का प्रवर्तक हुआ। पुराण की कथा है कि शिवजी के प्रसाद से इला पुनः पुरूष हो गयी , जिसका नाम पड़ा'सुद्युम्न'। मूल राजधानी प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान प्रयाग के पास झूँसी) छोड़कर वह मगध की ओर पूरब की तरफ चला गया। जिधर इसके तीनों पुत्रों ने अपने लिये शासन क्षेत्र प्रस्तुत कर लिया। 'गय' ने वर्तमान गया नगरी बसायी और मगध पर राज्य किया। 'उत्कल' के नाम पर उत्कल प्रान्त का नामकरण हुआ, जहाँ इसके वंशजों ने अपना राजय कायम किया। 'हरिताश्व' का राज्य पूर्व के प्रदेशों पर था, जो कुरुओं के राज्य का सीमाावर्ती राष्ट्र था। इन तीनों पुत्रों के वंशज 'सौद्युम्न' नाम से विश्रुत हुए। फलतः एक ही मनु से तीन राजवंश चले– (1) सूर्यवशं अयोध्या में ; (2) चन्द्रवंश, प्रतिष्ठानपुर मे तथा (3) सौद्युम्न वंश भारत के पूर्वी–दक्षिणी प्रान्त में। मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु के वंशजों ने भारतवर्ष के भीतर तथा बाहर जाकर अपना राज्य स्थापित किया और आर्य संस्कृति का प्रसार किया। इनके समुल्लेख इस प्रकार हैं–

(1) इक्ष्वाकु के पुत्र 'निमि' ने उत्तर-पूर्व बिहार में विदेहकुल की स्थापना की। इसी वंश में एक राजा ने मिथिला की प्रतिष्ठा कर उसे अपनी राजधानी बनाया। यहां के सब राजा 'जनक' नाम से अभिहित होते थे।

(2) इक्ष्वाकु के पुत्र दण्ड' ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसंधान किया, जो उन्हीं के नाम से 'दण्ड़कारण्य' कहलाया।

(3) इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया तथा वसति के 48 वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।

(4) इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र 'विकुक्षि' के 22 वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (आजकल का साइबेरिया) पर अधिकार किया तथा उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया।

भारतवर्ष के भीतर आर्यो के प्रसार का पूर्ण वृत्त पुराणों के आधार पर तैयार किया गया है, जो अपनी ऐतिहासिकता तथा सत्यता के लिये वैदिक वृत्त से पूर्ण सांमजस्य रखता है। (इन तथ्यों के पौराणिक आधार के लिये दृष्टव्य- (1) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 54, संख्या 2006, पृष्ठ 65 -67, (2) डा. पुसालकर का सुचिन्तित लेख- आर्यन एक्सपेन्शन इन इंडिया, पुराण बुलेटिन, रामनगर, वर्ष- 6, संख्या- 2, पृष्ठ 307-332)

इक्ष्वाकु की वंशावली

यह वंशावली बड़ी सुव्यव्था के साथ पुराणों में दी गई है। यह सूची वायु, ब्रह्मांड, विष्णु, भागवत, गरुड़, विष्णुधर्मोत्तर तथा देवी् भागवत; ब्रह्म, हरिवंश एवं शिव; कुर्म तथा लिंग; मत्स्य, पद्म तथा अग्नि- इन पन्द्रह पुराणों-उपपुराणों में मिलती है।

'इक्ष्वाकुवंश' नाम में वंश शब्द का तात्पर्य क्या है? वंश शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न सन्दर्भो में भिन्न-भिन्न अर्थो में होता है। 'वंश ब्राह्मण' में वंश शब्द

गुरू–शिष्य सम्बन्ध को द्योतित करता है। 'ऋषिवंश' में वंश शब्द मूल ऋषि के वंश में होने वाले प्रवर ऋषियों की सूचना देता है, परन्तु उनकी क्रमशः स्थिति का संकेत नही करता। 'बुद्धवंश' पालि का एक विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसमें बुद्धत्व प्राप्त करने वाले प्रधान महामानवों की संख्या की गई है। 'इक्ष्वाकु वंश' में 'वंश' शब्द कुल–परम्परा के लिये प्रयुक्त नही है, प्रत्युत शासक परम्परा के लिये ही व्यवहृत है।

इक्ष्वाकु वंश के प्रसिद्ध राजाओं में पृथु, धुन्धुमार, मुचकुन्द, सत्यव्रत, हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, नाभाग, सुदास, रघु, दशरथ, राम, क्षेमधन्वा, वज्रणाभ आदि उल्लेखनीय हैं। वृहदबल इक्ष्वाकु वंश का अंतिम महाभारतकालीन शासक था। यह महाभारत युद्ध में अभिमन्यु द्वारा मारा गया।

चन्द्रवंश का उदय

कहा गया है कि सुर्यवंश के समान चन्द्रवंश भी मनु से ही आरम्भ होता है। अन्तर इतना ही है कि सूर्यवंश ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु से चलता है और चन्द्रवंश पुत्री इला से चलता है। इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुद्ध के साथ सम्पन्न हुआ और इसलिये यह वंश चन्द्रवंश के नाम से विख्यात है। इस विवाह से उत्पन्न हुए राजा पुरूरवा, जो चन्द्रवंश के संस्थापक के रूप में गृहीत किये गये है। 'पुरूरवा' तथा अप्सरा उर्वशी की प्रणयकथा ऋग्वेद (10/90) में उल्लिखित है तथा इस कथा को ही कालिदास ने अपने 'विक्रमोर्वशीय' का आधिकारिक वृत्त बनाया। पुरूरवा की राजधानी 'प्रतिष्ठान' थी (आधुनिक प्रयाग के समीपस्थ झूंसी), जहां चन्द्रवंश की प्रधान शाखा शासन करती रही। पुरूरवा का ज्येष्ठ पुत्र आयु तो प्रतिष्ठान में राज्य करता था और उनके भाई 'अमावसु' ने पश्चिम में एक राज्य स्थापित किया, जिसकी राजधानी पीछे चलकर कान्यकुब्ज नगर हुई। आयु के ही पुत्रपंचक में ज्येष्ठ पुत्र था 'नहुष', जो अपने हठ के लिये संकट पाने वाले व्यक्तियों के लिये उपमान माना जाता है (हठ बस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेश)। आयु के द्वितीय पुत्र 'क्षत्रवृद्ध' ने काशी में अपना राज्य स्थापित किया। नहुष के ही प्रधान पुत्र हुए– 'ययाति',

जो अपने युग के एक महान पराक्रमी, चक्रवर्ती राजा माने गये हैं। इनके अग्रज यति ने मुनि होकर अपना राज्याधिकार छोड़ दिया; तब राज्य ययाति को प्राप्त हुआ। ययाति की दो रानियां थी–

(1) देवयानी भार्गवी (शुक्राचार्य की पुत्री), जिसकी सन्तान है यदु तथा तुर्वसु।

(2) शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी (असुरों के राजा वृषपर्वा की पुत्री), जिसके पुत्र हैं– द्रुह्यु, अनु तथा पुरु।

ययाति ने अपने पांचों पुत्रों में अलग–अलग शासन क्षेत्र का विभाग कर दिया (वायुपुराण, 93/87–90)। इन्हीं पांचों पुत्रों से पांच प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों का उदय हुआ।

इन पांचों वंशों में पुरू तथा यदु का वंश बड़ा प्रभावशाली हुआ। इसमें अनेक प्रतापी तथा प्रभावशाली राजा हुए, जिन्होंने भारतवर्ष के इतिहास में अपनी विशिष्ट स्थिति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की। यदु के पुत्रों में दो वंशकर्ता हुए– जिनके दो वंश चले–

(क) क्रोष्टुशाखा– (मत्स्य पुराण, 44/14) में आगे चलकर भीम सत्त्वत नामक राजा हुआ, जिनके दो पुत्रों ने अन्धक तथा वृष्णि वंश को चलाया।

(1) अन्धकशाखा = सात्त्वत– अन्धक– कुकुर– वृष्णि – घृति – कपोत – रोमा – तैत्तिरि (= विलोमन) – नल (तैत्तिरि के दौहित्र) – अभिजीत (= अभिजात) – पुनर्वसु – आहुक (जिनकी भगिनी आहुकी अविन्तनरेश को ब्याही थी) – उग्रसेन (मथुरा का राजा) – कंस (नव भ्राताओं में से अग्रज)।

(2) वृष्णिशाखा– सात्त्वत – वृष्णि (इनकी दो स्त्रियां थी– गान्धारी तथा माद्री)। इनमें से माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे देवमीढुष्, जिनके पुत्र थे– शूर – वसुदेव – बलराम तथा कृष्ण। गान्धारी नाम भार्या से वृष्णि को पुत्र हुआ सुमित्र या अनमित्र – निघ्न – प्रसेन तथा सत्राजित्। इसी प्रसेन को सूर्य की तीव्र उपासना के फल से स्यमन्तक नामक मणिरत्न प्राप्त हुआ, जिसकी विस्तृत कथा मत्स्य (45, अ0) भागवत (10/56) विष्णुपुराण

(4 अंश, 13 अ0) में विशदता के साथ दी गई हैं। सत्राजित् की ही कन्या सत्यभामा थी, जो श्रीकृष्णचन्द्र की प्रियाओं में श्रेष्ठ मानी जाती थी।

माद्री के पुत्रों में अन्यतम थे– युधाजित्, जिनके पुत्र थे– पृश्नि – श्वफल्क – अक्रूर। इस प्रकार श्रीकृष्ण का सम्बन्ध वृष्णि शाखा के साथ था और तदन्तर्भुक्त होने से अक्रूर भी श्रीकृष्ण के निकट दामाद लगते थे। सत्राजित् की हत्या कर शतधन्वा के साथ अक्रूर ने भी स्यमन्तक छीन लिया था, जिसका विस्तृत वर्णन विष्णुपुराण के गद्यभाग (अंश 4, अ0–13) में बड़ी रोचकता के साथ किया गया है।

(ख) हैहय शाखा– यदु के पुत्र सहस्राजित् – शतजित् – हैहय – धर्मनेत्र – कुन्ति – संहत – महिष्मान – रुद्रश्रेण्य – दुर्लभ – कनक – कृतवीर्य – अर्जुन (सहस्रबाहु कार्तवीर्य) – जयध्वज – तालजंघ – (इनके 100 पुत्र, जो 'तालजंघ' के नाम से विश्रुत थे) – वीतिहोत्र – आनर्त – दुर्जेय – सुप्रतीक (मत्स्य पुराण, 43 अ0 तथा वायु0 94 अ0)। इस हैहय शाखा में कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन बड़ा ही पराक्रमशाली था और उसने हैहयों की क्षीण शक्ति को पुनः उद्दीप्त किया। वह बहूत ही बड़ा विजेता था। उसने 'कर्कोटक' नागों से माहिष्मती छीन ली तथा नर्मदा से लेकर हिमालय तक उसने सब प्रदेशों पर विजय की। लंका के राजा रावण को, जो उत्तर भारत पर चढ़ आया था, पकड़कर माहिष्मती में कंई वर्षों तक कैद में रखा। हैहयों का भार्गव पुरोहितों से बड़ा संघर्ष चलता था। कार्तवीर्य ने भी जमदग्नि की हत्या की, जिसका पूरा बदला उनके पराक्रमी पुत्र परशुराम ने लिया। कार्तवीर्य विषयक अनेक गाथायें पुराणों में संगृहीत हैं, जिनमें उसके अतुल पराक्रम तथा अलौकिक योगशक्ति का परिचय मिलता है। योगविद्या को महर्षि दत्तत्रेय ने इसे सिखलाया था। कालिदास ने इस राजा के विपुल प्रभाव का उल्लेख रघुवंश के षष्ठ सर्ग में किया है।

(1) तुर्वसुवंश– ययाति के अन्यतम पुत्र थे– तुर्वसु, जिससे यह वंश थोड़े ही दिनों तक चला, क्योंकि पिता के द्वारा अभिशप्त होने के कारण यह वंश अचिरस्थायी रहा।

इनके विषय में मत्स्य पुराण ने एक विचित्र बात का उल्लेख किया है कि पाण्ड्य, चोलख केरल तथा कूल्य लोग अपनी उत्पत्ति तुर्वसु वंश से ही मानते हैं–

पाण्ड्यश्च केरलश्चैव चोलः कर्णः ? (कूल्य) तथैव च।
तेषां जनपदाः स्फीताः पाण्डयाश्चोलाः सकेरलाः।।
–मत्स्य0, 48/5

इस पौराणिक उल्लेख का तात्पर्य बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। तुर्वसु लोग प्रथमतः पश्चिम की ओर बढ़े और सिन्धु की घाटी में अपने को प्रतिष्ठित किया। यहाँ से वे दक्षिण की ओर गये और द्रविड जाति के पूर्वज बने। यदि यह तथ्य अन्य पुराणों से भी सिद्ध हो जाये तो द्रविडों का आर्यों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित हो जाये।

(2) द्रुह्युवंश– ये द्रुह्यु शर्मिष्ठा तथा ययाति के पुत्रों में अन्यतम थे। द्रुह्यु के वंश में चौथी पीढ़ी में गान्धार नामक राजा हुआ। इसी ने अपने नाम पर गान्धार देश को बसाया, जहाँ इसके पूर्वज पहले से पश्चिमोत्तर प्रान्त में शासन कर रहे थे। द्रुह्यु लोग बड़े साहसी थे। इन्होंने भारतवर्ष के बाहर जाकर म्लेच्छ देशों में भी अपने राज्य स्थापित किये। फलतः ययाति के पुत्रों में द्रुह्यु लोगों में विशेष साहस तथा पराक्रम दृष्टिगोचर होता है।

प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव हि।
म्लेच्छराष्ट्राधिपा द्रुह्युदीचीं दिशमाश्रिताः।।
–मत्स्य0, 48/9

इसकी व्याख्या यह है– द्रुह्यु के दो पुत्रों में अन्यतम था सेतु। शरद्वान – गन्धार – धर्म – घृत – प्रचेता और इसी प्रचेता के पूर्वश्लोकसंकेतित एक सौ पुत्रों ने मलेच्छ राष्ट्रों में शासन स्थापित किया। गन्धार तो आजकल का अफगानिस्तान है, जिसका एक प्रधान प्रान्त कन्दहार है। मत्स्य पुराण में लिखा है कि आरट्ट देश के घोड़े सबसे बढ़िया नस्ल के होते हैं।

पौरव वंश

पौरव वंश की वंशावली पुराणों मे विस्तार से दी गई है। इस वंश के कतिपय महत्त्वशाली राजाओं में ययाति, दुष्यन्त, भरत दौष्यन्ति, रन्तिदेव, हस्ति कुरू, कुरूसंवरण तथा शान्तनु आदि हैं।

आर्यो का मूल स्थान

आर्यो के मूल स्थान के विषय में पुराणों के भीतर विपुल सामग्री उपलब्ध होती है। उसका अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पुराण आर्यो का मूल स्थान मध्य देश में ही मानता है। पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष प्रस्तुत है–

(1) आर्यो के दो प्रधान कुल थे– सूर्यवंशी क्षत्रियों की राजधानी थी अयोध्या तथा चन्द्रवंशिंयों की राजधानी थी प्रतिष्ठान (प्रयाग)। इन्हीं दोनों नगरों के बीच में आर्यो का मूल स्थान था। ये लोग अपने मूल केन्द्र अयोध्या तथा प्रतिष्ठान से ही पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले।

(2) आर्यो ने कालक्रम से केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके सम्पूर्ण उत्तरापथ पर ही अपना अधिकार नही जमाया, प्रत्युत वे भारत के बाहर भी पश्चिमोत्तर के गिरि भागों को पार कर, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, ईरान तथा भूमध्य सागरीय प्रदेश तक फैल गये। इस बढ़ाव की सूचना वैदिक मन्त्रों से भी मिलती है।

(3) पुराण की बातों का समर्थन वेद में भी उपलब्ध होता है। दोनों के जाति–विस्तार की सूचना में नितान्त साम्य है। पुराणों में चन्द्रवंशी राजा ययाति के पुत्रों तथा उनके वंशजों पुरू, यदु, द्रुह्यु, अनु, तुर्वसु का इतिहास विस्तार से वर्णित है। पुराण में पांचाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्ध का वर्णन है। वेदों में भी सुदास और पंजाब की दश जातियों के बीच होने वाले 'दशराज्ञ' युद्ध का उल्लेख मिलता है। फलतः पुराण तथा वेद में उल्लिखित घटनाओं की एकता तथा समानता स्पष्टतः

अनुमानगम्य है। फलतः न पुराण आर्यों को बाहर से आने वाली जाति मानने के पक्ष में है और न वेद ही इसके पक्ष में है।

महाभारतोत्तर राजवंश (कलिवंश वर्णन)

पुराणों की वंशावली इतिहास के लिये प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती है। महाभारतोत्तर राजवंशों का विवरण महाभारत–पूर्व वंशावली की अपेक्षा अधिक प्रमाणित है। छठी शती ई० पू० के लगभग का इतिहास जानने के लिये पुराणों का आधार लेना ही पड़ता है। शुंगों, कण्वों, आन्ध्रों आदि के ऐतिहासिक ज्ञान का मुख्य आधार तो पुराण ही हैं। इस युग का पुरावृत्त मुद्रा, अभिलेख तथा साहित्य से बहुविधि प्रमाणित है। कलिजन्य अराजकता का वृतान्त हूणों द्वारा की गई देश की तबाही का प्रतिबिम्ब है। पुराणों में राजवंशों के वृतान्त का संकलन चारण और भाटों में प्रचलित जनश्रुतियों के आधार पर किया गया है। संकलन में प्रायः उन्हीं राजाओं पर ध्यान दिया गया है, जो मगध के केन्द्र से देश को शासित करते थे या मगध की राजनीति से आबद्ध थे। पौरव और इक्ष्वाकु का वृतान्त अभी तक पूरी तरह इतिहास–सम्मत नही हो पाया है, क्योंकि इनके विवरणों में अनैतिहासिक जनश्रुतियां अधिक हैं।

बार्हद्रथ, प्रद्योत और शैशुनागवंश

बृहद्रथ ने राज्यगृह में मगध साम्राज्य की स्थापना की थी। यह जरासंध के पुत्र सहदेव के वंश का था। पुराणों के अनुसार बार्हद्रथ वंश के 32 राजाओं ने मगध का शासन लगभग एक हजार वर्षों तक किया। शिशुनागवंश का अंतिम राजा पुराणों के अनुसार महापद्मनन्द था। उसका नाम या उपनाम उग्रसेन भी था। मत्स्य पुराण के अनुसार नन्द वंश का उन्मूलन चाणक्य के सहयोग से हुआ।

मौर्य वंश

पुराणों से मौर्यों का वंशक्रम जानने में बड़ी सहायता मिलती है। मौर्यों का वंशानुक्रम वायु0 (अध्याय 99), मत्स्य (अ0 272), ब्रह्मांड (अ0 3), विष्णु0 (अ0 4/24) और भविष्य (12/1) पुराणों में वर्णित है।

शुंगवंश— शुंगों और कण्वों के ऐतिहासिक वृत्त का मुख्य आधार पुराण हैं। इनका इतिहास मत्स्य, वायु, ब्रह्मांड और भविष्य पुराणों से मिलता है।

कण्व वंश— शुंगों का विनाश इस वंश के अंतिम राजा देवभूमि या देवभूति को मारकर इसके आमात्य वसुदेव द्वारा हुआ। कण्व राजाओं की उपलब्धियों के विषय में पुराण मौन हैं। सातवाहनों को पुराणों में आन्ध्र या आन्ध्रजातीय कहा गया है। इससे लगता है कि इनका मूल स्थान गोदावरी और कृष्णा नदियों की घाटी में था। इस वंश का संस्थापक 'सिमुक' है।

सातवाहनों के परवर्ती राजवंश

पुराणों में राजवंशावली का संकलन मुख्यतः सातवाहनों के शासनकाल में (यज्ञश्री के शासनकाल में) लगभग पूरा हो चुका था। अतएव परवर्ती राजवंशों का अत्यन्त संक्षिप्त और अल्प विवरण ही पुराणों में उपलब्ध है। क्षेत्रीय राजवंशों में, जिनकी चर्चा पुराणों में प्रमुख रूप से है, गर्दभिन् या गर्दभिल, शक, तुषार, मरुण्ड, हूण, आभीर, श्रीपर्वतीय आदि हैं। इनके अतिरिक्त वाकाटक, मग और नैषध राजवंशों की विशेष चर्चा वायु और ब्रह्मांड पुराण में है। गुप्तों के मूल स्थान या प्रारम्भिक शासन क्षेत्र के विषय में वायु पुराण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

अनुगंग प्रयागं च साकेतं मगधन्तथा।
एतान् जनदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।।

—वायु0, 99/283

गुप्त साम्राज्य की यह स्थिति संभवतः चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में भी थी। इसके बाद के गुप्तों का विवरण पुराणों में उपलब्ध नही।

दिल्ली स्थापना सम्बन्धी व अकबरकालीन तथ्य

अच्छे मुहुर्त में दुर्ग द्वार पर देहली को सुरक्षित किया था। वही सुकाल के अन्त में योजनान्त में वृद्धि रूप हो गयी थी। उस राजा ने विस्मित होकर उसका नाम 'देहली' ही रख दिया था। वह राजा की आज्ञा से 'देहलीग्राम' ऐसा प्रसिद्ध हो गया था। भविष्य 2, 27–28/433.

अकबर के जन्म के विषय में भविष्य पुराण में उल्लेख है कि अकबर के जन्म से पूर्व भविष्यवाणी हुई थी। इस प्रकार की आकाशवाणी का श्रवण करके हुमाँयू अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। उस हुमाँयू ने भूख से पीडितों को दान दिया था और अपने पुत्र का बड़े प्रेम से पालन किया था। जब वह पुत्र दश वर्ष का हो गया था, तब देहली में आ गया था। उसने शेष शोक को पराजित कर वह वहाँ का राजा हो गया था। अकबर को राज्य प्राप्त होने पर जो प्रिय शिष्य पहले जन्म में परम मुख्य थे, इस समय राजा के पास उपस्थित हुए थे।

तत्कालीन विद्वानों, साहित्कारों, व संगीतज्ञों का भी उल्लेख भविष्य पुराण में मिलता है। केशव, तानसेन, बैजवाम्स, माधव– वे म्लेच्छ कहे गये। वहाँ ही हरिदास तथा मध्वाचार्य के कुल में उत्पन्न हुए जो वैष्णव थे तथा समस्त रोगों के ज्ञाता थे। विल्वमंगल नाम वाला भी उस राजा का सखा था। यह नायिका भेद का बड़ा पंडित तथा वेश्याओं का परिगामी था।

मदन नाम वाला जो था वह भी इस जन्म में ब्राह्मण ही होकर उत्पन्न हुआ था। यह पौर्वात्य था और नर्तक था। चन्दन नाम से जो विख्यात था वह रहस्य क्रीडा का महान पंडित था। अन्य देश में जो शिष्य गये थे, उनके पूर्व ये तरह थे। अनूप का पुत्र उत्पन्न हुआ था जो शत्रु वेपित श्रीधर था। तुलसी शर्मा इन नाम से विख्यात हुआ था जो पुराणों

में परम निपुण और कवि था। नारी की शिक्षा को ग्रहण कर राघवानन्द के पास आ गया था। यह रामानन्द का शिष्य हो गया और काशी में रामानन्द के मत का अनुयायी बनकर रहने लगा। वह श्रीपति अन्धा हो गया था और मध्वाचार्य के मत में स्थित हो गया था। यह सूरदास के इस नाम से जाना गया था और यह कवि था जिसने कृष्ण लीला के पदों की रचना की थी। यह मधुमति समुत्पन्न हुआ जो कीलक इस नाम से प्रसिद्ध था। यह बुद्धिमान रामानन्द के मत में स्थित होकर रामलीला किया करता था। विमल उत्पन्न हुआ, यह दिवाकर नाम से प्रसिद्ध हुआ था। यह भी स्वामी रामानन्द मत का अनुयायी था और सीता की लीला किया करता था। देववान केशव उत्पन्न हुआ था जो कि विष्णु स्वामी के मत का अनुयायी हुआ था। इस केशव कवि ने 'केशवप्रिया' आदि ग्रन्थों की रचना की थी जिससे इसे स्वर्ग की प्रप्ति हुई थी। वर्द्धन चरणदास के नाम वाला समुत्पन्न हुआ था। इसने ज्ञानमाला मय ग्रन्थ की रचना की थी। बर्तक उत्पन्न हुआ था जो कि शेषण के मत का अनुयायी हुआ था। 'रत्नाभूषण' इस नाम से जानने के योग्य हुआ था। इसने जैमिनी की भाषा की रचना की थी। रूचि रोचन नाम से समुत्पन्न हुआ था जो कि मध्वाचार्य के मत के अनुसार करने वाला था। इसने अनेक ज्ञानमयी लीलाओं की रचना की थी और अन्त में यह स्वर्गलोक में चला गया। मध्वाचार्य ने भागवत की थी। मानकर नारी भाव में रहा करता था इसलिये वह नारी देह को प्राप्त हुआ था। यह नारी 'मीरा' इस नाम से विख्यात हुई थी जो कि एक राजा की शुभ पुत्री थी। भविष्य 2, 18–41/271–274.

2.3 सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

अनुसंधान के व्यापक अध्ययन के लिये उस अनुसंधान से संबंधित साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक होता है। प्रत्येक शोधकर्ता को यह ज्ञान होना चाहिये कि उसके अन्वेषण के क्षेत्र में कौन–कौन से स्रोत प्राप्य हैं? शोधकर्ता देश–विदेश में किये गये विभिन्न प्रकार के अध्ययनों की सहायता से समस्या चयन के कारणों पर प्रकाश डालना चाहता है। संबंधित साहित्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए गुड, बार एवं स्केट्स एवं

स्केट्स ने कहा है – "एक कुशल चिकित्सक के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र में हो रही औषधि संबंधी आधुनिकतम खोजों से परिचित होता रहे, उसी प्रकार शिक्षा के जिज्ञासु छात्र, अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अनुसंधानकर्ता के लिये उस क्षेत्र से संबंधित सूचनाओं एवं खोजों से परिचित होना आवश्यक है।"

'बेस्ट' का विचार है कि व्यावहारिक दृष्टि से सारा मानव–ज्ञान पुस्तकों एवं पुस्तकालयों में प्राप्त किया जा सकता है। अन्य जीवों के अतिरिक्त, जो प्रत्येक पीढ़ी में नये सिरे से प्रारम्भ करते हैं, मानव–समाज अपने प्राचीन अनुभवों को संग्रहित एवं सुरक्षित रखता है।

वस्तुतः किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधार शिला के समान है जिस पर सम्पूर्ण भावी कार्य आधारित होता है। संबंधित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा यदि इस नींव को सुदृढ़ नही कर लिया जाये तो कार्य के प्रभावहीन एवं महत्वहीन होने की संभावना रहती है अथवा इसकी पुनरावृत्ति भी हो सकती है।

इसी प्रकार विद्वानों द्वारा एकमत से अनुसंधान कार्य की सफलता के लिये संबंधित साहित्य का अध्ययन आवश्यक माना गया है। मनुष्य पूर्व के संचित एवं आलेखित ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान का सृजन करता है। मानवीय ज्ञान में निरन्तर क्रमिकता एवं प्रगतिशीलता पायी जाती है। ऐसे साहित्य दो प्रकार के होते हैं–

प्रत्यक्ष– पत्रिका, समाचारपत्र, शासकीय समाचारपत्र एवं शोध–प्रबन्ध आदि।

अप्रत्यक्ष– साहित्य, निर्देशिकायें, विश्वज्ञान कोष, ग्रन्थसूची आदि।

शोधकर्ता को उपरोक्त प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष साधनों का उपयोग आवश्यक है तभी उसका शोधकार्य सफल एवं प्रभावी हो सकता है। सन्दर्भ सामग्री का सर्वेक्षण समय–साध्य तो अवश्य होता है, परन्तु शोध कार्य का एक उपयोगी पक्ष भी है। पूर्व शोध साहित्य को पढ़कर शोधकर्ता उसमें से उपयोगी सामग्री का चयन एवं संकलन कर लेता है।

शोधकर्ता द्वारा अध्ययन किए गए साहित्य का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है–

बुद्ध और जैन दर्शन पर दो शोधकर्ताओं गोखले (1950) एवं देशपांडे (1955) ने कार्य किया जिसमें पाली, संस्कृत, तिब्बती एवं तमिल के साहित्य का प्रयोग किया गया। इन अध्ययनों में विकास की अवस्थाओं, परीक्षण विधियों आदि पर कार्य किया गया तथा कुछ तुलनाएं भी की गई। शोधकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि केवल पठन–पाठन पर अधिक ध्यान न देकर शिक्षा के उच्च क्षेत्र पर बल दिया जाना चाहिये।

सन (1954) में सरन ने गुरूकुल प्रणाली को विश्लेषित करने का प्रयास किया, कुछ पाश्चात्य प्रतिमानों से तुलना एवं कुछ सुझाव दिये।

तीन शोधकर्ताओं देवरपुरकर, सेठ व वर्मा ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में शिक्षा दर्शन के विकासात्मक दृष्टिकोणों पर कार्य किया। सेठ (1953) ने अपने शोध "भारतीय शिक्षा दर्शन में आदर्शवादी दृष्टिकोण" में आदर्शवाद पर जोर दिया। देवपुरकर (1964) ने अपने शोध "आधुनिक भारत में शिक्षा दर्शन का विकास" में उन्नीसवीं व बीसवीं सदी के अनेक दार्शनिकों पर कार्य किया और आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद आदि दृष्टिकोणों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। वर्मा (1969) ने अपने शोध "आधुनिक भारत में राजा राम मोहन राय से महात्मा गॉधी तक शिक्षा दर्शन का विकास" में पाश्चात्य प्रणाली पर आधारित विकासात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

कुछ अनुसंधानकर्ताओं ने हिन्दी, अरबी फारसी स्रोतों को प्रयोग करते हुए भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी किया है। शर्मा (1960) ने तुलसी के शिक्षा दर्शन का विस्तृत विश्लेषण किया। सईद (1952) ने शाह वलीउल्लाह के शिक्षा दर्शन एवं रसूल (1968) ने मौलाना आजाद पर कार्य किया।

नायक (1956) ने गॉधीजी द्वारा प्रतिपादित बेसिक शिक्षा की सामाजिक आवश्यकताओं पर संरचना के दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया। सुब्रह्मन्यम (1965) ने गॉधी जी व टैगोर के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया। कुजजदकवलू (1965) ने गॉधी जी व डिवी का पांच दृष्टिकोणों पर अध्ययन किया। राबिन्सन (1970) ने प्रयोजनवाद के

आधार पर बेसिक शिक्षा का अध्ययन किया। सिद्दिकी (1971) ने समाजवाद के आधार पर बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन किया। राम जी (1968) ने गांधी जी के व्यक्तित्व सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया। सेन (1973) ने एक अन्य अध्ययन गांधी के शिक्षा दर्शन पर प्रस्तुत किया।

दिवाकर (1960) ने उपनिषदों में शिक्षा दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य आधुनिक शिक्षा सिद्धान्तों के आधारभूत दोष की खोज था। किन्तु अनुसंधानकर्ता उपनिषदों के आधार के सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों, पाठ्यक्रम व विद्यालय के सामान्य संदर्भ तक ही सीमित रहा।

चौबे (1962) ने दयानन्द, विवेकानन्द, बेसेन्ट, अरविन्द, टैगोर व गॉधी जी के शिक्षा दर्शन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया। आचार्य (1965) ने महाराष्ट्र के सन्दर्भ में उन्नीसवी व बीसवीं सदी के आधुनिक शिक्षा दार्शनिकों के शिक्षा के सिद्धान्त व प्रयोग पर प्रभाव का विश्लेषण करने का प्रयास किया।

भट्टाचार्य, रामशंकर (1965) ने अपनी पुस्तक सांख्य दर्शन "प्रवचन भाष्य" में तत्व, समाज सूत्र तथा सांख्य दर्शन से संबंधित अन्य क्षेत्रों जैसे सांख्य का अनुशासन, सांख्य का सिद्धान्त, मोक्ष आदि का वर्णन किया है।

भगवद्गीता के शिक्षा दर्शन पर एक शोध कार्य चार्लू द्वारा (1971) में किया गया। जिसमें गीता को शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में आधार मानकर विश्लेषण का प्रयास किया गया।

सिंह (1972) ने टैगोर के अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक विचारों का विश्लेषण किया और अपने निष्कर्षों को ऐतिहासिक आधार देने का प्रयास किया। आचार्य विनोबा पर दो कार्य (1973) व सिंह (1974) द्वारा किये गये। हुसैन (1973) ने अध्ययन का आधार विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का बनाया।

दास. के. (1975) के शोध–प्रबन्ध "सांख्य–योग और गीता में व्यक्तित्व का सम्प्रत्यय" में व्यक्तित्व का निश्चय करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। शोध अध्ययन के निष्कर्ष में यह पाया कि सांख्य योग में व्यक्तित्व का स्वरूप मनोशारीरिक संरचना का गत्यात्मक स्वरूप था। जिसमें आत्म या आत्म–चेतन समरूप में निहित था। यह आत्मन परिवेश के सम्पर्क में आने पर अपने अनुभवों से प्रभावित हुआ।

सांख्य और गीता दोनों में व्यक्तित्व की संरचना और विकास में वंशानुक्रम व वातावरण दोनों कारकों को स्वीकार किया गया है। योग–मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल कुछ मूल प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। सांख्य–योग मनोविज्ञान में अचेतन को नकारात्मक संप्रत्यय के रूप में नही माना गया है।

सभी वस्तुओं और जीवों में भिन्न–भिन्न मात्रा में चेतना विद्यमान होती है। सांख्य–योग और गीता में पश्चिमी मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन और पदार्थ का द्वैत भाव मिटा दिया गया है। व्यक्तित्व के पक्ष हैं चेतन और अचेतन। प्रथम ज्ञान का सिद्धान्त और द्वितीय क्रिया का सिद्धान्त। सांख्य–योग और गीता में मुख्य रूप से संकल्प शक्ति और वृद्धि के प्रशिक्षण पर बल दिया गया है। जिससे वे विवेक के आधार पर कार्य कर सकें। चेतना और स्वचेतना जो व्यक्तित्व के आवश्यक अंग हैं। सांख्य–योग मनोविज्ञान से पर्याप्त रूप में भिन्न है।

उपाध्याय, बलदेव (1976) ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में सांख्य दर्शन से संबंधित प्रसिद्ध सांख्याचार्य, सांख्य तत्व मींमासा (प्रकृति, विकृति, प्रकृति–विकृति तथा न प्रकृति न विकृति यानि पुरुष या आत्माद्ध), सांख्य कर्तव्य शास्त्र; (दुख, विवेक, ज्ञान, जीवन, मुक्ति, विदेहमुक्ति आदि) का वर्णन किया है।

एम. वैंकटेश वारलू (1978) ने 'द एजुकेशनल फिलॉसफी एज रिफलेक्टिड इन द महाभारत' नामक अपने शोध कार्य में महाभारत को एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में चिन्हित करते हुए उसकी कथावस्तु का विश्लेषण करके उसके शैक्षिक तत्वों की खोज की है।

मणि शर्मा (1980) ने अपने शोध कार्य "समकालीन शिक्षा का स्वरूप एवं उसकी भावी सम्भावनायें" में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि सभी शिक्षाविदों व दार्शनिकों को अमूर्त दर्शन को प्रकार्यात्मक रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास करना चाहिये। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति की खोज करके शिक्षा के माध्यम से उसे पूर्णता की ओर ले जाया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में उनका सुझाव है कि शिक्षा की प्राकृतिक–आदर्शवादी व्यवस्था ही सर्वथा उपयुक्त है, चूँकि छात्र एक जैविक इकाई होने के साथ–साथ आध्यात्मिक गुणों से युक्त मानव भी है।

एम. दूबे (1980) ने अपने शोध कार्य में उपनिषदों के शिक्षा–दर्शन सम्बन्धी विभिन्न तत्वों को पहचान कर उनकी विस्तृत रूप से व्याख्या करने का प्रयास किया।

सूरी (1983) ने श्री अरविन्द के "योग" की शैक्षिक उपयोगिता के सम्बन्ध में एक आलोचनात्मक अध्ययन किया है। इस शोध प्रबन्ध के उद्देश्यों में श्री अरविन्द के जीवन की पृष्ठभूमि एवं उनके योग के सापेक्ष योग–दर्शन के विस्तृत विचारों का समन्वय करना था। सूरी ने अपने शोध निष्कर्ष में पाया कि अरविन्द का दर्शन द्रव्य एवं आत्मा के समाधान पर आधारित है एवं सत्य आठ सिद्धान्तों पर आधारित है।

सिंह (1983) ने प्लेटो एवं श्री अरविन्द के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया। इसमें उन्होंने दोनों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया। इन्होंने अपने शोध निष्कर्ष में पाया कि मनुष्य का वर्तमान एवं सामाजिक जीवन दार्शनिक कल्पनाओं पर आधारित है और इसके द्वारा भविष्य में आशावादी हुआ जा सकता है। प्लेटो सत्य, ज्ञान की तरफ अधिक उन्मुख थे जबकि अरविन्द शिक्षण को कम महत्व देते थे। वे मनुष्य के विकास एवं परिवर्तन पर अधिक बल देते थे।

शर्मा (1983) ने अपने शोध प्रबन्ध 'श्री अरविन्द के शिक्षा दर्शन में मानववाद' में पाया कि विकास वैयक्तिक से अनेकों वैयक्तिक की तरफ सूक्ष्म तत्व से हुआ। अरविन्द का

शैक्षिक दर्शन मानवतावादी प्रकृति का था। अरविन्द के अनुसार मनुष्य के भविष्य का विकास उसकी शिक्षा पर आधारित होकर सर्वांगीण विकास करना था। अरविन्द ने मनुष्य का मनोविकास भौतिक, आध्यात्मिक एवं मानसिक विकास पर माना था। उन्होंने बताया कि विद्यार्थी की प्रकृति एवं क्षमता के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिये।

प्रसाद (1984) ने अपने 'याज्ञवल्क्य शिक्षा का आलोचनात्मक अध्ययन' में महर्षि याज्ञवल्क्य के जीवन में वैदिक एवं वेदांग के महत्व को बताया है। प्रथम अध्याय में वर्ण प्रकरण, जो कि वर्ण के विषय से संबंधित है, का वर्णन किया गया है।

तिवारी (1984) ने अपने शोध प्रबन्ध 'वर्णाश्रम शिक्षा व्यवस्था तथा आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता' में प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम शिक्षा व्यवस्था एवं आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

इस शोध प्रबन्ध में पाया गया कि वर्णाश्रम शिक्षा पद्धति का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक शक्तियों का विकास, धार्मिक भावना, चरित्र, व्यक्तित्व, साहित्य व संस्कृति का प्रचार एवं नागरिकता के दायित्वों की भावना का विकास करना था। वर्ण या जाति कर्म 'कार्य' के द्वारा प्रतिपादित किये जाते थे न कि उसके जन्म के द्वारा तथा व्यक्ति अपनी रूचि एवं अभिक्षमता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के लिये स्वतन्त्र थे।

सिंह (1984) ने रूसो के समय से स्वतन्त्रता के संप्रत्यय के विकास पर अध्ययन किया है। इन्होंने अपने शोध निष्कर्ष में पाया कि शिक्षा, स्वतन्त्रता के आदर्श को पोषित करती है और यह स्वतन्त्रता तभी मजबूत हो सकती है जब मनुष्य का विश्वास शिक्षा में हो।

सिंह बहादुर (1984) ने 'अद्वैत में ज्ञान योग की प्रतिमा' शीर्षक पर कार्य किया। निष्कर्ष के रूप में अद्वैतवाद का प्रमुख सिद्धान्त है– "ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्य जीवो ब्रह्मैव नापरः"; अर्थात ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है। उससे ऊपर कुछ नही। भारतय दर्शन में परमतत्व को प्राप्त करने के लिये अनेक भागों का निर्देश दिया गया है। जैसे– कर्मयोग,

शक्तियोग, ज्ञानयोग, प्रेमयोग, राजयोग और ध्यानयोग आदि। अतः वेदान्तानुसार श्रवण, मनन् व निदिध्यासन ही मोक्ष के कारण हैं।

एस. सी. तिवारी (1984) ने 'वर्णाश्रम शिक्षा–व्यवस्था तथा आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता' शीर्षक के अन्तर्गत किये गये अपने शोध में वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों तथा महाकाव्यों के गहन एवं विस्तृत अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित करते हुए आधुनिक भारतीय परिप्रेक्ष्य में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

एस. अवस्थी (1984) ने 'आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक शिक्षा' शीर्षक अपने शोध कार्य में वेद, स्मृति और सूत्र ग्रन्थों का अध्ययन–विश्लेषण करने के उपरान्त स्पष्ट रूप से इंगित किया है कि तत्कालीन समय में दर्शन, धर्म व शिक्षा परस्पर गहन रूप से सम्बन्धित थे। आत्मानुभूति मानव जीवन का परम् लक्ष्य था। श्रवण, मनन व निदिध्यासन ज्ञान प्राप्ति की प्रमुख विधियां थी। आगमन–निगमन, परिचर्चा, प्रश्नोत्तर एवं वाद–विवाद भी सत्य ज्ञान तक पहुँचने की महत्वपूर्ण विधियों के रूप में उपयोग में लायी जाती थीं। वैदिक काल में स्त्री को भी समान शिक्षा के अधिकार थे तथा उसे नृत्य–गायन आदि ललित कलायें सिखाई जाती थीं।

वैद (1985) ने अपने शोध प्रबन्ध में एनीबेसेन्ट और महात्मा गाँधी के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसमें उन्होंने पाया कि दोनों दार्शनिकों ने मानवता की सेवा में अपना जीवन न्यौछावर कर दिया। पश्चिमी सभ्यता एवं विज्ञान को पूर्वोत्तर शैक्षिक दर्शन से जोड़ने का प्रयास किया है।

पाण्डेय (1985) ने 'गीता और कुरान मैं दार्शनिक शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन' में पाया कि – गीता के अनुसार जीव ब्रह्मा का अंश मात्र है और इसका मुख्य उद्देश्य 'मोक्ष' के द्वारा ब्रह्मा को जोड़ना है। 'मोक्ष' अच्छे कार्यों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसे ही 'निष्काम कर्म' कहा गया है। कुरान के अनुसार– सभी जीव 'अल्लाह' के द्वारा बनाये

गये हैं और जब जीव की मृत्यु होती है तो उसकी आत्मा उसके कर्मों के आधार पर 'जन्नत (स्वर्ग)' या 'दोजख' (नरक) में जाती है। कुरान में धर्म की शिक्षा पर बल दिया गया है।

व्यास (1986) ने श्री जे0 कृष्णमूर्ति के शिक्षा के विभिन्न आयामों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। कृष्णमूर्ति की दार्शनिक शिक्षा सत्य पर आधारित थी। उन्होंने मनुष्य–मनुष्य के बीच एक सत्य सम्बन्ध स्थापित कर उसके उद्देश्य का आगे बढ़ाने हेतु प्रयास किया। उनका नया योगदान 'शिक्षा के उद्देश्यों' के बारे में था। कृष्णमूर्ति ने यौन शिक्षा देने की भी वकालत की है।

पाठक (1986) ने काका साहब कालेलकर के शैक्षिक विचार के सम्बन्ध में अध्ययन किया है। अपने शोध अध्ययन में काका साहब के अनुसार शिक्षा की परिभाषा का मूल्यांकन भी किया गया जो कि आर0 सी0 पीटर की शिक्षा पर आधारित थी। काका साहब की परिभाषा जेम्स के विचारों से मिलती–जुलती थी। काका साहब के शैक्षिक विचार रूचिकर किन्तु प्रक्रम–अभिमुख नही थे।

देसाई (1987) ने अपने शोध अध्ययन "सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ में शिक्षा के संप्रत्यय के विकास" में पाया कि – शिक्षा के संप्रत्यय में सम्पूर्ण उम्र भर विचारों का जुड़ाव था। शिक्षा के विभिन्न दार्शनिक विचार, आदर्शवाद प्रकृतिवाद, वास्तववाद एवं अस्तित्ववाद शिक्षा के विचार से प्रभावित थे।

चिखलिकर (1988) ने अपने शोध प्रबन्ध में पाया कि शिक्षा में मुख्य उद्देश्य 'स्वानुभूति' है। शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य सहयोग होना 'स्व' का ज्ञान होने में बताया गया है और इसका त्वरित उद्देश्य सत्य की प्राप्ति करना होता है। भारतीय जीवन के प्रमुख उद्देश्यों में दर्शन और धर्म, ज्ञान और चरित्र तथा कला अभिन्न अंग थे।

सन् 1988 मे कुमारी पूनम सिंह ने 'सांख्य सिद्धान्त का समीक्षात्मक अध्ययन' शीर्षक पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने सांख्य के सिद्धान्तों पर विचार–विमर्श किया।

अंसारी (1988) ने इस्लामिक संस्कृति में शैक्षिक दर्शन की विशेषताओं पर शोध अध्ययन किया है। भगवत्ती (1988) ने राधाकृष्णन् के शैक्षिक दर्शन एवं उसका सामाजिक परिवर्तन में योगदान विषय पर एक महत्वपूर्ण शोध अध्ययन किया है।

1989 में सुष्मिता भट्टाचार्या द्वारा "स्वामी विवेकानन्द के सेवायोग का आलोचनात्मक अध्ययन" शीर्षक पर शोध किया गया। शोध के निष्कर्ष के रूप में सेवायोग से भारतीय जीवन की वर्तमान परिस्थिति से संबंधित तीन समस्याएं हल होती हैं– प्रथम– गरीबी, कष्ट व वस्तुओं का दुरुपयोग; द्वितीय, निरक्षरता व अज्ञानता तथा तृतीय, स्वार्थ केन्द्रित व गन्दी राजनीति।

धाल (1990) ने रविन्द्र नाथ टैगोर एवं महर्षि अरविन्द के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

सन् 1990 में ललित कुमार चौबे ने अपने शोध प्रबन्ध में श्रीमदभगवद् गीता में सांख्य एवं योग पर विचार प्रस्तुत किये। सन् 1990 में घनश्याम पांडे ने "सांख्य एवं वेदान्त दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन" पर एक शोध प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन पर विचार प्रस्तुत किया। सन् 1991 में कुमारी सुपर्णा ने "सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप– एक समीक्षात्मक अध्ययन" पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया और उसमें सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त में मोक्ष पर प्रकाश डाला।

द्विवेदी, कमला (1991) ने विश्व के परिप्रेक्ष्य में गांधी जी के शैक्षिक दर्शन का अध्ययन अपने शोध में प्रस्तुत किया है। महालिंगम (1992) ने भी अपनी एम0 फिल उपाधि हेतु गांधी जी के शैक्षिक विचारों के सम्बन्ध में शोध कार्य किया है। जबकि विजया (1993) ने स्वामी विवेकानन्द एवं डीवी के शैक्षिक दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया।

आलम (1992) ने मनुष्य एवं समाज के परिप्रेक्ष्य मे इस्लाम धर्म के शैक्षिक विचारों का अध्ययन किया।

आचार्य शर्मा (1994) ने अपनी पुस्तक "सांख्य दर्शन" मे सांख्य सिद्धान्त को तत्व ज्ञान की दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ बताया है। इसक अनुसार भगवदगीता में सांख्य निष्ठा को बहुत महत्व दिया गया है और उसको निष्काम कर्म योग का पूरक माना है। इसलिये गीताकार और सांख्य और योग से भेदभाव करने वालों को अज्ञानी समझते हैं– "सांख्य–योगी पृथग्बालाः प्रदन्ति न पंडिताः।" इसमें केवल इतना अन्तर माना गया है– योग निष्ठा में गुणों का किसी न किसी अंश में सम्बन्ध रहता है और उनमें ईश्वर को समर्पण करके वासनाओं का त्याग किया जाता है, सांख्य निष्ठा पहले से ही तीन गुणों के सर्वथा त्याग पूर्वक होती है और आत्मा को अकर्ता मानकर तीनों गुणों को ग्रहण और ग्राह्य रूप से मान लिया जाता है।

1994 में सुनीता कुमार पाण्डेय ने 'सांख्य दर्शन एवं श्री अरविन्द दर्शन में विकास का स्वरूप' शीर्षक के अन्तर्गत अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें इन्होंने सांख्य एवं अरविन्द दर्शन के विकास पर प्रकाश डाला।

महमूद (1995) ने जमात–ए–इस्लामी हिन्द ओर इनके शैक्षिक निहितार्थों पर एक आलोचनात्मक अध्ययन किया।

1996 में राजहंस ने डा. बी. आर. अम्बेडकर के शैक्षिक विचारों पर अध्ययन किया।

पाण्डेय (2002) ने सांख्य योग दर्शन पर आधारित शालीय पाठ्यक्रम का विकास शीर्षक पर कार्य किया। वैारिक आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये उन्हें मुख्यतया चार भागों– शिक्षा के उद्देश्यों, पाठ्यचर्या, शिक्षण विधि एवं मूल्यांकन में बांटकर लिखा गया है। इस शोध प्रबन्ध द्वारा शिक्षा के सम्पूर्ण ढ़ाँचे को भारतीय दृष्टिकाणे से देखने और तत्पश्चात् बनाने का प्रयास किया है।

ओझा (2002) ने इक्कीसवीं सदी के भारत में सांख्य शिक्षा दर्शन की प्रासंगिकता का आकलन किया। इस शोध प्रबन्ध में पाश्चर्य और पौर्वात्य में मूल्यांकन भी किया गया है। इसमें आधुनिक शिक्षा प्रणाली की समीक्षा करते हुए प्राचीन आध्यात्मिक, नैतिक व चारित्रिक मानवीय मूल्यों को सांख्य शिक्षा के सन्दर्भ में जोड़ा गया है।

शुक्ल (2003) ने 'योग दर्शन के विचारों का वर्तमान सन्दर्भ में मूल्यांकन' शीर्षक पर लघु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

निष्कर्ष

आज भारतीय समाज एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। आधुनिक परिस्थितियों में पुरानी मान्यताएं तेजी से बिखर रही हैं। बदलती परिस्थितियों के अनुरूप नवीन मूल्य निर्मित नही हो पा रहे हैं। किसी ऐसे प्रयोगवादी दर्शन का अभाव है जो शिक्षा को गतिशील बना सके। भारत का प्राचीन दर्शन यह आधार प्रदान कर सकता है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उसमें निहित शिक्षा के दार्शनिक आधारों का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से किया जाये, जो वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप हो सकें। उनमें निहित शैक्षिक विचारों को एक व्यवस्थित रूप दिया जाये जिससे आधुनिक भारतीय शिक्षा दर्शन की तुलना में उनके महत्व का सही मूल्यांकन किया जा सके। उपरोक्त अध्ययनों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय शिक्षा दर्शन अभी भी एक अविकसित स्थिति में है। कहीं तो वह अतीतोन्मुख हो जाता है, और कभी उसे पश्चिम के अन्धानुकरण की स्थिति में पाते हैं।

अब तक जितने भी अनुसंधान हुए हैं, उनमें भारतीय शिक्षा दर्शन का विवेचन पाश्चात्य शिक्षा दर्शन के सम्प्रदायों के दृष्टिकोण से किया गया है। उपनिषद, वेद अथवा काव्यों में वर्णित बातों की आदर्शवाद, प्रकृतिवाद या प्रयोजनवाद के अन्तर्गत रखकर विवेचना की जाती है। इसी प्रकार श्री अरविन्द, विवेकानन्द, टैगोर व गांधीजी आदि दार्शनिकों को इन्ही पाश्चात्य वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थापित कर दिया जाता है। यह

पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक दर्शन किसी सांस्कृतिक परम्परा की विशिष्ट अभिव्यक्ति होता है। एक ही शब्दावली दूसरी परम्परा में भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेती है। इधर–उधर बिखरी सामग्री को बिना उचित परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किये किसी सम्प्रदाय विशेष से संयुक्त कर देना शैक्षिक व दार्शनिक दृष्टिकोण से अनुचित है। भारतीय दर्शन को आदर्शवाद, प्रकृतिवाद या प्रयोजनवाद आदि में वर्गीकरण करना उतना ही असंगत है, जितना पश्चिमी दर्शन को न्याय अथवा वेदान्त वर्ग में रखना युक्तिहीन है। सम्बन्धित साहित्य के व्यापक अध्ययन के पश्चात शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि पुराणों के शिक्षा दर्शन के संबंधित शोध का कोई प्रयास अभी तक शोधकर्ताओं द्वारा नहीं किया गया है।
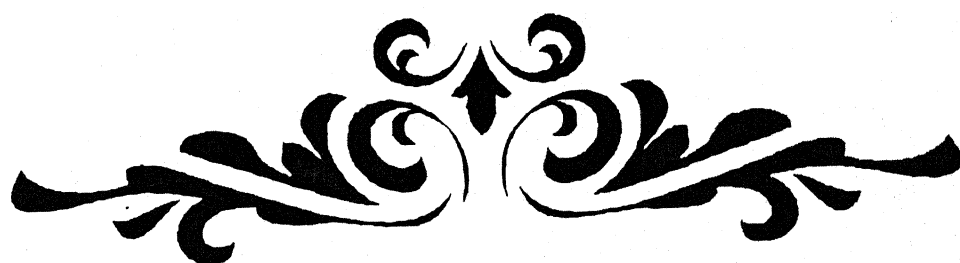
पुराणों में दार्शनिक तत्व, धर्म एवं समाज
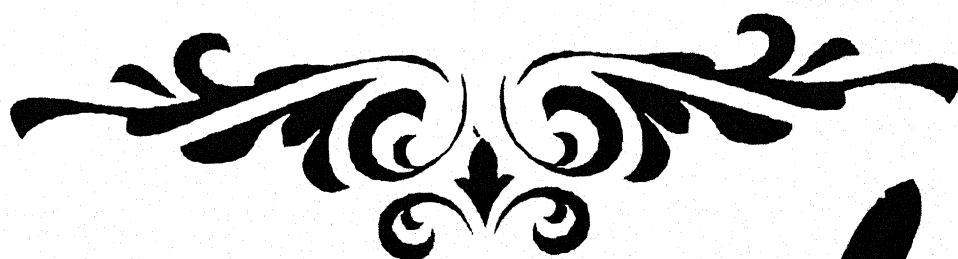
अध्याय 3

पुराणों में दार्शनिक तत्व, धर्म एवं समाज

पुराणों का दार्शनिक अभिमत

पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन भी बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृति में आचार तथा विचार का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। आचार के द्वारा कार्यरूप में परिणत किये बिना विचार का कुछ भी महत्त्व नहीं है और प्रकार विचार की भित्ति और आधार के अभाव में आचार की स्थापना भी निराधार और निरवलम्ब होती है। पुराण में जनता के लिए अनुकरणीय और प्रतिदिन जीवन में संग्रहणीय सदाचार का विशद् विवरण है। वह अपने आधार के रूप में विचार को चाहता है। इसलिए पुराणों ने विचार का भी विश्लेषण अपनी दृष्टि से किया है। पुराणगत दार्शनिक तथ्यों के विवरण के निमित्त तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है परन्तु यहाँ स्थानाभाव से सारगर्भित रूप में पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया जा रहा है।

तत्व मीमांसा

पुराणों में वेद, उपनिषद, सांख्य–योग दर्शन, भागवत दर्शन, शैव व शक्ति दर्शन के तत्व उपलब्ध होते हैं। जैन व बौद्ध दर्शन का प्रभाव भी पुराणों पर पड़ा है।

भारतीय परम्परा के अनुसार देव नित्य और अपौरुषेय हैं तथा अक्षय ज्ञान के भण्ड़ार हैं। इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों से वेदों का उपवृहण होता है। उपनिषदों को भारतीय दर्शन का मूल स्त्रोत माना जाता है। वेद का अंतिम भाग मानते हुए उपनिषद ग्रंथों को वेदान्त कहा जाता है। ये वैदिक दर्शन के सारभूत, सुनिश्चित सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं। पुराणों के दार्शनिक तत्त्वों के अवलोकन की दृष्टि

से प्रस्तुत अध्याय में उपनिषद, सांख्य–योग दर्शन तथा भागवत दर्शन का सारगर्भित वर्णन किया जा रहा है।

उपनिषद दर्शन

उपनिषद पूर्व वैदिक साहित्य में प्रमुख दार्शनिक विचारों के बीज रूप में विद्यमान हैं। भारतीय परम्परानुसार वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों से वेदों का उपवृहण होता है। वेद के दो भाग हैं–' मन्त्र और ब्राह्मण। किसी देवता की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ स्मारक वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं। यज्ञयागादि के अनुष्ठान का विस्तृत विवेचन करने वाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं। मन्त्र–समूह 'संहिता' कही जाती है, जो कि चार हैं– ऋग, साम, यजु और अथर्व। ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद 'आरण्यक' ग्रन्थ आते हैं। इनमे कर्म से ज्ञान की ओर अग्रसरण है। यज्ञानुष्ठान की अपेक्षा इनमें यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य परं तथा उपासना व ध्यान पर बल है। आरण्यकों के अंतिम भाग 'उपनिषद' हैं, जो ज्ञान–प्रधान हैं तथा दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण हैं। वेद का अंतिम भाग होने से इन्हीं को 'वेदान्त' कहा जाता है। इनमें वेदों का सारभूत तत्त्व प्रतिष्ठित है।

'उपनिषद' शब्द का अर्थ है 'शिष्य का गुरू के समीप ध्यानपूर्वक परम तत्त्व का गूढ़ उपदेश सुनने हेतु बैठना, ताकि अविद्या का नाश हो व ब्रह्म की प्राप्ति हो'। उपनिषद 108 हैं, परन्तु प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण उपनिषद ग्यारह हैं। उपनिषद में अद्वैतपरक वाक्यों की बहुलता है, व विशिष्टाद्वैत द्वैतपरक वाक्य भी उपलब्ध हैं, किन्तु उनका तात्पर्य अद्वैत के प्रतिपादन में ही है। गीता, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, सांख्य, योग आदि दर्शनों का उद्गम स्रोत 'उपनिषद' ही हैं।

आत्म तत्त्व

आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य उपनिषद् के ऋषियों की दर्शन को महान देन है। विषयी और विषय, प्रमाता और प्रमेय दोनों मे एक ही तत्त्व प्रकाशित हो रहा है जो दोनों मे अन्तर्यामी है और दोनों के पारगामी भी है। जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्मरूप से इस समस्त बाह्य जगत् में भी व्याप्त हैं। अखण्डचिदानन्दस्वरूप परम् तत्त्व को आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। आत्मा शरीर, इंद्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि से भिन्न है। वह शुद्ध चैतन्य है और समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है; वह स्वतः सिद्ध तथा स्वतःप्रकाश है। उसका निराकरण असम्भव है, क्योंकि जो निराकर्ता है वही उसका स्वरूप है। शुद्ध आत्मचैतन्य अविद्या के कारण शरीर, इंद्रिय और अन्तःकरण से परिच्छिन्न होकर जीव के रूप में प्रतीत होता है। जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति आत्मा की अभिव्यक्ति की तीन व्यावहारिक अवस्थाएं हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण 'अर्थ' का रूप ग्रहण कर लेता है, जिसे 'वृत्ति' कहते हैं। जब इस वृत्ति पर साक्षिचैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमें वृत्तिरूपपदार्थ का ज्ञान होता है। जाग्रत अवस्था में हमें बाह्य पदार्थो का ज्ञान बहिरिन्द्रिय और बहिर्रथ के सन्निकर्ष से होता है एवं मानस पदार्थो का अनुभव अन्तःकरण और मनोभावों के सन्निकर्ष से होता है। स्वप्नावस्था में अन्तःकरण अकेला काम करता है और मानस पदार्थो की कल्पना करता है जो सीधे साक्षिचैतन्य से प्रकाशित होते हैं। सुषुप्ति में बाह्य और मानस दोनों प्रकार के विषयों के अभाव में अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में लीन हो जाता है, अतः यह अज्ञान की अवस्था है, किन्तु है सुखदुःखादिद्वन्द्वरहित। अन्तःकरण के अभाव में भी सुषुप्ति में जीवत्व बना रहता है, क्योंकि अविद्या नष्ट नहीं होती। यद्यपि अविद्या से आवृत्त होने के कारण साक्षिचैतन्य प्रकाशित नहीं होता तथापि उसकी स्थिति के कारण सुषुप्ति के पूर्व और पश्चात के अनुभवों की एकता बनी रहती है। आत्मा तुरीय या शुद्ध

चैतन्य है। तुरीयावस्था में अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर शुद्ध अखण्डानन्दस्वरूप आत्मचैतन्य प्रकाशित होता है।

उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन मिलता है। अपर ब्रह्म को सगुण, सविशेष, सविकल्प और सोपाधिक कहा गया है। इसी को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर समस्त विश्व के कर्ता, धर्ता, नियन्ता और आराध्य हैं। पर ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निर्विकल्प, निरुपाधिक, निष्प्रपंच, अनिर्वचनीय और अपरोक्षानुभूतिगम्य है। सगुण ब्रह्म के तटस्थ और स्वरूप दो लक्षण हैं। निर्गुण ब्रह्म अलक्षण है जिसका केवल निषेधमुख से वर्णन संभव है। ब्रह्म–विषयक सर्वोच्च स्थिति उसका मौन साक्षात्कार है। अविद्या के कारण ब्रह्म जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अतः जगत्कारणता सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण है। वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी और सबके स्वामी हैं। यह सब कुछ ब्रह्म है– सर्व खलु इदं ब्रह्म। सगुण ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (ब्रह्म सत् चित् और अनन्त आनन्द है); विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (ब्रह्म चित् और आनन्द है); आनन्द ब्रह्म (ब्रह्म आनन्द है)। श्रुतियाँ बार–बार ब्रह्म को नित्य, सत्, शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द बताती हैं। ब्रह्म त्रिकालाबाध सत् है। वह कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी है। जो सत् है, वही चित् है। ब्रह्म शुद्ध निर्विकल्प चैतन्य है। जो चित् है, वही आनन्द है। सत् और चित् दोनों आनन्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः आनन्द ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के धर्म या गुण नहीं हैं; ये ब्रह्म के आवश्यक और अपृथक् गुण भी नहीं हैं। ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं। बुद्धि इनकों तीन भिन्न गुण मानती है; किन्तु तात्त्विक रूप में ये एक हैं। ये ब्रह्म का स्वरूप हैं। ब्रह्म में और इनमें कोई भेद नहीं है। जो सत् है, वही चित् है, वही आनन्द है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विशेष है, अतः अलक्षण है। इन्द्रिय, बुद्धि–विकल्प और वाणी द्वारा ग्राह्य नहीं होने से उसे अगोचर या अतीन्द्रिय, निर्विकल्प और अनिर्वचनीय कहा जाता है। समस्त अनुभव का अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश आत्मचैतन्य है। यदि उसका

वर्णन करना हो तो निषेधमुख से करना चाहिये। ब्रह्म के विषय में आदेश 'नेति नेति' है। नेति नेति से ब्रह्म के गुणों का, विशेषणों का, निर्वचनों का निषेध होता है, स्वयं ब्रह्म का नहीं। 'नेति नेति' से ब्रह्म की अनिर्वचनीयता और निर्विशेषता सिद्ध होती है, उसकी शून्यता नहीं। याज्ञवल्क्य का उद्घोष है कि द्रष्टा का दर्शन, विज्ञाता का विज्ञान असंभव है, क्योंकि जिसके द्वारा यह सब दृश्य प्रपंच जाना जाता है, उस विज्ञाता को विज्ञेय या विषय के रूप में कैसे जाना जा सकता है? किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बुद्धि–विकल्पातीत विज्ञाता या द्रष्टा सर्वथा अज्ञेय या शून्य है। इन्द्रिय–सम्वेदन, बुद्धि–विकल्प और वाणी के शब्दों द्वारा अग्राह्य निर्विशेष आत्मचैतन्य अपरोक्षानुभूतिगम्य है। सापेक्ष बुद्धि ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान की त्रिपुटी के अन्तर्गत कार्य करती है और अपनी चार कोटियों के सहारे कार्य करती हैं। आत्मतत्त्व इस त्रिपुटी के और बुद्धि–कोटियों के ऊपर है; उनका अधिष्ठान है। अतः अद्वैत और निर्विकल्प आत्मा बुद्धि–ग्राह्य नहीं हो सकता। सविकल्प बुद्धि विषयी और विषय में, ज्ञाता और ज्ञेय में, प्रमाता और प्रमेय में भेद करके ज्ञान को दोनों का संबंध मानती है; किन्तु यह ज्ञान खंडित, सविकल्प और मिथ्या है। परमार्थ में ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान एक हो जाते हैं। आत्मा ही प्रमाता जीव और प्रमेय जगत् के रूप में प्रतीत होता है, जीव और जगत् दोनों का अधिष्ठान एक है। अतः विशुद्ध नित्य चैतन्य ही शुद्ध ज्ञान, शुद्ध ज्ञाता और शुद्ध ज्ञेय है। आत्मचैतन्य में त्रिपुटीप्रपंच नहीं है। सापेक्ष बुद्धि के विकल्प–जाल में निरपेक्ष आत्मतत्त्व बद्ध नहीं हो सकता। बुद्धि अपने इस वैफल्य पर सिर धुन रही है और तर्क अपने द्वैत शर से ब्रह्म–लक्ष्य को बेधने के अजस्र असामर्थ्य पर विमूढ़ हैं। प्रतिपक्षी का यह आक्षेप कि अद्वैती तत्त्व को अनिर्वचनीय कहते हैं और उसका निर्वचन भी करते हैं, उचित नहीं है क्योंकि तत्त्व का निर्वहन व्यावहारिक स्तर पर बुद्धि द्वारा किया जा रहा है और यहाँ भी निषेध–मुख से निर्वचन का प्राधान्य है। निषेधात्मक निर्वचन वस्तुतः निर्वचन का निषेध है। पुनश्च, प्रतिपक्षी का यह आक्षेप कि बुद्धि तत्त्व को अज्ञेय रूप से ग्रहण तो करती है, अनुचित है; क्योंकि यह तत्त्व का ज्ञान नहीं है, अपितु बुद्धि द्वारा अपने अज्ञान का, तत्त्व को न जानने की अपनी सीमा का,

ज्ञान है। इसी आधार पर बुद्धि तत्त्व की ओर संकेत करती है और उसे स्वानुभूतिगम्य बनाती है। बुद्धि की कल्पनाओं का आधारभूत तत्त्व स्वतःसिद्ध है।

ब्रह्म तत्व–

ब्रह्म शब्द 'वृह' धातु से बना है, जिसका अर्थ है– बढ़ना, फैलना, व्यास होना। प्रारम्भ में यह यज्ञ के लिए प्रयुक्त हुआ, किन्तु बाद में यह सर्वव्यापी परम्सत्ता का वाचक बना। ब्रह्म परम् तत्व है। वह जगत्कारण है। ब्रह्म वह तत्व है (तत्) जिसमें सारा विश्व उत्पन्न होता है, अन्त में लीन होता है और जिसमें वह जीवित रहता है।

माया

अद्वैत वेदान्त का सार श्लोकार्थ में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है– ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। ब्रह्म और आत्मा एक हैं, दोनों परम् तत्त्व के पर्याय हैं। जगत् प्रपंच माया की प्रतीती है। जीव और जगत् दोनों मायाकृत हैं। जिस प्रकार रज्जु भ्रम में सर्प के रूप में प्रतीती होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म, अविद्या या माया के कारण, जीव–जगत्–प्रपंच का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्मस्वरूप का ज्ञान है।

माया, अविद्या, अज्ञान, अध्याय, अध्यारोप, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, सदसदनिर्वचनीयता आदि शब्दों का प्रयोग वेदान्त में प्रायः पर्यायों के रूप में किया जाता है। इनमें माया, अविद्या, अज्ञान शब्दों का पर्यायार्थक प्रयोग अधिकतर किया जाता है। माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है। यह ब्रह्म पर आश्रित है और उससे अपृथक् है। इसे ब्रह्म से 'अनन्या' कहा जाता है। वस्तुतः माया और ब्रह्म में कोई संबंध नहीं हो सकता, न भेद, न अभेद और न भेदाभेद; उनके इस प्रातीतिक सम्बन्ध को 'तादात्म्य' नाम दिया गया है। माया भ्रान्ति, भ्रम या आभास मात्र है।

स मायीमायया बद्धः करोतिविविधस्तनू। – कूर्म0, पेज 49.

सांख्य दर्शन

'सांख्य' शब्द 'संख्या' शब्द से व्युत्पन्न है; संख्या का अर्थ है सम्यक ख्यान अर्थात सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान। संख्या का अर्थ गणना की संख्या भी हे। सांख्य शब्द में दोनों अर्थ समाविष्ट हैं। सांख्य सम्यक् ज्ञान का दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान का दर्शन है; तथा सांख्य दर्शन तत्त्वों की संख्या पच्चीस स्वीकार करता है। यह पच्चीस संख्या वाले तत्त्वों का दर्शन है। सांख्य–योग मिलकर एक पूर्ण दर्शन बनते हैं। सांख्य बौद्धिक तत्त्व चिन्तन है और योग उसे प्राप्त करने की क्रिया या साधना है। सांख्य और योग ने प्रायः सभी भारतीय दर्शनों को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है।

सांख्य दर्शन निःसन्देह भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में परिगणित है। सांख्य–योग सिद्धान्तों के संकेत छान्दोग्य, प्रश्न, कठ तथा विशेषतया श्वेताश्वतर उपनिषद में प्राप्त होते हैं, महाभारत और गीता में भी उपलब्ध हैं तथा कुछ स्मृतियों और पुराणों में भी मिलते हैं।

परम्परानुसार महर्षि कपिल इसके प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं, परन्तु ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है और सर्वाधिक प्रचलित भी। सांख्य–दर्शन की प्रमुख अवधारणायें निम्न हैं–

1. कार्यकारणवाद

सांख्य के कार्यकारणवाद पर उसका प्रकृतिवाद निर्भर है, क्योंकि प्रकृति की सिद्धि कारण के रूप में उसके कार्यों द्वारा होती है। कार्यकारणवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिये क्योंकि बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यकारणवाद का मूल प्रश्न है– क्या कार्य, उत्पत्ति के पूर्व भी अपने कारण में

विद्यमान रहता है अथवा नहीं? जो यह मानते हैं, उन्हें सत्कार्यवादी और जो यह नहीं मानते, उन्हें असत्कार्यवादी कहा जाता है।

2. सत्कार्यवाद

सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है तथा उसके मत का नाम प्रकृति–परिणामवाद है। सृष्टि के सारे तत्त्व प्रलयावस्था में बीज रूप में या अव्यक्त रूप से प्रकृति के अन्तर्गत विद्यमान रहते हैं तथा सर्गावस्था में कार्यरूप से व्यक्त होते हैं। कार्य नई सृष्टि नहीं है; वह कारण की कार्यरूप में अभिव्यक्ति है।

3. प्रकृति

सांख्य दो स्वतंत्र तत्त्व मानता है– एक जड़ प्रकृति व दूसरा चेतन पुरुष। प्रकृति जड़ जगत की जननी है। वह अजन्मा, नित्य, स्वतंत्र एवं व्यापक है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृति को तीनों गुणों की साम्यावस्था बताया है। ये तीन गुण हैं– सत्त्व, रजस् और तमस्। ये गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं, इसलिये प्रकृति के समान इनका भी प्रत्यक्ष नहीं होता तथा इनके कार्यो से इनका अनुमान किया जाता है। सत्त्व गुण का कार्य सुख है, रजागुण का कार्य दुःख है और तमोगुण का कार्य मोह है। ये गुण द्रव्यरूप हैं। ये प्रकृति के निर्माणक तत्व हैं। अपने सम्मिलित साम्य रूप में ये तीनों गुण ही प्रकृति हैं; प्रकृति इनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनको गुण इसलिये कहा गया है, क्योंकि ये प्रकृति की अपेक्षा गौण हैं। अथवा ये पुरुष के उपकरण हैं। अथवा गुण का अर्थ डोरी भी होता है; अतः ये गुण वे तीन डोरियां हैं, जिनकों मिलाकर प्रकृतिरूपी रस्सी बनती है, जिससे पुरुषरूपी पशु संसार बंधता है।

4. सर्ग

सांख्य ने प्रकृति का लक्षण 'गुणों की साम्यावस्था' (गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः) बताया है। गुणों की साम्यावस्था प्रलय में होती है। अतः प्रकृति का स्वरूप प्रलय है।

सर्ग या सृष्टि को विकृति (विकार या परिणामजन्य) कहा गया है। सारी सृष्टि प्रकृति के गर्भ में अव्यक्त रूप से विद्यमान है; सर्गावस्था में वह कार्यरूप में व्यक्त होती है। सर्ग नवीन सृष्टि नहीं है और प्रलय सृष्टि का विनाश नहीं है। सर्ग कार्य–समूह का आविर्भाव और प्रलय उसका तिरोभाव मात्र है। सांख्य ने प्रकृति को सदा क्रियाशील माना है। उसमें रजोगुण के रूप में क्रिया सदा विद्यमान रहती है। यदि प्रकृति स्वयं सक्रिय न हो तो बाहर से उसमें गति आना सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि एक बार भी प्रकृति की क्रिया रुक गई तो उसका पुनः प्रारम्भ होना संभव नहीं होगा।

सृष्टि का विकास सीधी रेखा में नहीं चलता; अपितु सर्ग और प्रलय चक्रवत चलते रहते हैं। यह चक्र अनादि है। मुक्त पुरुषों के लिये इसका अन्त हो जाता है किन्तु बद्ध पुरुषों के लिये यह चलता रहता है। सर्ग यद्यपि जड प्रकृति का कार्य है, तथापि इसे अन्ध या यान्त्रिक नहीं माना गया है। सर्ग प्रयोजनमूलक है। प्रकृति तथा उसके समस्त कार्य–समूह पुरुष के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त होते हैं। सर्ग या सृष्टि पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए होती है। भोग के लिए पुरुष को प्रकृति–प्रसूत सृष्टि की स्पष्ट ही आवश्यकता है; किन्तु मोक्ष के लिए भी पुरुष को प्रकृति की अपेक्षा रहती है क्योंकि मोक्ष प्रकृति और पुरुष के भेद–ज्ञान पर या विवेक ज्ञान पर निर्भर है। जब पुरुष प्रकृति के स्वरूप को पहचान लेता है, तो प्रकृति में उसकी आसक्ति निवृत्त हो जाती है और उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

सांख्य के अनुसार सृष्टि का विकास प्रयोजनमूलक है। प्रकृति सहित समस्त चौबीस तत्त्व स्वयं अचेतन होते हुए भी चेतन पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रवृत्त होते हैं, चाहे वह प्रयोजन भोग हो, चाहे अपवर्ग (मोक्ष)। सांख्य कहता है कि अचेतन तत्त्व भी चेतन प्राणियों के उपभोग के लिये प्रवृत्त होते हैं; जैसे अचेतन वृक्षों में चेतन प्राणियों के उपभोगार्थ फल लगते हैं, जल परोपभोगार्थ स्रोतों और नदियों के रूप में बहता है तथा गाय के थनों से बछड़े के पोषणार्थ तथा अन्य जनों के उपभोगार्थ दूध निकलता है। अचेतन में भी आकर्षण–क्रिया होती है, जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट

होता है। सांख्यपुरुष, जिसे कारण और कार्य से परे माना गया है, वस्तुतः इस सृष्टि–विकास का निमित्तकारण और प्रयोजनकारण दोनों है। उसके प्रकृति के साथ संयोग या संयोगाभास के बिना सृष्टि नहीं होती और उसके प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही सृष्टि होती है। अरस्तू के ईश्वर के समान सांख्य–पुरुष, स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी सारी सृष्टि क्रिया का अधिष्ठान है; वही सारी सृष्टि का परम् अर्थ है जिसकी ओर सारी सृष्टि गतिशील है। प्रकृति गुणवती, उपकारिणी और सक्रिय है जो गुणहीन, अनुपकारी,, उदासीन और निष्क्रिय पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये अपने समस्त कार्य–समूह सहित नाना प्रकार के उपायों से निःस्वार्थ भाव से सदा प्रवृत्त रहती है। प्रकृति सदा पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए कार्यरत रहती है। प्रकृति के तीन गुण, प्रदीप के तेल, बत्ती और ज्वाला के समान, परस्पर विरुद्ध होते हुए भी परस्पर सहयोगी बनकर समस्त पुरुषार्थ को प्रकाशित करके उसे बुद्धि को समर्पित करते हैं, उनका अन्य कोई हेतु नहीं है। यह सूक्ष्म शरीर भी नट के समान नाना प्रकार की योनियों में अभिनय करता हुआ पुरुषार्थ सिद्धि हेतु कार्य करता रहता है। प्रथम महत्तत्त्व से प्रारम्भ होकर अन्तिम पंचमहाभूतों तक का यह सारा प्रकृति –कृत सृष्टि क्रम प्रत्येक पुरुष को मुक्त कराने के लिए प्रवृत्त होता है। अतः प्रकृति का सारा सृष्टि व्यापार पुरुष के भोग और मोक्ष रूपी प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। प्रकृति से अधिक गुणवती और उपकारिणी कोई नहीं है।

समर्थ काल के कारण जन्म–स्थिति , वृद्धि, रूपान्तर, क्षीणता और नाश– ये छैं विकार देह के धर्म हैं किन्तु इनकी स्थिति आत्मा से ही हो सकती है। किन्तु आत्मा में कोई विकार नही होता, वह तो नित्य, अव्यव, शुद्ध, एक क्षेत्रज्ञ, आश्रय, विकार रहित, स्वयं प्रकाश, सब का कारण, व्यापक, संगरहित, एवं अनावृत्त है। इन बारह प्रधान लक्षणों द्वारा आत्मा एवं शरीर की भिन्नता जानकर अहंकार और ममत्व वाली असत् बुद्धि का त्याग कर देना उचित है। शरीर चौबीस तत्वों के समूह से बना है। यह मिथ्या जगत स्वप्न के समान सत्य प्रतीत होता है। इसलिये तुम सब योग–साधन में लग जाओ,

जिससे कि अज्ञान का नाश होकर श्रेय की प्राप्ति हो। हजारों उपायों में यह एक बताया है कि जैसे भी बने ईश्वर से प्रेम करो।'

" यह दृश्यमान जगत मन का विलास है, क्योंकि यह भ्रम स्वरूप और मिथ्या है।" ब्रह्म 2, 13वाँ अ0, 562

सांख्य ने प्रकृति का लक्षण 'गुणों की साम्यावस्था' बताया है। गुणों की साम्यावस्था प्रलय में होती है।

5. पुरुष

सांख्य द्वारा अभिमत दूसरा स्वतंत्र तत्त्व पुरुष है। पुरुष चेतन या आत्म–तत्त्व है। वह विषयी, ज्ञाता, अनुभाविता है, वह शरीर, इंद्रिया, बुद्धि, अंहकार और मन से भिन्न है। पुरुष चैतन्य स्वरूप है। वह स्वतः सिद्ध, स्वतः प्रकाश है, वह साक्षी है, निष्क्रिय अपरिणामी है, वह कारक और विभु है। वह निर्गुण और कार्य–कारण भाव से परे है। न वह स्वयं किसी का कारण है, न किसी को उत्पन्न करता है। स्वतः सिद्ध होने से ऊपरी सिद्धि या विज्ञान का यत्न पुनरुक्ति मात्र है। वह दिक्कालातीत है। वह राग–द्वेष शून्य, दृष्टा या ज्ञाता, शुद्ध चैतन्य, अकर्त्ता कर्तृत्व व परिणाम से सर्वथा रहित है। सभी पुरुष स्वरूपतः समान है। गणना में भिन्न है।

6. सृष्टि–क्रम

सृष्टि–क्रम में सर्वप्रथम आविर्भूत तत्त्व 'महत्' है जिसे व्यष्टि में 'बुद्धि' कहते हैं। बुद्धि प्रकृतिज होने से अचेतन है; यह प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व है, जो पुरुष के चैतन्य को, स्वच्छ दर्पण के समान, स्वयं में प्रतिबिम्बित कर लेता है। इससे अचेतन बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है और निगुर्ण पुरुष सीमित साकार ज्ञाता और भोक्ता जीव के रूप में प्रतीत होता है। बुद्धि का कार्य, अध्यवाय या कार्याकार्य के विषय में निश्चय है।

सात्विक बुद्धि के धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से चार गुण होते हैं; तामस बुद्धि के गुण इनके विपरीत होते हैं। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा बुद्धि में रहती है।

महत् या बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। यह व्यक्तित्व का तत्त्व है। अहंकार अभिमान की भावना है। 'अहं' (मैं) और मम् (मेरा) की भावना है। इसमें जीव का जीवत्व स्पष्टतया प्रतीत होता है और ज्ञातत्व तथा भोकतृत्व के अतिरिक्त उसमें कर्तव्य की भावना भी आ जाती है। अंहकार तीन प्रकार का होता है–

1. सात्विक या वैकृत जिसमें सत्त्व गुण का प्राधान्य होता है। समष्टि रूप में यह मनस, पंच कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है। व्यष्टि रूप में यह शुभ कर्मों को उत्पन्न करता है।

2. तामस या भूतादि, जिसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है। समष्टि रूप में यह पंच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है। व्यष्टि रूप में यह प्रमाद, आलस्य, विषादादि को उत्पन्न करता है।

3. राजस या तैजस जिसमें रजोगुण का प्राधान्य रहता है। समष्टि रूप में यह सात्विक और तामस अहंकार को शक्ति देता है, जिससे वें अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं। व्यष्टि रूप में यह अशुभ कर्मों का जनक है।

मनस सात्विक अहंकार से उत्पन्न अतीन्द्रीय है। सांख्य के अनुसार इसका कार्य संकल्प अर्थात सम्यक कल्पना करना है। यह इंद्रियों से प्राप्त निर्विकल्प संवेदनों को सविकल्प रूप देकर उनकी विशेषण–विशेष्य भाव से विवेचना करता है। यह उभयात्मक है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से संबंधित रहता है। सांख्य के अनुसार मन न तो नित्य है और न अनुरूप है।

सात्विक अहंकार से ही मन के अतिरिक्त पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियां चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् और श्रोत्र है। जिसमें क्रमशः रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की उपलब्धि होती है। पंच कर्मेन्दियां वाक्, पाणि, पाद,

पायु और उपस्थ है, जिसमें क्रमशः वचन, आदान, विचरण, विसर्जन और प्रजनन के क्रम संपादित किए जाते हैं।

बुद्धि, अहंकार और मन प्रकृतिज होने से अचेतन हैं तथा पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चेतनवत् प्रतीत होते हैं। ये तीनों अन्तःकरण हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियां और पंच कर्मेन्द्रियां ये दस बाह्यकरण हैं। कुल मिलाकर ये सांख्य–सम्मत तेरह करण हैं।

तामस अहंकार से पंचतन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं। ये सूक्ष्म तत्त्व हैं। इनके नाम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्रा हैं। ये पंच महाभूतों को– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को उत्पन्न करती हैं और साथ ही उनके विशिष्ट गुणों को भी अर्थात रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द नामक गुणों को भी उत्पन्न करती हैं। तन्मात्राओं और गुणों के नाम एक ही हैं, अतः इससे भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। शब्दतन्मात्रा से आकाश नामक तथा उसका शब्द नामक गुण दोनों उत्पन्न होते हैं। शब्दतन्मात्रसहित–स्पर्शतन्मात्रा से वायु नामक महाभूत और उसके शब्द तथा स्पर्श नामक गुण उत्पन्न होते हैं। शब्दतन्मात्रसहित–रूपतन्मात्रा से अग्नि या तेजस नामक महाभूत और उसके शब्द स्पर्श–रूप नामक गुण उत्पन्न होते हैं। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहित–रसतन्मात्रा से जल नामक महाभूत और उसके शब्द स्पर्श–रूप–रस नामक गुण उत्पन्न होते हैं। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहित–गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी नामक महाभूत और उसके शब्द स्पर्श–रूप–रस–गन्ध नामक गुण उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सृष्टि–क्रम प्रकृति एवं तत्प्रसूत तेईस तत्त्वों को मिलाकर चौबीस तत्त्वों का व्यापार है। सांख्य का पच्चीसवां तत्त्व पुरुष है जो प्रकृति से सर्वथा विपरीत और स्वतंत्र है तथा इस सृष्टि व्यापार से अलिप्त है। सांख्य सम्मत इन पच्चीस तत्त्वों में पुरुष कार्यकारणभाव से सर्वथा अलग है। वह न 'प्रकृति' (कारण) है और न 'विकृति' (कार्य)। मूलप्रकृति केवल प्रकृति (कारण) है, विकृति (कार्य) नहीं है। महत् (बुद्धि), अहंकार और पंचतन्मात्रायें–ये सात तत्त्व प्रकृति–विकृति दोनों है (कार्य और कारण दोनों हैं)। मनस्

पंचज्ञानेन्द्रियां, पंचकर्मेन्द्रियां और पंचमहाभूत, ये सोलह तत्त्व केवल 'विकृति' (कार्य) हैं।

सृष्टि क्रम इस प्रकार है–
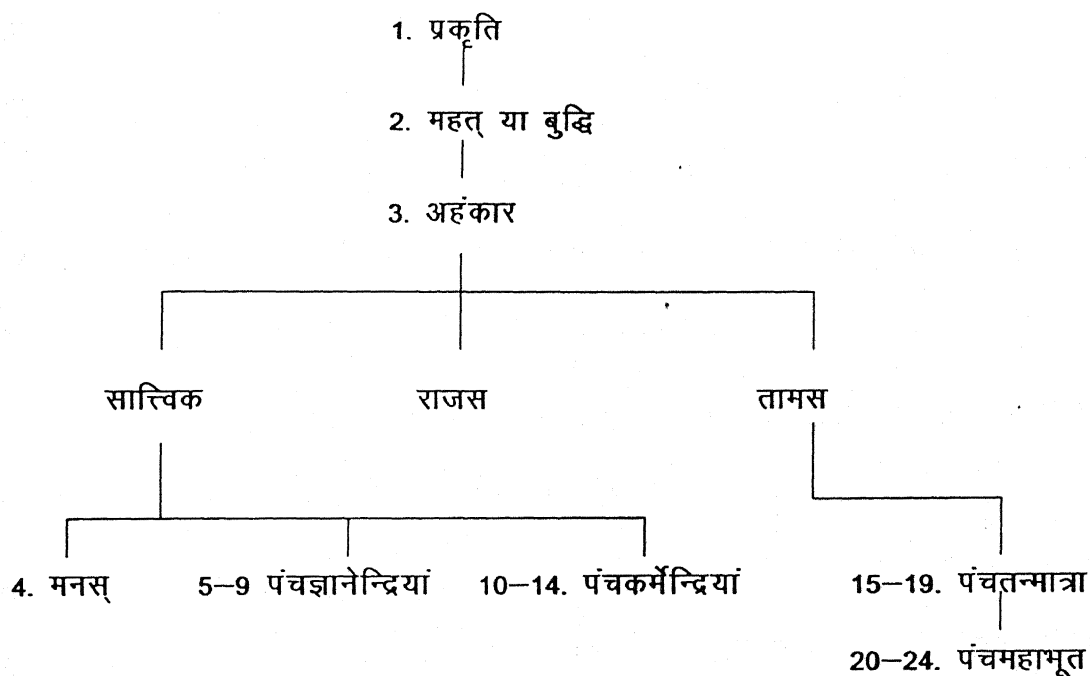
(पच्चीसवां तत्त्व पुरुष है जो सृष्टि व्यापार से अलिप्त है।)

7. बन्धन और मोक्ष

सांसारिक जीवन आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से भरा है। त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को सांख्य ने मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग की संज्ञा दी है। यही परम् पुरुषार्थ है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष में पुरुष अपने नित्य शुद्ध चैतन्य रूप में प्रकाशित रहता है। सांख्य ने मोक्ष में आनन्द या सुख की स्थिति स्वीकार नहीं की है क्योंकि प्रथम तो सुख–दुःख सापेक्ष हैं एवं दूसरे, सुख सत्त्वगुण का कार्य है और पुरुष स्वभावतः त्रिगुणातीत है।

पुरुष विशुद्ध चैतन्यरूप होने से वस्तुतः नित्यमुक्त है। वह परिणामातीत तथा बन्धनमोक्षरहित है। वह बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण अन्तःकरणाविच्छिन्न चैतन्य के रूप में अर्थात् जीव के रूप में प्रतीत होने लगता है। बन्धन इस जीव का होता है, शुद्ध पुरुष का नहीं। जब पुरुष को अपने शुद्ध

स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त हो जाता है जो वस्तुतः वह सदा ही है। पुरुष के स्वरूप का अज्ञान बन्धन है और स्वरूप का ज्ञान मोक्ष है। पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान स्वयं को अचेतन प्रकृति तथा अन्तःकरणादि से सर्वथा भिन्न जान लेने पर होता है। वह विवेकज्ञान है, पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान है। कर्म गुणों से संभव है, अतः कर्म से मोक्ष नहीं मिल सकता क्योंकि मोक्ष निस्त्रैगुण्य है। जो पुरूष इन सांसारिक पदार्थों में अनुराग रखता है, उसे अवश्य ही इस संसार में आना होगा उसकी संसार के पाश से कभी मुक्ति नही हो सकती है। नारद 2, 50/80.

पुरुष को जब इस प्रकार का ज्ञान होता है कि 'मैं' (यह) नहीं हूँ, (नाऽस्मि) अर्थात् मैं अचेतन विषय या ज्ञेय नहीं हूँ, मैं जड़ प्रकृति या अन्तःकरण नहीं हूँ, मैं बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य नहीं हूँ, कि '(यह) मेरा नहीं है' (न में) अर्थात् जो भी ज्ञेय विषय हैं वह सब मेरा नहीं है, मेरा कुछ नहीं है; मैं 'ममकार' से रहित हूँ, कि '(यह) मैं भी नहीं हूँ' (नाऽहम्) अर्थात् मैं 'अहंकार' भी नहीं हूँ; और जब यह ज्ञान तत्त्वाभ्यास से सुदृढ़ हो जाता है, एवं निर्विकल्प अनुभव का रूप ले लेता है, जहाँ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, तब इसे 'केवल' या विशुद्ध ज्ञान कहते हैं। यह विशुद्ध चैतन्य पुरुष का स्वरूप है और यह स्वरूप–ज्ञान ही मोक्ष है। सांख्य जीवन–मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों को मानता है। सम्यक ज्ञान होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है, भले ही प्रारब्ध कर्मों के कारण वह सदेह बना रहे। यह जीवन–मुक्ति की अवस्था है, इसमें देह रहने पर भी देह के साथ 'सम्बन्ध' नहीं रहता; कर्म का बन्धन नही होता, केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग शरीर में होता रहता है, यद्यपि जीवन्मुक्त इसमें लिप्त नहीं होता। जैसे कुम्हार का चाक, कुम्हार के हाथ हटा लेने पर भी, पूर्व वेग के कारण थोड़ी देर घूमता रहता है और फिर वेग समाप्त हो जाने पर बन्द हो जाता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्मों के कारण चलता रहता है और उनके समाप्त हो जाने पर शरीरपात होकर विदेहमुक्ति हो जाती है।

योगी को ब्रह्म चिन्तन के योग्य होने के लिये ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन करना उचित है। स्वाध्याय, शौच, संतोष और तप के आचरणपूर्वक अपने मन को परब्रह्म में लगा दें। (37) यम और नियम दोनों पांच-पांच हैं। किसी कामनावश इनके पालन से पृथक-पृथक फल की प्राप्ति होती है, परन्तु निष्काम पालन से मोक्ष मिल जाता है। विष्णु 1, 40-45/399.

8. ईश्वर

मूल सांख्य सेश्वर रहा होगा, किन्तु शास्त्रीय सांख्य ईश्वर कृष्ण के समय से निरीश्वरवादी हो गया। संभवतः जैन और बौद्ध दर्शन के प्रभाव से ऐसा हुआ हो। बाद के सांख्याचार्यों ने, जिनमें विज्ञानभिक्षु प्रमुख हैं, ईश्वर से पुनः स्थापित किया है। कुछ टीकाकार ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं।

सांख्य में वेदान्त अन्तर्निहित हैं। सांख्य दर्शन में अन्तर्निहित तर्क उसे अद्वैतवाद की ओर प्रेरित करता है, पर पुरुष और प्रकृति को दो स्वतंत्र तत्त्व मानकर वह द्वैतवादी हो जाता है।

योग दर्शन

भारतीय दर्शन में योग का अत्यधिक महत्व है। तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार के लिये योग-साधना की आवश्यकता प्रायः सभी दर्शनों एवं भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। स्वाध्याय और संयम के द्वारा ही पुरूषोत्तम के दर्शन होते हैं। उस ब्रह्मरूप को चर्म नेत्रों से नही, स्वाध्याय और योगरूपी नेत्रो से ही देखा जा सकता है। विष्णु 1,1-3/387.

आत्म ज्ञान के यत्न से रूप यम नियमादि की अपेजक्षा विशिष्ट मनोगति का ब्रह्म से संयोग होना ही 'योग' कहा गया है। विष्णु 1, 31/40-45.

आत्मा और मन के साथ संयोग होने का नाम पुराण के द्वारा योग कहा गया है। कुछ विद्वानों के द्वारा प्राण और वायु के संयोग को भी योग कहा गया है। इस मन को वृत्तियों से हीन करके, उस परमात्मा में एकीकरण करके जो जो विमुक्त होता है, वह योगयुक्त कहा जाता है। स्कन्द–2, योगाख्यान वर्णन

योग शब्द का प्रचलित अर्थ मिलन है अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से मिलन। गीता में योग को 'दुःख–संयोग का वियोग' बताया गया है जो सांख्यसम्मत 'दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति' की ओर संकेत करता है, किन्तु साथ ही उसे, सांख्य के विपरीत, अनन्त आनन्द या 'आत्यन्तिक सुख' भी बताया है। योग वह स्थिति है जहाँ योगी बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता; जिस स्थिति से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं मानता; और जिस स्थिति में वह आत्यन्तिक सुख का अनुभव करता है। गीता में ही योग को 'चित्त निरोध' एवं 'समत्व' तथा 'ब्रह्म भाव' भी बताया गया है। गीता के अनुसार योग में ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय हो जाता है, इस प्रकार गीता में योग का सम्पूर्ण वर्णन उपलब्ध है।

पातंजल योग–सूत्र में चार पाद हैं। प्रथम समाधिपाद है जिसमें समाधि के रूप एवं भेदों का और चित्त तथा उसकी वृत्तियों का वर्णन है। द्वितीय साधनापाद में क्रियायोग, क्लेश दूर करने के साधन, योग के बहिर्रंगों आदि का वर्णन है। तृतीय विभूतिपाद में योग के अन्तर्रंगों का एवं योग शक्ति से उत्पन्न विभूतियों का वर्णन है। और अन्तिम चतुर्थ कैवल्यपाद में समाधिसिद्धि तथा कैवल्य आदि का निरूपण है।

1. चित्त तथा उसकी वृत्तियाँ

योग शब्द 'युज्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है– समाधि। पतंजजि ने योग को चित्तवृत्तिनिरोध बताया है। चित्तवृत्तियों का निरोध समाधि में होता है, अतः योग को समाधि भी कहा गया है। चित्त का अर्थ है 'अन्तःकरण'। इसमें सांख्यसम्मत बुद्धि, अहंकार और मन तीनों आ जाते हैं। योग में बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों को

मिलाकर 'चित्त' नाम दिया गया है। चित्त (बुद्धि रूप में जिसके अन्तर्गत अहंकार और मन भी आ जाते हैं) प्रकृति का प्रथम प्रसूत तत्त्व है तथा इसमें सत्त्व गुण का प्राधान्य है। चित्त अचेतन होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है और पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। पुरुष अपने चैतन्य से प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित होने पर जड़ चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है और निराकार तथा विभु पुरुष साकार तथा सीमित जीव के रूप में, अन्तःकरणाविच्छिन्न चैतन्य के रूप में, प्रतीत होता है। चित्त संसार में शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम है। आग में खूब तपा हुआ लोहे का गोला अग्नि का गोला लगने लगता है। ठंडा लोहे का गोला प्रतप्त अग्नि–गोलक बना जाता है, और निराकार अग्नि साकार तथा सीमित गोलक का रूप ले लेती है। इसी प्रकार चेतन पुरुष के संसर्ग से अचेतन चित्त चेतनवत् प्रतीत होता है, तथा नित्य निराकार पुरुष–चैतन्य चित्त के संसर्ग से साकार, सीमित और अनित्य जीवचैतन्य के रूप में प्रतीत होता है। यही पुरुष का बन्धन और संसरण है। जब पुरुष सम्यक ज्ञान द्वारा चित्त में अपने प्रतिबिम्ब से अपना तादात्म्य हटा लेता है और चित्त को प्रकृतिजन्य अचेतन एवं अपने से सर्वथा विपरीत जान लेता है तब पुरुष चैतन्य का प्रकाश चित्त से हट जाता है। उस दशा में चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है तथा चित्त अपनी जननी प्रकृति में विलीन हो जाता है, एवं पुरुष अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में प्रकाशित होता है। यह पुरुष का स्वरूपावस्थान अर्थात् मोक्ष है।

जब चित्त इंद्रियों द्वारा बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है अथवा स्वयं ही मानस विषयों के सम्पर्क में आता है, तब वह विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। इस 'आकार' को ही 'वृत्ति' कहते हैं। जब पुरुष चैतन्य के प्रकाश से यह चित्त–वृत्ति प्रकाशित होती है, तब हमें उस विषय का ज्ञान होता है।

चित्तवृत्तियाँ पाँच प्रकार ही होती हैं– 1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प, 4. निद्रा और 5. स्मृति। प्रमाण सत्यज्ञान है। यह तीन प्रकार का है– प्रत्यक्ष, प्रमाण और शब्द।

विपर्यय मिथ्याज्ञान है जैसे रज्जुसर्प का ज्ञान; संशय भी इसी के अन्तर्गत मान लिया गया है। विकल्प शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्यवस्तुशून्य ज्ञान है, यह कल्पना मात्र है, जैसे शशश्रृंग। निद्रा ज्ञान का अभाव मानी जाती है, किन्तु इसके वृत्तित्व में संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि जागने पर व्यक्ति को भान होता है कि उसे खूब गहरी नींद आई। स्मृति संस्कारजन्य ज्ञान है।

पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य कर लेता है तो वह बद्ध जीव के रूप में प्रतीत होता है जो जन्म–मरण चक्र में संसरण करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश भोगता है। कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते रहते हैं। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म में नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि रखना 'अवद्यिा' है; यह विपर्यय या मिथ्याज्ञान है, पुरुष और चित्त नितान्त भिन्न हैं; दोनों को एक मान लेना 'अस्मिता' है। यह अहंकारममकार है। इसी से भोक्ता–भोग्य–भोग की भावना होती है। विषयसुखों की तृष्णा या आसक्ति 'राग' है। सुख के अवरोधक और दुःख के उत्पादक के प्रति जो क्रोध एवं हिंसा का भाव है उसे 'द्वेष' कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में जीवन की आसक्ति और मृत्यु का भय स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है, इसी को 'अभिनिवेश' कहते हैं। अविद्या–निवृत्ति तथा चित्तवृत्तिनिरोध का पर्याय है।

चित्त की पांच भूमियाँ या अवस्थाएं होती हैं– क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त चित्त में रजोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह अस्थिर, चंचल और विषयोन्मुख बन कर सुख–दुःख भोगता है तथा तूफान में घिरी नाव के समान दोलायमान रहता है। मूढ चित्त में तमोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह विवेकशून्य, कर्तव्याकर्तव्यबोधरहित बनकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा में पड़ा रहता है या विवेकहीन कार्यों में प्रवृत्त होता है। विक्षिप्त चित्त में सत्त्वगुण की अधिकता रहती है, किन्तु कभी–कभी रजोगुण भी जोर मारता है। 'विक्षिप्त' का अर्थ 'विशेष रूप से क्षिप्त' अर्थात् अधिक क्षिप्त नहीं है, अपितु क्षिप्त से उत्तम (क्षिप्ताद् विशिष्टम्) है अर्थात् राजस क्षिप्त चित्त से

सात्विक विक्षिप्त चित्त उत्तम है क्योंकि इसमें सत्त्वगुण के कारण कभी–कभी स्थिरता आ जाती है, जब कि राजस क्षिप्त चित्त सदा चंचल रहता है। चित्त की चौथी भूमि में चित्त 'एकाग्र' होता है। यहाँ सत्त्व का अत्यन्त उत्कर्ष रहता है तथा रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं। चित्त बाह्यवृत्तियों से रहित होकर ध्येयवृत्ति पर एकाग्र रहता है। चित्त की पाँचवी और अंतिम भूमि में चित्त 'निरुद्ध' कहलाता है। यहाँ वृत्तियों का कुछ काल तक निरोध हो जाता है, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं। जब सारी वृत्तियों और सारे संस्कारों का सर्वथा निरोध होकर अविद्यानिवृत्ति हो जाती है तो चित्त निरुद्ध होकर अविद्या में विलीन हो जाता है। यह मोक्ष की अवस्था है। इन पांच चित्तभूमियों में प्रथम तीन योग के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है, केवल अंतिम दो भूमियाँ ही एकाग्र और निरुद्ध समाधि के लिये उपयोगी हैं।

संसार में कुछ भी सार नही है, इस प्रकार का ज्ञान निर्वेद कहा जाता है। जब ऐसा निर्वेद हो जाता है, तो फिर सभी सांसारिक पदार्थों के उपयोग में विरक्तता आ जाया करती है और वैराग्य हो जाने पर पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान के द्वारा सर्वोपरि तत्व का भी ज्ञान होता है, जो कि परम ज्ञान है और शिव स्वरूप है। उसके होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। जब सब प्रकार के दुखों से निवृत्ति हो जाती है तो वह स्वस्थ्यात्मा होता है और तभी सुखी भी होता है। पद्म 2, 112–113/32.

2. ईश्वर

योग सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार करता है। पतंजलि मुनि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बताया है– क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) और आश्‌य (कर्म–संस्कार) से सर्वथा अस्पृष्ट्‌ पुरुष विशेष ईश्वर है। ईश्वर नित्य मुक्ति है। मुक्त पुरुष पूर्व काल में बद्ध था; प्रकृतिलीन पुरुष की भविष्य में बन्ध की संभावना बनी रहती है। किन्तु ईश्वर सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर है। वह नित्य और दिक्‌कालातीत है। ईश्वर में ज्ञान और ऐश्वर्य की पूर्णता है। वह गुरूओं का भी गुरू है;

प्राचीन गुरूओं का भी गुरू है। वही वेद का प्रथम उपदेष्टा है। प्रणव उसका वाचक है। योग सूत्र में ईश्वर का उल्लेख अनेक बार हुआ है। ईश्वर–प्रणिधान से भी सिद्धि होती है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान को क्रियायोग कहते हैं। ईश्वर प्रणिधान से समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है। ईश्वर–प्रणिधान का अर्थ है चित्त को भक्तिपूर्वक दृढ़ता से ईश्वर में लगाना अर्थात् ईश्वर के ध्यान की एकतानता। जो समाधि–सिद्धि, अभ्यास तथा वैराग्य रूपी कठिन साधनों से प्राप्त होती है, उसे ईश्वर–प्रणिधान द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर प्रसन्न होकर समाधि के विघ्नों और क्लेशों को दूर करके समाधि में सिद्धि प्राप्त करा देते हैं। अतः ईश्वर–प्रणिधान, समाधि, प्रज्ञा तथा कैवल्य का सरलतम उपाय है।

किन्तु योग प्रतिपादित ईश्वर एक विशेष पुरुष है; वह जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता, नियान्ता नहीं है। असंख्य नित्य पुरुष तथा नित्य अचेतन प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्वों के रूप में ईश्वर के साथ–साथ विद्यमान है। साक्षात् रूप में ईश्वर का प्रकृति से या पुरुष के बन्धन और मोक्ष से कोई लेना–देना नहीं है। उनका कार्य अपने भक्तों के समाधि पथ में आने वाले विघ्नों को दूर करके समाधि–सिद्धि को सम्भव बना देना है। मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर का कोई सहज घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। मोक्ष कैवल्य है जिसमें सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य की कोई प्रतिष्ठा नहीं है।

3. आसन

यह योग का तीसरा अंग है। नारद पुराण भाग–2 में इस हेतु 30 आसनों की चर्चा की गई है; (112–115, पेज 92)। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थान में आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला नहीं हो, निर्जनता के कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगाने के लिए चुनना चाहिए। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिए। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान–स्थान पर संकेत है। योग में अनेक

आसन बतलाये गए हैं। स्वस्तिकासन से बैठें तथा उस समय अपने शरीर को बिल्कुल सीधा बना रखें–

गृहात प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने।।
– (श्रीमदभागवत, 2।1।16)

'घर से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थों के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक बिछाये हुए आसन पर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत।। – (3।28।8)

'शुचि देश में आसन लगाकर आसन को जीतें, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करें।'

इस श्लोक में श्रीधरस्वामी के अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना गया है। अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन से सुखपूर्वक बैठें; ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया मालूम नहीं पड़ता। स्थान–स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर निर्देश जान पड़ता है।

4. प्राणायाम

प्राणों का आयाम योग का चौथा अंग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश दिया गया है–

प्राणस्य शोधयेन्मार्ग पूरकुम्भकरेचकैः। – (3।28।9)

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है– 1. अगर्भ तथा 2. सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है, जिसमें जप तथा ध्यान के बिना ही, मात्रा के अनुसार, प्राणायाम किया जाये। सगर्भ प्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिए। इन दोनों में सगर्भ

प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणों ने उसी के करने का उपदेश दिया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तरखण्ड के अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का अच्छा वर्णन है–

अगर्भत्र्च सगर्भत्र्च प्राणयामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्।।33।।

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकार का कहा गया है, जप और ध्यान के बिना जो प्राणायाम होता है, वह अगर्भ है और जप–ध्यान के सहित जो है, वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणयामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्।।34।।

'अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण सौ गुना है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराण में अगर्भ को 'अबीज' और सगर्भ को 'सबीज' प्राणायाम कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ ही साथ अ–उ–म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर 'ॐकार' की मन में आवृत्ति करता जाय। ॐकार को बिना भुलाये अपने श्वास को जीते–

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्।। – (श्रीमद०,2।1।17)

'इस तीन अक्षर वाले शुद्ध परम् ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जाप करें। इस ब्रह्म बीज को बिना भुलाये श्वास को जीतकर मन को एकाग्र करें।'

प्राणायाम का संक्षिप्त अर्थ प्राणों को वश मे करना होता है। यह दो प्रकार का होता है– अगर्भ व सगर्भ। इनमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ होता है। जिसमें ध्यान व जप नही होते, वह अगर्भ तथा जिसमें ये दोनों ही होते हैं, वह सगर्भ होते हैं। नारद 2, 119/93.

मात्सर्य एवं द्वन्द्वों से मुक्त होकर व्यक्ति को अपने गुरूदेव के चरणों में भक्ति–भाव रखते हुए स्वेच्छया किसी एक आसन को सविधि पालन कर प्राण वायु पर विजय प्राप्त करने अर्थात प्राणायाम का अभ्यास क़रना चाहिये। नारद 2,116 / 92.

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल, रज तथा तम का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आग से तपाये लोहे से मलिनता दूर हो जाती है–

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्।। – (3 ।28 ।10)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवत के एकादश स्कन्ध में 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (14 ।33) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम' (3 ।28 ।9) कह कर इससे उलटे क्रम में प्राणायाम करने की भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है। यहाँ 'विपर्ययेणापि' और 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ– साधारण नियम का उल्टा क्रम अर्थात रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आश्य यह है कि पहले ही रेचक करें, बाद को कुम्भक और अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है– अन्तः कुम्भक तथा बर्हिकुम्भक। भागवत में इन दोनों का वर्णन है तथा दोनों में से किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाड़ी से पूरक करे तथा दाहिनी से रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाड़ी से वायु भरकर वाम से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यािसियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में– प्रातः, मध्यान्ह तथा सांय– करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये। यदि इस नियम से प्राणायाम किया जाये तो एक मास से पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है–

दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः।। – (श्रीमद्0, 11 ।14 ।35)

प्राण वायु का वश में किया जाना 'प्राणायाम' है। प्राणायाम से वायु और प्रत्याहार इन्द्रियों को वश में करके चित्त को शुभाश्रय में स्थित करना चाहिये। विष्णु–1, 40–45/399.

विष्णु पुराण में कहा गया है कि योगी अहिंसा और सत्य पालन, निर्वाह योग्य उपार्जन ब्रह्मचर्य, तप, शौच, वेदाध्ययन, ईश्वर के अर्चन में लगा रहे। व्यर्थ न बोले, दृढ़ आसन और स्थिर चित्त रखकर प्राणों को वश में करे। प्राणायाम द्वारा श्वास को जीतने वाले योगी का मन निर्मल हो जाता है।

5. प्रत्याहार

विभिन्न विषयों में समासक्त इंद्रियों को वहाँ से हटाकर टिकाये रखने को ही प्रत्याहार कहते हैं। आसन, संग तथा श्वास को जीतकर साधक अपनी इंद्रियों को उनके तत्द्विषयों से खींचें। इस कार्य में सहायता निश्चय बुद्धि वाला मन देगा। मन के द्वारा निश्चय बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इंद्रियों को विषयों से खींचकर उन्हें एक स्थान पर रखने का यत्न करे। यही प्रत्याहार है।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः। – (श्रीमद0, 2।1।18)

पद्मपुराण–2 कहता है कि अन्तर्मुख होने पर ही ब्रह्म को जाना जा सकता है।

मृगाःशालं हि जिघ्रन्ति कस्तूरीगन्धमिच्छवः।
स्वानाभिस्थं न जानन्ति तथा विष्णु बहिर्मुखाः।।

6. धारणा

मन को एक वस्तु में टिकाने का नाम धारणा है। विष्णुपुराण के अनुसार सर्वशक्तियों के आधार भगवान में चित्त लगाना ही शुद्ध धारणा है। भागवत में दो प्रकार की धारणा बतायी गयी है, वे ही धारणायें अन्य पुराणों में भी नाम–भेद से बताई गई हैं। भगवान के दो रूप हैं– स्थूल तथा सूक्ष्म। विष्णुपुराण में इन्हें मूर्त अथवा विश्व तथा

अमूर्त अथवा सत् रूप बताया गया है। भगवान के इन्हीं दो रूपों का धारणा तथा ध्यान करना चाहिये।

योगी को चाहिये कि वह जिस–जिस को देखें, उस सबको अपने चित्त में अपने समान देखता हुआ विषयों से प्रत्याहृत की हुई इंद्रियों को धारण किये रहें। इसी धारण के कारण इस योग के अंग का नाम 'धारणा' होता है।

7. ध्यान

ध्येय वस्तु, विषय–चित्त वृत्तियाँ जब निरन्तर एकाकार रूप में प्रवाहित हों, तब इसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्येय वस्तु के साथ ज्ञान की एकात्मता का नाम ध्यान है। ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान की अलग–अलग प्रतीती होती है।

जो इंद्रिया बहिर्मुख होती हैं अर्थात बाहर सांसारिक विषयों के ग्रहण करने को जिन इंद्रियों की प्रवत्ति रहा करती है, उन समस्त इंद्रियों को अभिमुख अर्थात अन्तर्मुख कर लेवें। अर्थात मन में ही इंद्रियों के समूह को लगा देवें और फिर उस मन को आत्मा में योजित कर देना चाहिये। सब प्रकार के भावों से छुटकारा पाये हुए क्षेत्रज्ञ को ब्रह्म में न्यस्थ कर देना चाहिये। यह इतना ही ज्ञान है और यही ध्यान बताया गया है। बाकी सब अन्य बातें तो ग्रन्थों का फैलाव–मात्र ही होता है। अन्य के विषय में कथन किया भी जाये तो वह हृदय में स्थान नही प्राप्त किया करता है। अग्निपुराण, 10–13/315,

चिन्तन में चित्त की जो स्थिरता व एकाग्रता होती है, उसी को ध्यान कहा जाता है। केवल दो घडी तक की एकाग्रता से किये गये ध्यान से भी प्राणी की मुक्ति हो जाया करती है। नारद 2, 138/97.

8. समाधि

विष्णु पुराण के अनुसार ध्यान के बाद ही समाधि का स्थान है। ध्यान द्वारा सिद्धि के योग्य उस ध्येय का जो स्वरूप मन के द्वारा ग्रहण होता है, वही समाधि कही जाती

है। (92/406.) नारद पुराण के अनुसार समस्त इंद्रियों को उपराम देकर वायु–वर्जित स्थान में दीपक की लौ की स्थिति के समान ही जो स्थिति हो जाया करती है, उसी को समाधि कहा करते है। (143/98)

समाधि की स्थिति में भक्ति से द्रवीभूत ह्रदय, आनन्द से रोमांचित होकर उत्कंठा से आँसुओं की धारा में नहाने वाला भक्त अपने चित्त को ध्येय पदार्थों से उसी भाँति अलग कर देता है, जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ काँटें को अलग कर देता है। इस समय निर्विषय मन अरची की तरह गुण प्रवाह से रहित होकर भगवान में लय प्राप्त कर लेता है– ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है।

व्यासजी का कथन है कि योग का उद्देश्य काया–कल्प नहीं है– शरीर को केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उनका प्रधान ध्येय भगवान में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है।

पुराण दर्शन

पुराण नाना रूपों में भासमान जगत् के मूल में एक सर्वशक्तिसम्पन्न तत्त्व की सत्ता स्वीकार करता है, जिसकी सत्ता से यह विश्व स्थिति–सम्पन्न है। उस परमतत्त्व के विभिन्न नाम हैं। वही है विष्णु (विष्णु पुराण तथा नारदीय में), वही है शिव (वायु, कूर्म तथा शिव पुराण में), वही है शक्ति (देवी भागवत तथा देवी पुराण मे) और वही है श्रीकृष्ण (श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में)। इन पुराणों ने अपने परमोपास्य तत्त्व के स्वरूप का विवेचन बड़ी रुचिरता तथा विशदता के साथ किया है। वह दोनों रूपों (निर्गुण तथा सगुणरूप) में वर्तमान रहता है। परन्तु सामान्य मानव के लिए उसका सगुणरूप ही विशेषतः उपादेय तथा ग्रहणीय माना गया है। मूलतत्त्व के नाम में भिन्नता होने पर उसके मौलिक स्वरूप में पार्थक्य नहीं है। पुराण ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों मार्गों का वर्णन करता है। परन्तु कलियुग के प्राणियों के लिए उसका विशिष्ट आग्रह भक्ति पर ही है। उसी भक्ति का आश्रयण मानवों को अनायास दुःखबहुल संसार

के निस्तार तथा आनन्दपूर्ण स्थिति में पहुँचने के लिए एकमात्र सुगम साधन बतलाया गया। इसी तत्त्व का प्रतिपादन प्रति– पुराण में प्रायः समान है, परन्तु श्रीमद्‌भागवत ने, जो पुराणों में मूर्धन्य स्थान धारण करता है, इस भक्तितत्त्व का बड़ा ही सर्वांगींण विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो सब पुराणों में सर्वथा मान्य है। भागवत का एकादश स्कन्ध का अपर नाम 'उद्धवगीता' है, जहॉ भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धवजी को भागवत तत्त्वों का उपदेश बड़ी ही सुन्दर शैली में दिया है। भक्ति के साथ योग का भी सामंजस्य पुराणों में अभिप्सित है। शैव पुराणों में वह 'पाशुपंतयोग' के नाम से अभिहित है, तो वैष्णव पुराणों में वह भागवतयोग की संज्ञा से प्रतिपादित है।

ज्ञान व कर्मयोग का सुन्दर समन्वय विष्णुपुराण तथा भागवतपुराण में मिलता है। पुराणों का मत है कि 'यहॉ जो भी कर्मों का फल हो, उसे परमेश्वर के ही लिये सन्यस्त कर देवें। कर्मों का ऐसा यह त्याग भी उत्तम ब्रह्मार्पण होता है। यह कर्म मुझे कर्तव्य स्वरूप में करना ही है, अतः नियत रूप से संगरहित अर्थात उसमें आसक्ति न करते हुए किया जाना चाहिये।' विष्णु 2, 18–19/75.

कर्म के सहित ज्ञान से सम्यक योग उत्पन्न होता है और जो कर्म के सहित ज्ञान है, वह दोषों से वर्जित ही होता है। इसीलिये सभी प्रयत्नों से जिस भी किसी आश्रम में रत रहें, ईश्वर की तुष्टि के लिये ही कर्म करें तो उस कर्म से भी मनुष्य निष्कर्मता की प्राप्ति कर लेता है। विष्णु 2, 23–24/75.

सब पापों का नाश हो जाने पर बुद्धि में निर्मलता आ जाया करती है। बुद्धिमान लोग ऐसी बुद्धि का नाम ज्ञान कहा करते हैं। ज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करने वाला होता है। यह ज्ञान योगी जनों में हुआ करता है। यह योग 'ज्ञान योग' और 'कर्म योग' दो प्रकार का हुआ करता है। इन दोनों में कर्मयोग प्रधान हुआ करता है क्योंकि इसके बिना ज्ञान योग की सिद्धि नही हुआ करती है। नारद 2, 31–32/76.

दोनों प्रकार के योगों में मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को पीड़ा न देना, अहिंसा, सत्य क्रोधाभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और डाह न रखना, सदैव दया भाव रखना परमावश्यक है। नारद 2,33–35/76.

1. ब्रह्म

साध्य तत्त्व के अन्तर्गत ब्रह्म का विचार प्रस्तुत किया गया है।

भगवान अकरण है। वे चिन्तन, कर्म आदि के साधनभूत मन, बुद्धि तथा इंद्रिय आदि करणों से सर्वथा रहित हैं। फिर भी समस्त अन्तःकरण और बाह्य करणों की शक्तियों से सर्वदा सम्पन्न हैं (अखिलकारकशक्तिधरः)। वे स्वयं प्रकाश हैं और इसीलिये कोई काम करने के लिये उन्हें इंद्रियों की सहायता की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। वे इस विशाल ब्रह्मांड़ के अधिपति–स्थानीय हैं, जिनके आदेशों का पालन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देव अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। भगवान नित्यमुक्त स्वभाव वाले हैं, वे माया से अतीत हैं, परन्तु जब वे ईक्षण मात्र से अर्थात संकल्प मात्र से माया के साथ क्रीड़ा किया करते हैं, जब जीवों के सूक्ष्म शरीर तथा उनके सुप्त कर्म संस्कार जग जाते हैं और जीवों की सृष्टि होती है। उनमें समत्व गुण की विशिष्टता है, फलतः उनके लिए न कोई अपना है और न कोई पराया। कार्य–कारण–रूप प्रपंच के अभाव होने से वे बाह्य दृष्टि से शून्य के समान प्रतीत होते हैं। परन्तु उस दृष्टि के भी अधिष्ठान होने के कारण वे परम् सत्यरूप हैं। भगवान इस विश्व के नियामक हैं। नियमन करना उनका महत्वपूर्ण कार्य है। उन्हीं के नियमन में संचालित यह विश्व अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता हुआ अबाध गति से आगे चलता जाता है। वे समदर्शी हैं। उनके उपासकों की दो श्रेणियां हैं। कुछ परिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके व्यक्त रूप की उपासना में आसक्त रहते हैं; तो अपरिच्छिन्न दृष्टि वाले उपासक उनके निराकार एकरस रूप के चिन्तन में लीन रहते हैं। इन दोनों में वे किसी प्रकार का अन्तर अथवा भेद–भाव नहीं मानते, प्रत्युत समान दृष्टि से उनकी सेवा तथा उपासना को चरितार्थ करते हैं।

अपने प्राण, मन तथा इंद्रियों को वश में रखकर दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा अपने हृदय में उपासना करने वाले योगियों को जो गति प्राप्त होती है, वही गति उन प्राणियों को भी मिलती है, जो उनसे सर्वदा वैर–भाव रखते हैं। इन दोनों के ऊपर भगवान सदा–सर्वदा एक प्रकार ही अपनी दया की वृष्टि किया करते हैं।

भगवान का शासन अखण्ड रूप में इस विश्व के सब प्राणियों पर, देवता, दानव तथा पशु–मानव के ऊपर समभाव से वर्तमान है। भगवान् स्वयं इंद्रियों से रहित हैं, परन्तु समस्त जीवों की इंद्रियों के वे ही प्रवर्त्तक हैं। मनुष्य अपने कल्याण के लिए देवताओं को बलि दिया करते हैं और उपासना के समय विभिन्न प्रकार के पदार्थ समर्पित करते हैं, परन्तु देवता लोग उस बलि को भगवान् को ही समर्पित कर देते हैं।

अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूण, हाथ–पांव से शून्य, विभु, सर्वगतः, नित्य, भूत योनि, कारण रहित, जिसमें व्याप्य व्यापक प्रकट हुआ और जिसे ज्ञानी जन देख पाते हैं, वही परम् धाम ब्रह्म है। विष्णु 1, 66/383.

वे सर्वभूतों की प्रकृति के विचार, गुण और उनके दोषों से विलक्षण तथा सब आवरणों से अतीत सर्वात्मा है। पृथ्वी–आकाश के मध्य जो कुछ स्थित है, वह सब उन्हीं के द्वारा व्याप्त है। वे सभी कल्याण गुणात्मक हैं। वे ही समष्टि और व्यष्टि रूप हैं, वे ही व्यक्त और अव्यक्त हैं। वे ही सर्वज्ञाता, सर्वसाक्षी और सबके स्वामी हैं तथा सर्व शान्ति सम्पन्न परमेश्वर संज्ञक हैं। वे दोष–रहित, मल–रहित, एक रूप परमात्मा जिसके द्वारा देखे जाते हैं, वही ज्ञान है और इसके विपरीत को अज्ञान समझो। विष्णु 1, 82–87/386.

वह (ब्रह्म) जन्म शून्य, नित्य स्वरूप, अक्षय, अव्यय, सर्वदा एक रूप, माया तथा उसके गुणों से रहित और निर्मल है। व्यक्त (महदादि), अव्यक्त (माया पुरूष) और काल इन चारों रूपों में वही स्थित है। विष्णु 2, 13–14/47.

प्रलय काल में सत्व, रज व तम साम्यावस्था में (निष्क्रिय) आ जाते हैं तथा पुरूष व प्रकृति पृथक–पृथक हो जाते हैं।सृष्टि काल में– परमेश्वर पुरूष में प्रविष्ट होकर उसे सृष्टि रूप हेतु क्षोभित व प्रेरित करते हैं। परमेश्वर की कोई क्रियाशीलता नही होती। जैसे गंध समीप होने पर मन में चंचलता होती है, ऐसे ही क्षोभ (जनकत्व) होता है।

वह सबमें व्याप्त है, सर्व सत्यमय, शान्त स्वरूप, अजर–अमर, ज्ञान स्वरूप है, जो सर्वत्र व्यापक होने से अणु से भी अणु तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और महान से भी महान है तथा गुह्य से भी परम गुह्य है। नारद 1, सूत–ऋषि संवाद वर्णन/60.

जो पर आत्मा है, वही परमात्मा है। जो अपर आत्मा है, उसी को जीवात्मा कहा जाता है। ब्रह्म पर और अपर भेद से दो प्रकार का होता है। परमात्मा गुणों से रहित है और जीवात्मा अहंकार से युक्त हुआ करती है। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नही होता और इनमें अभेद होता है क्योंकि एक ही तत्व है। इस परमार्थिक अभेद ज्ञान का नाम ही योग है।

यह शरीर क्षेत्र है अर्थात आश्रय का स्थल है और जो इसमें स्थित रहा करता है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। वह क्षेत्रज्ञ परम शूद्र और परिपूर्ण होता है। इस पंच भूतों वाले शरीर में जो हृदय में स्थित साक्षी है, उसे ही सत्पुरूष अपर कहा करते हैं। और जो परमात्मा के अभेद का ज्ञान पूर्ण रूप से हो जाया करता है तभी इस अपरात्मा जीव का संसार से पाश उच्छिन्न हो जाया करता है।

जिस समय में ज्ञाता और ज्ञेय की उपाधि विनष्ट हो जाती है और फिर सबको एक विचारों की बुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है वही अभेदमयी विद्या कही जाती है। नारद 1, 8/6.

जो भी दृष्ट है, उसी से अनुमान कर लेना चाहिये। मैं युक्ति से तर्क बतलाऊंगा। वह एक ऐसा विषय है जहॉ पर वाणी की पहुॅच नही है और मन भी वहॉ तक नही

पहुँचता है। वह अव्यक्त के समान परोक्ष है, अतएव बहुत गहन और दुरासद है। ब्रह्मांड 2, 10–11/129.

ब्रह्म सनातन, एक और अद्वितीय है। वह परमात्मा निर्गुण है, उसका कुछ भी कर्म एवं कार्य तथा रूप नही है। कोई वर्ण भी नही है। ऐसे निर्गुण परमात्मा में कर्तव्य एवं भोक्तृत्व कुछ भी नही होता है। वह तो सर्वदा एकरस रहा करता है। वही परमात्मा परंब्रह्म समस्त क्रियामलापों का मूल कारण होता है। सब तेजों का भी परम् श्रेष्ठ तेज है। वह ऐसा ही है कि उससे भिन्न कुछ भी है ही नही। मनुष्य को अपनी मुक्ति की प्राप्ति के लिये उसका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

ज्ञानहीनों को यह जगत भिन्न–भिन्न प्रकार का दिखाई देता है। जो परमज्ञानी होते हैं, उनको ही यह समस्त जगत परंब्रह्मात्मक दिखाई दिया करता है। माया के कारण ही लोग परमात्मा में भेद देखा करते हैं। माया पर विजय प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण अज्ञान विनष्ट हो जाया करता है। नारद 2, 55–70/80–83.

अविद्या– के दो भेद हैं– अनात्मा को आत्मा और जो अपना नही है, उसे अपना मानना। इस पंच भूतात्मक शरीर के प्रति 'मैं' या 'मेरा' का भाव रखना बुद्धिहीनता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि से आत्मा के नितान्त पृथक होने के कारण कौन विवेकी पुरूष शरीर को आत्मा मानेगा? और जब शरीर से आत्मा भिन्न है तो शरीर के उपभोग की घर आदि वस्तुओं को कौन ज्ञानी पुरूष अपना कह सकता है? विष्णु 1, 11–14/395.

यह आत्मा तो केवल स्वच्छ, शुद्ध, सूक्ष्म और सनातन है। यह सबके अन्तर में है और साक्षात ज्ञान स्वरूप है। यह तम से परे है। वह अन्तर्यामी पुरूष प्राण, महेश्वर काल और अव्यक्त है। वह वेद है। यह विश्व इसी से समुत्पन्न होता है और अन्त में इसी में विलीन हो जाया करता है। वह माया से बद्ध होकर विविध प्रकार के शरीरों को धारण किया करता है। यह कभी भी संसरण नही किया करता है। यह संसारमय भी नही होता।

यह पृथ्वी, जल, तेज, पवन और नभ भी नही है। यह आत्मा है, न प्राण और न मन, अव्यक्त, शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध है। न मैं कर्ता ही हूँ और न वाणी ही। न किसी कर्म का करने वाला है और न पुरूष ही है। न यह माया है और परमार्थ स्वरूप से यह प्राण भी नही होता है। समस्त देहधारियों का यह संसार ही अज्ञान के मूल वाला है। अर्थात इस संसार का मूल ही पूर्ण अज्ञान होता है। वस्तुतः यह आत्मा तो नित्य सर्वत्र गुह्य स्वरूप वाली कूटस्थ और सभी दोषों से रहित होता है। कूर्म 2, 4–14/49.

आत्मा, शुद्ध, अक्षर, शान्ता, गुण रहित तथा प्रकृति से परे है तथा सब प्राणियों में वह ओत–प्रोत है, इसलिये उसकी न कभी वृद्धि है और न क्षय है। विष्णु 1, 71/341,

विष्णु पुराण 1 में जड़ भरत राजा सौवीर को अद्वैत विषयक उपदेश देते हुए कहते हैं कि आत्मा एक है। वह सर्वव्यापी, शुद्ध, सम, निर्गुण, प्रकृति से परे तथा जन्म–वृद्धि आदि से रहित सर्वगामी और अव्यय है। हे राजन! वह परम ज्ञानमय है। अजत नाम तथा जाति से वह कभी भी संयुक्त होने वाला नही है। वह आत्मा अपने तथा अन्य प्राणियों की देह में स्थित रहता हुआ भी एक है। इस प्रकार का विशेष ज्ञान ही परमार्थ है। विष्णु 1, 29–30/350.

शिव दाता है और शिव ही भोक्ता है। यह समस्त जगत ही शिवस्वरूप है। शिव की सब जगह जय होती है। जो शिव है, वही 'मैं' हूँ। भविष्य 1, 81/186.

पितामह, स्नुषा, भार्या, जाति संबंधी बान्धव– यद्यपि ये सब बहुत हैं किन्तु यह जगत सम्पूर्ण स्वजन की ही भॉति अर्थात अल्पकाल तक रोकर फिर इसके उपरान्त पराङमुख हो जाया करता है। श्रीमद्भागवत0, 13–14/423.

यह संसार सार–रहित, दुखों से युक्त और मोह में डालने वाला है। यहॉ किसका पुत्र? किसका धन? इन्द्र भी यहॉ सुखी नही है। सुख है तो विरक्ति में है। इसलिये आप अज्ञान को त्याग दीजिये। यह देह नाश है। अस्थि, मांस और रूधिर से बने इस शरीर को अपना मानने का अहंकार छोड़कर भगवान की भक्ति में मन लगाइये और सदा

धर्म–पालन कीजिये। लौकिक धर्मों का त्याग, साधु–सेवा, काम–तृष्णा से विरक्ति और पराये गुण–दोषों को दृष्टिहीन कर भगवत्कथा–रस का निरन्तर पान करिये।

असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः।
सुत कस्य धनं कस्य स्नेहवाज्वलतेऽनिशम्।। –भागवत, 4/31

पुराण आगे कहता है कि काष्ठ में निहित अग्नि जैसे काष्ठ से पृथक है, देह में स्थित वायु जैसे देह से भिन्न है और सर्वगत आकाश भी किसी से संयुक्त नही है, वैसे ही ईश्वर सब गुणों का आश्रय लेते हुए भी गुणों से परे है।

भगवान माया से परे, सूक्ष्मतम, अव्यक्त, विशेषण–रहित, आदि–मध्य–अन्त से रहित, नित्य और मन, वचन से परे है। उनके ये सगुण और निर्गुण रूप हैं, किन्तु ज्ञानीजन माया द्वारा रचे हुए इन दोनों रूपों को ग्रहण नही करते। विराट द्वारा विश्व का 'प्राकट्य' इसी प्रकार हुआ है। "

'अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम्।
अनादिमध्यनिधनं नित्य वाङमनसः परम्।।" –श्रीमद०

यह संसार बड़ा घोर स्वरूप वाला है जो कि मनुष्यों को फंसा लिया करता है और यह संसार सैंकडों ही दुखों से घिरा हुआ है। इस संसार में तिर्यकों की सहस्त्र योनियां हैं। उनमें बार–बार जन्म लिया करता है। हे द्विजों, यह देही बहुत कठिनाई के पश्चात किसी प्रकार से मनुष्य का शरीर प्राप्त किया करता है। इस दुर्लभ मनुष्य देह में भी विप्रत्व प्राप्त करना कठिन है और विप्र होकर भी विवेकशीलता कठिन है। विवेक में धर्म की बुद्धि का होना और उस बुद्धि के बल से श्रेय का ग्रहण करना महान कठिन है। ब्रह्म 2, 5–6/394.

वे (ब्रह्म) इस सृष्टि कार्य में निमित्त मात्र ही हुए क्योंकि समस्त वस्तुओं की रचना में उनकी निजी (स्वयं की) शक्ति ही मुख्य कारण होती है। (51) हे तपस्वी श्रेष्ठ!

सृजन कार्य के लिये और किसी कार्य की अपेक्षा नही जान पड़ती। समस्त वस्तुएं अपनी शक्ति से उद्भव को प्राप्त होती हैं। विष्णु 1, 52/68.

इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मुझसे होने के कारण मैं ही सब कुछ हूँ और यह मुझ सनातन में ही स्थित है। मैं ही अक्षय, नित्य और आत्माश्रय तप परमेश्वर हूँ तथा मैं ही विश्वझादि अन्त में स्थित ब्रह्मनाम से विख्यात परम् पुरूष हूँ। विष्णु 2, 86/221

2. जीव

जीव के स्वरूप के विषय में भी यहाँ खूब विवेचन किया गया मिलता है। भगवान शासक हैं और जीव उनके द्वारा शासित। भगवान नियामक हैं और जीव उनके द्वारा नियम्य। यह तभी संभव है; जब जीव भगवान से उत्पन्न होता है। इस कथन का अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान परिणाम के द्वारा जीव बनाते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं। प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति के संयोग के कारण ही जीवों के नाना रूप तथा गुण रख दिये जाते हैं– जल बुदबुद के समान। जल (उत्पादन) तथा वायु (निमित्त कारण) के संयोग से जिस 'बुदबुद' नामक पदार्थ बनता है, जो स्वयं कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष के अध्याय से जीवों का नानात्व गुण तथा रूप कल्पित किया गया है। अन्त में जिस प्रकार समुद्र में नदियाँ समा जाती हैं तथा मधु में समस्त फूलों के रस समा जाते हैं, उसी प्रकार सब जीव उपाधि–रहित होकर भगवान में समा जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की भिन्नता और उनका पृथक् अस्तित्व भगवान के द्वारा नियंत्रित हैं। जीव को पृथक्, स्वतन्त्र और वास्तविक मानना अज्ञान के ही कारण है। जीव के स्वरूप का प्रतिपादक यह महत्त्वपूर्ण श्लोक इस प्रकार है–

न घटतः उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो–
रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः।। – 31

जीव तथा ईश में वस्तुतः ऐक्य ही वर्तमान है, परन्तु संसार दशा में दोनों में भेद है। जीव मायाबद्ध है अर्थात् माया के पाश में सर्वदा बद्ध रहता है। इसके विपरीत ईश मायामुक्त होते हैं। जीव अपेतभगः होता है, ऐश्वर्य से हीन; परन्तु ईश आत्तभगः होते हैं, ऐश्वर्य से सम्पन्न। जीव माया से अविद्यायुक्त होता है, इसलिए देह और इन्द्रिय आदि का सेवन करता है; उन्हीं को अपना स्वरूप मानता है और आनन्दादि गुणों से तिरोहित होने पर संसार को प्राप्त करता है। अतः जीव के लिए कर्मकाण्ड की आवश्यकता होती है, परन्तु भगवान् माया को उसी प्रकार छोड़ देते हैं तथा उसका अभिमान नहीं करते, जिस प्रकार सर्प अपने केंचुल को छोड़ देता है और उसका अभिमान नहीं रखता। भगवान नित्यसिद्ध ज्ञान तथा अनन्त ऐश्वर्य से युक्त, अणिमा आदि आठों सिद्धियों से सम्पन्न होने के कारण पूजित हैं। इस प्रकार वस्तुतः अद्वैत होने पर भी संसारदशा में द्वैत भासता है। जीव असंख्य परन्तु नित्य नहीं है। वे भगवान के द्वारा शासित होते हैं। भगवान शासक तथा नियामक है, जीव शासित और निरम्य। मति और बुद्धि से परे होने से उसका रूप अत्यन्त कठिन है।

3. जगत्

जगत् के विषय मे वेदस्तुति का स्पष्ट मत है कि त्रिगुणात्मक जगत् मन की कल्पनामात्र है। वस्तुतः सत्य नहीं है। केवल यही नहीं प्रत्युत परमात्मा और जगत् से पृथक् प्रतीत होने वाला पुरुष भी कल्पनामात्र है। सत्य अधिष्ठान पर आश्रित रहने के कारण ही यह जगत् सत्य सा प्रतीत होता है। यह जगत् आत्मा में ही कल्पित है (स्वकृतं) तथा आत्मा से ही व्याप्त है (अनुप्रविष्ट) और इसलिए लोग इसे आत्मरूप मानते हैं तथा उसी रूप से (सुवर्ण की तरह) इसका व्यवहार करते हैं। सुवर्ण से बने हुए गहनें भी तो अन्ततोगत्वा सोना ही है। अतएव, इसी रूप को जानने वाले पुरुष इसे छोड़ते नहीं। जगत् की भी ठीक यही दशा है।

जगत् की वास्तविकता सिद्ध करने के लिए एक अन्य हेतु का उपन्यास किया गया है। यह जगत् की उत्पत्ति से पहले नहीं था और प्रलय के बाद भी नहीं रहेगा। इससे सिद्ध होता है कि मध्य में भी यह असत् रूप से ही है। श्रुतियों में दिये गये उदाहरण इस तथ्यहीनता को स्पष्ट बतला रहे हैं। जिस प्रकार मिट्टी में घड़ा, लोहे में शस्त्र और सोने में कुण्डल आदि नाममात्र हैं, वास्तव में तो मिट्टी, लोहा और सोना ही है, उसी प्रकार परमात्मा में वर्णित जगत् नाममात्र है, सर्वथा मिथ्या तथा मन की कल्पना है। मूर्ख ही इसे सत्य मानता है, ज्ञानी नहीं। अधिष्ठान की सत्यता से ही आधेय की सत्यता प्रतीत होती है, वस्तुतः नहीं–

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनात्।
अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषकरसे।।
अत उपमीयते द्रविण–जाति–विकल्पपथै–
र्वितथमनो–विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः।। –37

भगवान के ईक्षण मात्र से माया क्षुब्ध होती है और वह विचित्र कर्मों के फल देने के लिए जगत् की सृष्टि करती है। फलतः सृष्टि में जो विचित्रता तथा विषयता दृष्टिगोचर होती है, वह कर्मों की विषमता के कारण ही है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है और कर्मफलों को भोगने के लिए उसे इस सृष्टि के भीतर आना पड़ता है। फलतः जगत् के जीवों की वर्तमान दशा उन्हीं के पूर्व कर्मों के फल से जन्य है। सृष्टि–वैषम्य, कर्म वैषम्य जन्य है। भगवान् तो परम् कारुणिक, एकरस और समदृक हैं। उसमें किसी प्रकार के वैषम्य की कल्पना एकदम निराधार तथा अप्रामाणिक है। –29

जिस तरह से प्रकाश और तम का एकत्र सम्बन्ध कभी नही हुआ करता है, उसी भॉति इस प्रपंच का और परमात्मा का ऐसा ऐक्य सम्बन्ध नही होता है। यह इसी भॉति है और सब से भिन्न ही है। लोक में छाया और आतप परस्पर में एक दूसरे से विलक्षण ही होते हैं और कभी भी दोनों एकत्र नही रह सकते हैं। कूर्म 2, 8–11/50.

जगत् नश्वर व निःसार है। यह भ्रम व मिथ्या है। काल के चक्र के आरों से कुछ नहीं बच पाता है। संसार दुःखों, रोग–शोक व कष्टों से पूर्ण है। यह शरीर भी नश्वर है। जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है।

4. प्रलय

जिस समय भगवान सब सृष्टि समेटकर सो जाते हैं, उस समय ऐसा कोई भी साधन नहीं रह जाता, जिससे कि उनके साथ सोया हुआ जीव उन्हें जान सके। प्रलय काल में न सत् रहता है और न असत्। न इन दोनों के योग से बने शरीर, न क्षण, न मुहुर्त्त आदि काल के अंग ही रहते हैं।

5. काल

प्राणियों की उन्नति या अवनति काल से ही होती है और जय–पराजय भी उसी के अधीन हैं। विष्णु 2, 5/344.

नदी, समुद्र, पर्वत, पृथिवी,, देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष तथा सर्पादि जन्तु सब काल से रचे जाते और उसी से क्षीण होते हैं। यह सब प्रपंच कालात्रम है, यह समझकर शान्ति धारण करो। विष्णु 2, 56–57/344.

कोई भी वस्तु कहाँ है? आदि, मध्य और अन्त में परे एकरूप नित्य एवं चित्त स्वरूप ही तो सर्वव्याप्त है। जो वस्तु बारम्बार परिवर्तित होती रहती है, वह यथार्थ रूप वाली कहाँ रही है। विष्णु 1, 41/330.

6. जन्म–पुनर्जन्म

हे महाभागे ! इस संसार में इस भव अर्थात जन्म ग्रहण करने का कारण एक मात्र भाव हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जैसी भावना जिसकी होगी, वह वैसा ही उसके अनुरूप जन्म धारण किया करता है। जो जीव के सद् और असत्य कर्म होते हैं, उनके ही यह स्मृति को प्राप्त होता है। ब्रह्मांड 1, 8–10/267.

यह शरीर पापों का मूल है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही पाप से होती है। नारद 2, 67/115.

वत्स की भॉति कर्म करने वाले को भी निश्चय ही मृत्यु प्राप्त होती है। यह जगत अव्यक्त आदि वाला अव्यक्त मध्य और अव्यक्त निधन वाला है। जिस प्रकार से इस शरीर में बचपन, यौवन और प्रौढ़ता–वृद्धता आदि अनेक अवस्थायें स्वयं ही आ जाया करती हैं, उसी तरह इस जीवात्मा को मृत्यु प्राप्त कर अन्य देह की प्राप्ति हुआ करती है। जैसे कोई पुराना वस्त्र त्याग कर नया वस्त्र धारण किया करता है, ठीक वैसे ही मौत के द्वारा इस पुराने शरीर को छोडकर यह प्राणी नया शरीर प्राप्त किया करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मरकर आत्मा का नाश नही होता है, केवल इस चोले का परिवर्तन होता है। यह देही अर्थात जीवात्मा तो सर्वदा अवध्य अर्थात मरने–मारने के अयोग्य होता है। इसी कारण किसी की मृत्यु पर शोक नही करना चाहिये। अग्नि0, 13–14/302.

7. माया विद्या

यह जो माया के नाम से प्रख्यात है, यह भी मेरी एक शक्ति है जो यह माया समस्त लोकों का विमोहन करने वाली है। मेरी ही पराशक्ति वह है जो विद्या इस नाम से गाई या पुकारी जाया करती है। मैं योगियों के हृदय में स्थित रहकर उस अपनी माया का नाश करा दिया करता हूँ। अग्नि0, 17–18/63.

8. स्त्री व पुरूष दोनों ही माया भ्रम

जो स्त्री रूपिणी माया से बचकर दृढ़ बुद्धि में स्थित रहा हो, उस माया शक्ति को देखो। जो स्त्री रूप में बड़े–बड़े दिग्विजयी वीरों को भी क्षण मात्र में केवल अपने भृकुटि संचालन रूपी शास्त्र से पावों में डाल देती है। इसलिये मोक्ष की कामना वालों को स्त्री–प्रसंग से बचना ही श्रेयस्कर है। योगीजन स्त्रियों को नरक का द्वार कहते हैं। इसी प्रकार मुक्ति चाहने वाली नारी को भी मेरी पुरूष रूपी माया से बचना चाहिये क्योंकि वह

माया साक्षात मृत्यु ही है। उसे समझ लेना चाहिये कि किसी पूर्व जन्म में वह पुरूष ही था। स्त्री के लिये भी पति, पुत्र रूपी घर काल के ही समान हैं। नारद 2, 152

9. भौतिक संसार की नश्वरता

जो मतिमान निपुण पुरूष है, उनको इस नाशवान शरीर का तनिक भी विश्वास नही होता है, क्योंकि मानवों की मृत्यु सदा निकट में ही रहा करती है। इस जीवन में जो सुख–संपत्तियां हैं, वे विद्युत के सदृश चंचल हैं और अत्यन्त अस्थिरता वाली होती हैं। यह शरीर मृत्यु के निकटवर्ती ही रहा करता है, अतएव इसका और इसके समीप रहने वाले पदार्थों का घमण्ड त्याग देना चाहिये। नारद 2, 105–107/38.

यह मृत्यु तो सभी को एक दिन आया ही करती है। चाहे कोई पंडित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या लक्ष्मीवान, दुराचारी हो या सदाचारी यह तो सभी को समान भाव से समय पर आती है। नारद 1, 58/138.

यह सार्वदिक सत्य सिद्धान्त है कि जिस वस्तु से संयोग हुआ है, उससे वियोग अवश्य होगा। इस जगत् में प्राप्त होने वाले समस्त पदार्थ विनाशशील और क्षण–भंगुर होते हैं। नारद 2, 108/38.

मृत्यु इसने कुछ किया है या अभी तक धर्म का कार्य नही किया है, इसकी बिल्कुल भी प्रतीक्षा नही किया करती है। वह तो एक वृक के ही समान चुपचाप समय पर आकर क्षेत्र, गृह, आपण आदि में समासक्त और दूसरे–दूसरे विषयों में मन लगाने वाले मनुष्य को लेकर चल दिया करता है। इसका न तो कोई प्यारा है और न किसी से इसका द्वेष ही है। यह तो कर्म में समासक्त जन को आपुण्य के क्षीण हो जाने पर बलात पकड कर हरण कर लिया करता है। यह प्राण वायु चल है और इसकी चलता को आप भली–भॉति जानते हैं। मत्स्य 2, 8–10/206.

मरण भय नही है। प्राणियों को अभय कहा है। जो सुकृत के करने वाले हैं वे वहॉं पर भी सदा सन्त पुरूष निर्भय होते हैं। मत्स्य 2, 25/239

10. निःसारता

यह संसार अति निःसार है अर्थात सभी सांसारिक कर्मों में पारमार्थिक श्रेय नही है, जो सार कहा जा सके। आश्चर्य यही है कि बुद्ध पुरूष भी कैसे इसमें विश्वास किया करते हैं? ब्रह्मांड 2, 48/36.

11. कर्म–फल सिद्धान्त

यह अटल सिद्धान्त है कि किये गये कर्म शुभ हों या अशुभ हों, कर्मों का फल सबको अवश्य भोगना पड़ता है। नारद 2, 70/54.

पूर्व जन्मों के जो संचित फल हैं, उनको वो बुरा हो या भला, जैसा भी हो, उसको इस संसार में हर एक को भोगना ही पड़ता है। नारद 1, 61/138.

इस शरीर के त्याग देने के पश्चात जैसे भी उस प्राणी के अपने कर्म होते हैं, उनके फलों को भोगने के लिये वह अन्य यातनीय शरीर को ग्रहण करता है। यदि पापकर्म होते हैं तो वह फिर अन्य शरीर को पाकर नारकीय दुःखों को भोगता है और अच्छे कर्म होते हैं तो धर्म से संगत होता हुआ स्वर्गादि के सुखों का उपभोग किया करता है।

स्त्री, बालक और वृद्ध का हनन करने वाला पुरूष महाप्रलयक रौरव नामक नरक में धीरे–धीरे सताया जाता है। जो चोर होता है, वह तामिस्त्र नाम वाले नरक में डाला है। जो माता का हनन करने वाला होता है, उसके नरक में ही रहने की भूमि असिपत्र वन में चारों ओर तलवारों से युक्त होती है। जो अभक्ष्य का भोजन करता है, वह अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण स्थान में रक्त का भोजन वहाँ नरक में करता है। दूसरे को पीड़ा देने वाला पुरूष तैलपाक नरक में तिलों की भाँति पीडित किया जाता है। जिसकी बुद्धि में पाप होता है, वह महाज्वाला नरक में गिरता है। जो गमन न करने योग्य नारी का गमन

किया करता है, वह क्रकच में पड़ता है। पापियों का हनन करने वाला मानव क्षारदत्व में और भूमि का हरण करने वाला क्षुरधार नरक में गिरता है। नारद 1, 3–19/ 360–62.

जो अपने मित्र का अपमान करता है, वह भी गधा होता है। जो अपने माता–पिता को उत्पीडित करता है, वह कछुआ होकर जन्म लिया करता है। जो किसी के न्यास का अपहरण करने वाला है, वह पहले नरक की पीड़ा को भोगकर फिर शेष भोग को भोगने के लिये कृमि होकर इस लोक में जन्म लिया करता है। जो निन्दा करने वाला पुरूष है, वह नरक की यातना भोगकर फिर शेष कर्मों के फल की पीड़ा भोगने के लिये राक्षस होता है। जो किसी को विश्वास देकर फिर उसका घात करता है, वह मछली की योनि प्राप्त करता है। जो पराई स्त्री के साथ अभिमर्ष करता है, वह घोर वृक होकर उत्पन्न होता है अपने ज्येष्ठ भाई के अपमान करने से यह मनुष्य कौआ की योनि में जन्म लेता है। जो कोई कृतघ्न अर्थात किये हुए उपकार को मटियामेट कर देता है, वह कृमि, कीट–पतंग और बिच्छु की योनि प्राप्त करता है। स्त्री का वध करने वाला, बालक का हनन करने वाला भी कृमि की योनि प्राप्त करता है। नारद 1, 14–23/156–158.

राजा का दान ग्रहण करना उचित नही है और शूद्र तथा पतित व्यक्ति का दान भी कभी न लें। बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव याचना करके निर्वाह नही करना चाहिये और न एक ही स्थिति से मांगना चाहिये। श्रेष्ठ ब्राह्मण को कभी देवता का धन नही लेना चाहिये। फूल, शाक, लकड़ी, कन्दमूल, घास, फल आदि को बिना स्वामी की आज्ञा के लेना चोरी कहा जाता है। देव–पूजा के लिये जा सकते हैं, पर वे भी बिना पूछे न लिये जायें और सदा एक ही स्थान से न लिये जायें। कूर्म 1, 22

कूर्म पुराण 2 में (1) ईश्वर गीता और (2) व्यास गीता भी पाई जाती है। व्यास गीता में विशेष रूप से कर्म काण्ड और आश्रमों के धर्म, श्राद्ध–विधि, प्रायश्चित–विधान आदि धार्मिक नियम–उपनियम हैं। ईश्वर गीता का मुख्य विषय अध्यात्म है। ईश्वर का स्वरूप क्या है? जीव की विशेषतायें क्या हैं? दोनों में क्या सम्बन्ध है? जीव किस उपाय

से इस संसार–सागर से पार हो सकता है? उसके लिये शिव–योग का साधन किस प्रकार करना आवश्यक है? इन सब बातों का विवेचन इसमें अध्यात्म–शास्त्र तथा शैव सिद्धान्त के अनुसार किया है।

ज्ञान मीमांसा

जो अनुपम, अनार ध्येय, व्यक्ति मात्र, सत्ता मात्र, आत्मबोध रूप, अलक्षण, अक्षर शान्त शुद्ध भावना से परे तथा आश्रय से भी परे है, वह ब्रह्म नामक ज्ञान है। जो योगीजन अन्य उक्त ज्ञानों को छोड़कर, इस चतुर्थ ज्ञान में लीन हो जाते हैं, वे इस संसार रूपी खेत में बीजारोपण रूप कर्म के लिये निर्जीव होते हैं। विष्णु 2, 49–51 / 239.

निरन्तर निर्गुण, निरंजन निर्विकार, निरीह, सत्तागम्य, ज्ञानगम्य, सुप्रभ बोधगम्य जो होता है, उसी को ज्ञान के वक्तागण ज्ञान कहा करते हैं और सर्वात्म भाव से निरीक्षण किया करते हैं अर्थात सभी को अपने ही समान देखा करते हैं। स्कन्द 1, 53–54 / 165

परम् ब्रह्म – साध्य है। साधन – प्राणायाम है। ज्ञान के चार प्रकार के भेद हैं–

1 मोक्ष करणं साधनालम्बन ज्ञान

2 क्लेश युक्ति हेतु योगाभ्यास – आलम्बन विज्ञान

3 साधनों के अभेद वाला ज्ञान– अद्वैत युक्त ज्ञान

4 उक्त तीनों प्रकार के ज्ञान की विशेषता के निराकरण से अनुभूत आत्मरूप के समान ज्ञान – ब्रह्म ज्ञान

सब पापों के विनाश होने पर बुद्धि में निर्मलता आ जाया करती है। बुद्धिमान लोग ऐसी बुद्धि का नाम ज्ञान कहा करते हैं। ज्ञान ही मोक्ष प्रदान करने वाला होता है। नारद 2, 29–30 / 76.

स्वयं ज्ञान के स्वरूप वाले, ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होने वाले, सम्पूर्ण ज्ञान के अनन्य कारण स्वरूप, जानने के योग्य, ज्ञाता, विज्ञान के सम्पत्ति स्वरूप भगवान के लिये प्रणाम है। नारद 1, 23/54.

ज्ञान के स्वरूप वाले जो प्रभु समस्त अंगों से रहित, ध्यान–योग में तत्पर पुरूषों को सर्वत्र प्रकाशित हुआ करते हैं, उन्हीं की मैं शरण लेता हूँ। नारद 1, 36/57.

निरुपाय योगीजन अपने चित्त को आत्मा में संलग्न करके जिस ज्ञान स्वरूप ईश्वर का साक्षात्कार किया करते हैं, उसी ईश्वर की मैं शरण को ग्रहण करता हूँ। नारद 1, 50/60.

बुद्धिमान पुरूष को ज्ञान योग के उपक्रमों से मल का शोधन करना चाहिये। जब यह मन शुद्ध हो जाता है तो फिर यह अन्तर्रात्मा स्वमेव निराकुल हो जाया करती है। फिर यह शरीर के संक्लेशों से भी निर्दध्नात्मक नही होता है। वामन–1, 82–83/414.

इस संसार की दावाग्नि की लपटों से बचकर प्राणी को ज्ञान का अभ्यास अवश्य ही करना चाहिये, चूँकि बिना ज्ञान के मुक्ति किसी भी प्रकार संभव नही होती है। यह मानव शरीर बहुत ही दुर्लभ है। जीवात्मा इसी को प्राप्त कर अपना कल्याण कर सकती है। नारद 2, 39–40/67.

यह सूर्य और प्रकाश के एकत्व के समान ही भगवान से पृथक नही है। जैसे जागते में प्राण और इंद्रियां जाग्रत रहती हैं और निद्रावस्था में सो जाती हैं, वैसे ही दिव्य ज्ञान होने पर दिव्य क्रिया, ज्ञान, भेद या ब्रह्म आदि कुछ नही रहता। जीव मात्र पर दया, जो मिले उसी में संतोष तथा इंद्रियों पर नियन्त्रण – यह सब ईश्वर को शीघ्र प्रसन्न करने वाले उपाय हैं।

सांख्य दर्शन के ज्ञान से, यौग से और वेदान्त दर्शन के श्रवण से आत्मा की जो प्रत्यक्षता होती हैं, वही मुक्ति कहलाती है। उसमें अनात्मा में आत्मरूपता और असत् की सत्स्वरूपता होती है। – 51/185.

कूर्म पुराण में सांख्य ज्ञान व वेदान्त सार का महत्व इस प्रकार बताया गया है– लोक में अज्ञान से यह विज्ञान आवृत्त रहा करता है, इसी कारण मोह को प्राप्त हुआ करता है, विज्ञान निर्मल–सूक्ष्म–निर्विकल्प और अव्यय होता है। इसके अतिरिक्त सभी अज्ञान होता है। कूर्म–2, 39–40/54.

कूर्म पुराण में सांख्य व योग को एक ही बताया गया है।

ज्ञान–प्राप्ति के मार्ग

पुराणों में ज्ञान की प्राप्ति हेतु ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग, साधना, प्राणायाम आदि की चर्चा अनेक स्थानों पर की गई है–

कुछ लोग मुझको ध्यान के द्वारा देखा करते हैं और दूसरे कुछ ज्ञान के द्वारा मेरा दर्शन किया करते हैं। कुछ केवल भक्ति योग के द्वारा मुझको देख लेते हैं तथा अन्य कुछ कर्म योग के द्वारा मुझे देखते हैं। कूर्म–2, 24/64.

यह आत्मा परम् ज्योति स्वरूप वाला है और अविच्छिन्न स्वभाव से परिपूर्ण–अच्युत है। इस आत्मा में क्रिया कैसे हो सकती है? हे विप्रवर ! नित्य परमात्मा, अनन्त, स्वप्रकाश, इस आत्मा का जन्म तथा कर्म कैसे बतलाया जा सकता है? हे द्विजवर! जिनका ज्ञान केवल ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, उस परिपूर्ण, परमानन्द स्वरूप अजर–अमर–सनातन परंब्रह्म के अतिरिक्त अन्य यहाँ पर कुछ भी नही है। 'तत्वमसि' आदि जो महाकाव्य हैं, उनसे प्राप्त होने वाला ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन होता है। जिस समय यह बाधारहित ज्ञान सिद्ध हो जाया करता है, तभी यह ब्रह्ममय भासित हुआ करता है। नारद–2, 64–68/129–30.

अनन्य भक्ति से तथा सम्यक प्रकार के ज्ञान के द्वारा ही जन्म और बन्ध की विनिर्मुक्ति के लिये उस ब्रह्म का अन्वेषण करना चाहिये। अहंकार, मात्सर्य, काम, क्रोध, परिग्रह, अधर्म में अभिनिवेश का त्याग कर परम वैराग्य में समास्थित होकर समस्त भूतों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को समस्त भूतों में देखकर अपनी आत्मा को

ब्रह्मभूत करने के लिये कल्पित किया करता है अर्थात तभी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। ज्ञान, कर्म, योग अथवा भक्ति से योग से, इस सम्पूर्ण संसार से मुक्ति के लिये उसी ईश्वर की शरणागति में चले जाओ। नारद–2, 295–300/186.

योग

पुराणों में योग का बहुलता से वर्णन है। भागवत–योग योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से औपनिषदिक योग व पातजंल योग के मध्य काल में आता है। भागवत में भक्ति के साथ–साथ अष्टांग योग का भी वर्णन है।

पुराण वर्णित घटनाओं जैसे नारदजी द्वारा मनः प्रणिधान के द्वारा ईश्वर के दर्शन करना, भीष्म पितामह, दधिचि, कपिल की माता देवहूति व वृत्र द्वारा योगबल से देह–त्याग, सती द्वारा शरीर–दाह, ध्रुव द्वारा भगवान का साक्षात्कार आदि के माध्यम से योग की क्रियाओं व शक्ति का परिचय मिलता है। श्रीकृष्ण तो योगेश्वर थे। योग–बल से उनके द्वारा अनेकों चमत्कार किए गए।

पहला तो मन्त्र योग होता है, दूसरा स्पर्श योग है, तीसरा भाव योग है और चौथा अभाव योग होता है। सबसे अत्युत्तम महायोग होता है, जो पांचवा होता है।

ध्यान से युक्त और जिसमें जप करने का अभ्यास किया जाता है, वह मन्त्र योग कहा गया है। अब स्पर्श योग को बताते हैं– जिसमें विशेष रूप से सुषुम्ना नाड़ी की शुद्धि होती है और जिसमें समस्त और व्यस्त योग से वायु का प्रधान रूप से जप किया जाता है तथा वज्री आदि साधनों के द्वारा बल के स्थिर करने की क्रिया होती है, जो परम शोभन धारणा आदि अंगों से युक्त है एवं सात्विकादि तीन धारणाओं से संदीप्त है। और विश्व–प्राज्ञ–तेजस इन तीनों का विशोधक है। अर्थात कुम्भक में निर्मलता का करने वाला ध्यान का अभ्यास होता है। वह स्पर्श–योग कहा जाता है। मन्त्र योग और स्पर्श योग इन तीनों से अतीत जो कि केवल महादेव के समाश्रित होता है। बाहर तथा अन्दर, स्फुर भाग मन में विलसमान भावों के संहार करने के स्वरूप वाला भाव योग कहा गया

है जो चित्त की शुद्धि करने वाला है। अब अभाव योग को बतलाया जाता है– जिसमें समस्त अवयव विहीन होने वाला सम्पूर्ण स्थावर जंगम यह जगत सम्पूर्ण शून्य विश्व रूप निराभास अर्थात भेदाभास से रहित चिन्तन किया जाता है, वह अभाव योग होता है और यह चित्त के निर्वाण का करने वाला होता है। अब महायोग का निरूपण किया जाता है, जिसमें रूप से शून्य अद्वितीय–निर्मल–स्वछन्दता के सहित परम शोभन अर्थात अत्यन्त स्मरणीय श्रुतियों के द्वारा भी जिस–जिसका स्वरूप निर्देश नही किया जा सकता है, ऐसा अप्रमेय–सर्वदा प्रकाशमान–स्वयं ही जानने के योग्य–समानता के साथ विस्तृत अर्थात सर्वव्यापी– अपनी आत्मा की पूर्ण निशेषण विशिष्ट सत्ता अब भासित होने वाला हो, वह महायोग कहा गया है। पुनः उसी महायोग को प्रकारान्तर से बताते हैं कि वह नित्य प्रकाशमान स्वयमेव प्रकाशमान सम्पूर्ण चित्तों के उत्थापित करने वाला और निर्मल केवल आत्मा पर शिव ही महायोग कहा गया है। ये समस्त योग अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियों के प्रदान करने वाले और सभी ज्ञान के देने वाले होते हैं। नारद 1, 8–17/498–500

योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इनमें यम तथा नियम का संक्षिप्त वर्णन भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध के अध्याय 19 में यत्किंचित मिलता है। पातजंल सूत्रों में तो यम तथा नियम केवल पांच प्रकार के ही बताये गये हैं, परन्तु भागवत में उनमें से प्रत्येक के बारह भेद तथा नारद में छै–छै भेद माने गए हैं।

यम के द्वादश भेद– 1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. असंग, 5. ह्री, 6. असंचय, 7. आस्तिक्य, 8. ब्रह्मचर्य, 9. मौन, 10. स्थैर्य, 11. क्षमा और 12. अभय।

स्कन्द पुराण के अनुसार यम दश संख्या वाले होते हैं– सत्य, क्षमा, आर्जब (सीधापन), ध्यान, आनृशस्य, अहिंसा, दम, प्रसाद, गाधुर्य, मृदुता– ये दश नियम होते हैं। स्कन्द 1, 19/455.

किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। धर्माधर्म का पूर्ण विचार करते हुए जो यथार्थ कथन हुआ करता है, उसी को सत्य कहते हैं। बुरा करने या बलपूर्वक दूसरे के पदार्थों का अपहरण करने का नाम अस्तेय कहा जाता है। सर्वत्र आठों प्रकार के मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। महान से महान आपत्ति के उपस्थित होने के समय भी किसी के द्रव्य को झपट कर ग्रहण न करना ही अपरिग्रह कहलाता है। निष्ठुर भाषण को क्रोध तथा इसके विपरीत व्यवहार को अक्रोध कहते हैं। अतः योगाभ्यासी को परम् मृदु एवं मधुर, श्रुतिप्रिय भाषण ही करना चाहिये। दूसरे के ऐश्वर्य को देखकर एक प्रकार की कुढ़न रखना ही सूया कही जाती है। सत्पुरूष इस प्रकार की कुढ़न के अभाव को असूया कहा करते हैं। नारद–2, 70–78.

पांच नियम

स्कन्द पुराण के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये पांच नियम हैं। शौच दो प्रकार की होती है। स्कन्द 1, 12/162.

शौच (पवित्रता) भी दो प्रकार की होती है– आन्तरिक व बाह्य। मृतिका व जल से बाह्य शुद्धि और दुर्बलताओं का त्याग कर भाव शुद्धि रखने से आन्तरिक शुद्धि होती है। इन दोनों प्रकार की पवित्रताओं में आन्तरिक शुद्धि का बड़ा महत्व है और इसी से वास्तविक कल्याण होता है। दूषित अन्तःकरण से तो किये गये यज्ञ भी निष्फल होते हैं और आहुतियां आग में डालने से राख तुल्य व्यर्थ हुआ करती हैं। ऐसा व्यक्ति तीर्थाटन से भी पवित्र नही हुआ करता है।

भाव–शुद्धि से रहित सभी कर्म निष्फल हुआ करते हैं। इसलिये हृदय में राग–द्वेष आदि सबका परित्याग करके सुख–सम्पन्न होना चाहिये। सहस्त्रों भार मिट्टी और लाखों घड़े जल से बाहरी शुद्धि कर लेने पर भी यदि अन्तःकरण दूषित है, तो वहां पाखण्ड ही है।

जिसका अन्तःकरण तो विशुद्ध होता नही और उसमें बुरी–बुरी भावनायें भरी रहती हैं, वह पुरूष शुद्धि करके दिखावा करता हैं। उसकी शुद्धता ऊपर से सुसज्जित ढ़ोल के समान ही है, जिसमें भीतर मदिरा रहा करती है।

जो मानव अपनी वाणी के द्वारा तो धर्म का पालन किया करता है परन्तु उसके मन में पापकर्म तथा पर स्त्री व पराये धन का चिन्तन बना रहता है, वह मन में विषयों के रस का आस्वादन किया करता है। ऐसे पुरूष को महापातकियों में प्रमुख ही समझना चाहिये। नारद–2, 90–91.

दुर्गन्धपूर्ण देह वाला यह मानव जो भाव से भी दुष्ट हो तो वह कभी भी विशुद्ध नही होता है। जो दुष्ट आत्मा वाला मनुष्य हो वह कितने ही तीर्थ का अटन करे और उसमें स्नान भी भले ही करे, चाहे वह कितनी ही तपश्चर्या करे, किन्तु क्योंकि उसमें दुष्टता भरी हुई है, अतः वह कभी शुद्ध हो ही नही सकता है। पद्म 2, 83/26.

नियम के भी कंई भेद हुआ करते हैं। तपश्चर्या, स्वाध्याय, संतोष, पवित्रता, सन्ध्योपासना, श्रीहरि पूजन नियमों में प्रमुख है। सत्मार्ग के द्वारा किये गये उचित उद्योग से अपने प्रारब्ध के अनुसार जितना भी जो कुछ प्राप्त हो जाये उतने में ही संतोष करके परम् संतुष्ट अपने मन में रहने को संतोष कहा जाता है। जो संतोष से हीन रहकर व्यर्थ की दुराशा की भावनायें मन में भरे रहता है, ऐसा असंतुष्ट पुरूष कहीं भी सुख प्राप्त नही करता है। नारद–2, 70–79/76–78.

नियम के द्वादश भेद– 1. शौच–बाह्य, 2. आभ्यन्तर, 3. जप, 4. तप, 5. होम, 6. श्रद्धा, 7. आतिथ्य, 8. भगवदर्चन, 9. तीर्थाटन, 10. परार्थचेष्टा, 11. सन्तोष और 12. आचार्यसेवन।

इन यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का छठा 'असंचय') पातंजल दर्शन में भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमों में उसी भॉंति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर–प्रणिधान (भागवत का आठवॉं 'भगवदर्चन') पातंजल दर्शन

में भी है, शेष नये हैं। यम–नियम से शुद्धि प्राप्त व्यक्ति ही योग सिद्धि के योग्य होता है। नारद–2, 111/91.

चिन्तन

चिन्तन और मनन ज्ञान–प्राप्ति के महत्वपूर्ण साधन हैं। कर्म से पूर्व उसके विषय में पर्याप्त विचार कर लेना चाहिये। संशय तथा द्वन्द्व से मुक्त होकर ज्ञान का निश्चय करते हुए कर्म प्रारम्भ करना चाहिए।

किसी भी कार्य का आरम्भ बिना आगा–पीछा सोचे ही कर दिया जाया करता है वह विनाश करने वाला ही हुआ करता है। जिसका भली–भाँति विचार करके पीछे जो कर्म किया गया है, वह विशेष रूप से जय देने वाला ही हुआ करता है। जो कुछ भी करना है, वह सब विचार करके ही करना चाहिये क्योंकि भली–भाँति विचार का करना ही परम् गति है। बिना भली–भाँति से विचार के जो कुछ भी किया जाता है, वह मूल के सहित ही सम्पूर्ण विनष्ट हो जाया करता है। ब्रह्मांड–2, 50–54/278–79.

जो ज्ञान विचलाता रहता है, और दृढ़ नही है, वह हत है। पद्म–2, 20/368.

बुद्ध पुरुष को कभी भी अपने को संशय में नहीं डालना चाहिए। कूर्म–2, 58–60/168.

धर्म और अर्थ का विनाश करने वाला संशय परम् अर्थात सबसे बड़ा विनाश है। ब्रह्म 2, 16/97.

समस्त भूतों में प्राणी (चेतन) श्रेष्ठ होता है। उन प्राणियों में भी जो बुद्धिजीवी होते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं। बुद्धिमानों में मानव और मानवों में ब्राह्मण श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मणों में भी जो विद्वान है, वह श्रेष्ठ समझा जाया करता है। उन विद्वानों में भी जो निश्चित मति वाला होता है, वह श्रेष्ठ हुआ करता है। नारद–2, 31–35/46.

आत्मावलोकन

पुराण दर्शन के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है– सांसारिक ज्ञान एवं आध्यात्मिक ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान। इंद्रियों की सहायता से मात्र भौतिक वस्तुओं के विषय में जाना जा सकता है, परन्तु आत्मा या ब्रह्म के ज्ञान हेतु आत्म–निरीक्षण, आत्म–साक्षात्कार अथवा आत्मावलोकन आवश्यक है। अपनी आत्मा के अंदर रहने वाले दोषों की समीक्षा भली–भॉति करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि अपने दोषों को समझकर उन्हें हटाना चाहिये। दूसरों के दोषों को देखकर उनके विषय में कभी भी आक्षेप नही करना चाहिये। जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल कर्म, वचन अथवा भावना हो, उसे कभी भी अन्य लोगों के प्रति प्रयुक्त नही करनी चाहिये क्योंकि जो हमको बुरा प्रतीत होता है, वह दूसरों को भी उसी तरह प्रतिकूल प्रतीत अवश्य होगा और उसके मन को बड़ी ठेस लगेगी। पद्म–1, 150–158 / 223.

आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना सर्वोत्तम कर्म होता है। वह सम्पूर्ण विद्याओं में शिरोमणि एवं श्रेष्ठतम होता है। इससे अमरत्व का लाभ किया जाता है। समस्त संसार के प्राणियों में अपने आपको देखना अर्थात अपनी ही आत्मा के समान समझ लेना और समस्त प्राणी–मात्र को अपनी आत्मा में देखना। तात्पर्य यह है कि सबको सम–भाव से ही देखना। इस प्रकार से आत्मा का यजन करने वाला स्वर्ग राज्य को प्राप्त किया करता है। वह सदा समान स्वरूप से आत्म ज्ञान में रहता है और वेदों के अभ्यास में यत्न करने वाला होता है। 4–7 / 305.

आत्म–ज्ञान प्राप्त करना ही सर्वोपरि होता है। अतएव प्रयत्नपूर्वक आत्मा का श्रवण करना चाहिये। स्कन्द–2, 15–20 / 12.

वह ब्रह्म तो अपने द्वारा ही अनुभव में लाने के योग्य वस्तु है। जिस प्रकार से कुमारी स्त्री सुख का स्वयं अनुभव करती है। तात्पर्य यह है कि कहने की वस्तु नही और न इसे वचनों से कोई ठीक–ठीक कह ही सकता है। जो योगी नही है, उसे तो इसका

ज्ञान ही नही है। जिस तरह जो जन्म से ही अन्धा है, उसे घर का ज्ञान नही हो सकता है, क्योंकि उसे कभी घर देखकर उसे जानने का अवसर ही नही प्राप्त हुआ है। अग्नि0 1, 12–15/315.

शम, दम, सत्य, अकल्मषत्व, मौन और समस्त भूतों में सरलता तथा अतीन्द्रिय ज्ञान अर्थात आत्म ज्ञान– इसको अतीन्द्रिय ज्ञान अर्थात आत्म–ज्ञान, इसको विशुद्ध बुद्धि वाले कहते हैं। अग्नि0 1, 28/49.

ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग हैं– ज्ञान और कर्म। ज्ञान भी दो प्रकार का है– शास्त्र जन्य और विवेक जन्य। शब्द विषयक ज्ञान पर ब्रह्म विषयक शास्त्रों से और ज्ञान की उत्पत्ति विवेक से होती है। अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिये इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान दीपक के समान और विवेक से उत्पन्न ज्ञान सूर्य के समान है।

शास्त्र

ज्ञान–मीमांसकों द्वारा क्षेत्र विशेष के लब्ध–प्रतिष्ठ विद्वानों के अनुभवों को भी ज्ञान–प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। धर्म के क्षेत्र में धर्म–ग्रन्थों व शास्त्रों के वचनों को भी प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है तथा इनकी विश्वसनीयता पर कोई शंका नहीं की जाती है। हिन्दू धर्म में वेदों को भी इसी दृष्टि से देखा गया है।

शास्त्रों को प्रमाण माना गया है। ज्ञान के लिए इनका अध्ययन, चिन्तन–मनन आवश्यक माना जाता है। विषयक वेद भगवान ही प्रथम प्रमाण है, दूसरे वेद–ज्ञाताओं की स्तुतियां भी प्रमाण हैं, तीसरे जिससे आत्मा प्रसन्नता को प्राप्त हो, उसे भी प्रमाण मानें। पेज 327, ग्यारहवां अध्याय, श्रीमदभागवत।

सज्जन पुरूष दूसरों का दुख निवारण करने के लिये शास्त्रों का गहन अध्ययन करते हैं और जब दूसरों को दुख में मग्न देखते हैं, तो अवसर प्राप्त करके उस दुख का निराकरण करने के लिये शास्त्र का सार उन्हें सुनाया करते हैं। नारद–1, 70/140.

अनुमान, आगम व प्रमाण

अनुमान, आगमन–निगमन व प्रमाण के द्वारा भी ज्ञान–प्राप्ति की जाती है।

अनुमान और आगम आदि के द्वारा मैने यह बुद्धि भली–भाँति उत्पन्न की है। किसी के भी द्वारा कहीं भी और कभी भी इसे अन्यथा धारण किया जा सकता है। यदि देवता प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही ठीक–ठीक उपलब्ध हो जाते हैं तो उसके अस्तित्व के सार के लिये अनुसार प्रमाण और आगमों का कोई भी प्रयोजन ही नही रह जाता है। 10–22 / 142.

मूल्य मीमांसा

दर्शन का एक आवश्यक अंग मूल्य मीमांसा है जिसके अन्तर्गत जीवन के वास्तविक लक्ष्य, मूल्य व आदर्श क्या होने चाहियें, इस पर विचार किया जाता है। मूल्यों को नीतिपरक व सौन्दर्यात्मक मूल्यों में विभाजित किया जाता है। शुभ–अशुभ, कर्तव्य–अकर्तव्य, गुण–अवगुण का सम्यक् विवेचन कर यह निर्दिष्ट किया जाता है कि मानव–जीवन के अभीष्ट व कल्याणकारी मूल्य क्या होने चाहियें।

वेदों से लेकर वर्तमान तक भारतीय मूल्य 'धर्म व कर्म' के रूप में संरक्षित हैं। यह 'धर्म' कोई विशिष्ट मान्यता, संकीर्ण मत या सम्प्रदाय नहीं है। यह मात्र शुद्ध सैद्धान्तिक दर्शन नहीं, व्यावहारिक जीवन दर्शन है। यह हमें जीवन जीने के मानक प्रदान करता है। 'धर्म' व 'कर्म' इस प्रकार परस्पर गुंफित हैं कि इनमें से एक का दूसरे के अभाव में कोई अर्थ नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव के चार आदर्श हैं, मानवता के चार पुरुषार्थ हैं। धर्म को आदर्शवादी चिन्तन तथा कर्म को प्रयोजनवादी चिन्तन कहा जा सकता है।

विभिन्न समाज विभिन्न आचरण संहिताओं का अनुगमन करते हैं। एक समाज की आचरण संहिता दूसरे से भिन्न हो सकती है। यद्यपि सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक

समान मानदण्ड निश्चित करना अत्यन्त कठिन है तथापि धर्म के द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज के लिए समरूप आदर्श कर्मों के निर्धारण का प्रयास किया जाता रहा है।

प्रो0 हिरियन्ना के अनुसार 'धर्म' व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति है तथा इसके द्वारा ही व्यक्ति अच्छाई और बुराई में अन्तर कर पाने में सक्षम हो पाता है। धर्म में मानवता के उच्चतम सद्गुणों का समावेश किया जाना चाहिये।

डा0 गंवाड़ी द्वारा मूल्यों को मानव मूल्य, सामाजिक मूल्य, व्यावसायिक मूल्य, धार्मिक मूल्य तथा सौन्दर्यात्मक मूल्यों में वर्गीकृत किया गया है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा 83 मानवीय मूल्य इंगित किए गए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जीवन मूल्य शैक्षिक कार्यक्रम (LVEP) द्वारा इन 12 मूल्यों के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है– सादगी, उत्तरदायित्व, प्रसन्नता, विनय, ईमानदारी, सम्मान, शॉति, प्रेम, सहिष्णुता, सहयोग, एकता व स्वतंत्रता। डा0 गंवाड़ी ने अगमन–निगमन विधि के उपयोग से यें सात मूल्य प्राप्त किए हैं– सत्यता, सृजनशीलता, बलिदान, आत्म–नियंत्रण, परोपकारिता, वैज्ञानिक दृष्टि एवं कार्य दत्तचित्तता। भारतीय परम्परागत आदर्शवादी मूल्यों में 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' को श्रेष्ठतम मूल्य स्वीकार किया गया है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अज्ञेय व ब्रह्मचर्य, जिन्हें जैन दर्शन में पंच महाव्रत कहा गया है, योग दर्शन के यम–नियमों में भी आते हैं। इनके अतिरिक्त पुराणों में मूल्यों पर पर्याप्त विमर्श है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पुराणों की दृष्टि रही है। भारतीय जीवन के लगभग सभी अंगों पर विभिन्न कोणों से इन्होंने चिन्तन किया है। अतः मूल्यों में भी व्यापकता व भिन्नता सहज परिलक्षित होती है।

तृष्णा का परित्याग

भोगों के से भोगते रहने उनकी तृष्णा कभी शान्त नही होती। किन्तु आज्याहुति से प्रवृद्ध होने वाली अग्नि के समान निरन्तर बढ़ती जाती है। भूमण्डल पर जितने भी धान्य, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियां हैं वे सब एक मनुष्य को भी तृप्त करने के लिये

पर्याप्त नही है। इसलिये तृष्णा का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। विष्णु–1, 23–24/53.

तृष्णा बहुत प्रकार की होती है। यह बन्धन में ड़ालने वाली माया है तथा पापों को हरने वाली है। ज्ञान रूपी खड़ग से इसका छेदन करके ही मनुष्य सुखपूर्वक स्थित रह सकता है। ब्रह्म–2, 14/97.

सर्वतोभाव से जीर्णता होने पर भी केवल यह एक तृष्णा ही तरूण बनी रहा करती है, अपितु वृद्धता ज्यों–ज्यों बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे तृष्णा की तरुणता होती जाती है। नारद–2, 21/121.

संतोष

जो कुछ भी प्राप्त हो जाये उतनी पूँजी में उसे संतोष करना चाहिये।

यस्य यावत्स तेनैव स्वेन तुष्यति मानवः। –विष्णु–2, 22/23.

काम उस इच्छा का नाम है, जो अपने अभीष्ट मनोरथों की पूर्ति हो जाने पर भी अपने मन में शान्ति धारण न कर इससे भी अधिकाधिक कामनायें किया करते हैं। यह हृदय में बराबर स्थित कामनाओं का जाल शरीर का शोषण किया करता है। इसका त्याग कर संतोष धारण करना चाहिये। विष्णु–2, 23–24/23.

जैसे जल नीची भूमि पर स्वयं ढ़लता हुआ जाता है, वैसे ही सत्पात्र पुरूषों के पास समस्त वैभव अपने आप पहुँचते हैं। विष्णु–2, 24/124.

अन्तःकरण की पवित्रता

जिनका अन्तःकरण पवित्र होता है, वे चाहे ऊपर से साधारण से साधारण ही धर्म का समाचरण किया करते हैं, तो भी उनको उसका कभी न क्षय होने वाला सुख प्राप्त हुआ करता है, जो कि परमोत्तम बताया गया है। नारद–2, 108/91.

परमार्थ

इन जड़ वृक्षों का जीवन भी संसार में दूसरे प्राणियों की कार्य–सिद्धि के लिये होता है। जब ये महान जड़–वृक्ष भी फल, फल, पुष्प, पत्र, वल्कल, छाया व काष्ठ के द्वारा सदा परोपकार किया करते हैं और सदा दूसरों के लिये ही उत्पन्न होकर जीवन व्यतीत किया करते हैं, तो हे विप्रश्रेष्ठ ! ये मनुष्य जो सब कुछ ज्ञान रखने वाले होते हुए भी दूसरों के काम कुछ नही आया करते हैं और दूसरों का कार्य कभी सिद्ध नही किया करते हैं, तो उनके जीवन रहते हुए भी वे मृत के समान होते हैं। जो मनुष्य, तन, मन, वचन और धन, किसी के द्वारा भी दूसरों की भलाई नही किया करते हैं, उनको इस संसार में महान पापी ही समझना चाहिये। नारद 1, 24–26/248.

दानशीलता

पुराणों में दानशीलता के महत्व, दानों के प्रकार तथा दान के लिए उचित पात्र व अपात्र की अनेक स्थानों पर चर्चा की गयी है। दान को श्रेष्ठ कर्म के रूप में वर्णित किया गया है।

श्रद्धा से युक्त पुरूष के द्वारा न्याय से उपार्जित धन का पात्र में जो दान किया गया है, उससे ही चाहे वह बहुत ही स्वल्प क्यों न हो, भगवान रुद्र परम तुष्ट हो जाया करते हैं। स्कन्द–1, 47/190.

दान के प्रकार

अन्न से प्राणों की रक्षा होती है, बल की वृद्धि होती है, तेज बढ़ता है और अन्न से ही वीर्य, धृति तथा स्मृति हुआ करते हैं। अतएव यह दान परम महत्वशाली होता है। कुआं, बावडी, तालाब आदि का निर्माण एवं उद्यान की रचना भी अवश्य ही करानी चाहिये। इनसे मनुष्य अपने इक्कीस कुलों का उद्धार करके अन्त में विष्णु लोक में प्रतिष्ठित हुआ करता है। नारद 1, 20–22/144–145.

दम्भपूर्वक, शत्रु की हिंसा के उद्देश्य से, क्रोधावेश में, विधि–विहीन रीति से अश्रद्धापूर्वक किसी अपात्र को किया गया दान निकृष्ट कोटि का होता है। ऐहलौकिक और पारलौकिक किसी भी सुख–सौभाग्य के प्राप्त करने की इच्छा से उचित पात्र को दिया गया दान मध्यम श्रेणी का होता है। ऐसा दान स्वार्थ–सिद्धि हेतु दिया जाता है। उत्तम दान से भगवान प्रसन्न हुआ करते हैं। स्वर्ग में ब्रह्म उसका सत्कार करते हैं। नारद–2, 28/45.

अन्न दान व जल दान का बड़ा महत्व है। जल के दान से तुरन्त ही तुष्टि होती है। अतः इसकी महिमा अन्न दान से भी अधिक है। शरीर व प्राण दोनों को अन्न से पुष्ट होने वाला कहते हैं। अतः अन्न के दाता को प्राणों का ही दान देने वाला समझ लेना चाहिये। अश्व दान गज दान, नमक दान, गौदान, ताम्बुलदान, स्वर्णदान, वस्त्रदान, फलों का दान, कन्यादान, क्षीर, दधि, धृत मधु आदि का दान, रत्न दान, गुड व ईख के रस का दान, गाड़ी का दान, ईंधन का दान– अनेक प्रकार के दान हैं तथापि विद्या का दान सभी दानों से उत्तम दान होता है। नारद–1, 70–100/279–80.

ईख, गेहूँ, अरहर, सुपारी आदि पेड़–पौधों से भरी–पूरी भूमि का जो दान दिया जाता है, वह प्रतिगृहीता और समस्त संसार की दृष्टि में विष्णु ही होता है। नारद–1, 130/228.

जो आदमी भूख से पीड़ित होता है, वह अपने माता, पिता, पुत्र, भार्या, पुत्री, भाई को तथा अपने सभी जनों को त्याग दिया करता है। सम्पर्ण संसार का मूल एकमात्र अन्न ही है और सभी कुछ अन्न में ही प्रतिष्ठित है। इस अन्न की बडी विशाल महिमा है। पद्म 1, 129–133/218.

इस संसार में भूमि के दान की बहुत बड़ी महिमा है। इस दान से पर अर्थात बड़ा दान लोक में कोई भी नही है। अन्नदान भी बहुत बड़ा दान हैं किन्तु उसके दान से भी यह बड़ा दान है। विद्या का दान इससे भी अधिक होता है जो किसी पवित्र धर्मशील

और किसी शील सम्पन्न ब्राह्मण को विद्या का दान देता है, वह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हुआ करता है। श्रद्धा से प्रतिदिन ब्रह्मचारी को अन्न देना चाहिये। अन्नदाता सभी पापों से छुटकर ब्राह्मण–स्थान को प्राप्त किया करता है। कूर्म–2, 15–17/260.

गुरू पत्नी गमन के महापापों से दूषित, जाति व बन्धुगण द्वारा त्याज्य, कुण्ड (अवैध पिता की संतान) दान लेने का पात्र नही है। शठ, प्रमादी, दुष्ट प्रकृति वाला, स्त्रिजित ब्राह्मण दान का पात्र नही। मदिरा पान कर्ता, मांस का भक्षण करने वाला, लालची, चोर वृत्ति वाला व चुगलखोर को दान न करें। नारद–1, (इस्टापूर्वफल), 15–17/246.

क्रोधी, पुत्रहीन, दम्भी, परस्त्रीगामी, दूसरों के धन का अपहरणकर्ता, नक्षत्र सूचक ज्योतिषी, कृतघ्न, उचित कर्मो को त्याग देने वाले, हिंसा वृत्ति रखने वाले, खल–कामी, धर्म का विक्रेता, विद्या के बल पर जीविकोपार्जन करने वाले, दूसरों को संताप देने वाले, तलवार या स्याही से जीविका चलाने वाले अर्थात क्षत्रिय या लेखन कर्म करने वाले, ग्राम याचक या हरकारे का कर्म करने वाले, दयारहित, देवपूजक, वेतनभोगी, रसोइया, वैद्यक कर्म करने वाले, अभक्ष्य पदार्थो का भोजन करने वाले, दान ग्रहण करने में चतुराई प्रकट करने वाले ब्राह्मण दान ग्रहण करने के सुपात्र नही हैं। नारद–1, 4–11/244.

जो शूद्रों का अन्न खाता हो, शूद्रों के शव जलता हो, पुंश्चली स्त्री के पति का अन्न खाता हो, उसको दिया दान व्यर्थ है। नारद–1,12/244.

परानुभूति

जो सदा दूसरों के दुख से स्वयं दुखित होता है और दूसरों के हर्ष से प्रसन्नता का अनुभव करता है, उस पुरूष को इस जगत् का स्वामी नररूपधारी साक्षात विष्णुदेव ही समझना चाहिये। नारद–1, 69/139.

परोपकार

जो अपने ही लिये याचना करता है, वह वास्तव में शौच करने के योग्य होता है। दूसरों की भलाई के लिये जो सदा समुद्यत रहता है, उसका ही जीवन सफल हुआ करता है क्योंकि परोपकार का बड़ा महत्व है। ब्रह्म–2, 36/51.

उपकारी मित्र के प्रति जो उपकार न करके जीवित रहते हैं, उनका जीवन भी असफल है। जो पुरूष बन्धुवर्ग के उपकार और शत्रु वर्ग के अपकार रूप जल को सींचते हैं, उन्हीं की उन्नति का साधन देवता करते हैं।

प्रतिरूपभकुर्वन्योजीवाभीत्यव गच्छति।
उपकारं सुहृद्वर्गेष्वपकारं च शत्रुषु'।।
–मार्कण्डेय 1– कुवलयास्व उपाख्यान, 30/252.

अपने ही अर्थ साधन करने की अभिलाषा रखने में व्यर्थ का परिश्रम होता है और परिणाम में सबका विनाश हो ही जाता है। ब्रह्म–2, 36/51.

मृत्यु शाश्वत सत्य है। जन्म–मरण का सिद्धान्त अटल है, अतः मात्र अपने लिये परिश्रम करना और क्लेशित होना उचित नही।

सज्जन पुरूष सदा परोपकार रूपी फल की ही इच्छा किया करते हैं। पृथ्वी पर वृक्ष अपने लिये फल नही दिया करते हैं और वे परोपकार के लिये ही फलते–फूलते हैं। नारद–1, 67/139.

परहित चिन्तन

जो पुरूष दूसरे को दुख में घिरा देखकर और उसके दुख का ज्ञान प्राप्त करके उसे सदुपदेशों के वचनों द्वारा शांति प्रदान किया करते हैं, उनको सत्वगुण में ही विराजमान समझना चाहिये क्योंकि वे सर्वदा दूसरों के हित में परायण रहा करते हैं। नारद–1, 68/139.

राग द्वेष से रहित, असूया और दम्भ से रहित, दूसरों को संताप न देने वाले ही ईश्वर को धारण करने में समर्थ होते हैं। नारद–1, 57–58/216.

बुद्धिमान पुरूष को इस लोक और परलोक में जिसमें प्राणियों का हित साधन होता दीखे, उसी कार्य को मन, वचन और कर्म से करना चाहिये। विष्णु 1, 45/441.

जो सत्पुरूषों की संगति करते हैं, जो समस्त प्राणियों पर अनुग्रह रखते हैं, जो समस्त अतिथियों को प्रिय समझते हैं,जो परोपकार में तत्पर, दूसरे के द्रव्य से विमुख रहा करते हैं, जो पराई स्त्रियों के विषय में नपुसंकत्व का भाव रखते हैं, जो दान लेने से बचते हैं और स्वयं सदा दान करते हैं, वे ईश्वर को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। नारद–1, 59–64/217.

जिन सत्पुरूषों के हृदयों में परायों के उपकार करने का भाव सदा जागरूक रहा करता है, उनकी विपदायें नष्ट हो जाया करती हैं, इसलिये समस्त वाणियों के जाल का परिमंथन करके यही निर्णय किया गया है कि परोपकार से अधिक श्रेष्ठ कोई भी धर्म नही है और दूसरों के उपकार करने से अधिक कोई भी अन्य महान अध नही होता है।

उपकार और अपकार दोनों ही प्रवर हैं– ऐसा माना गया है। जो उपकार करने वाले हैं, उनके विषय में तो सभी उपकार किया करते हैं। जो साधु पुरूष अपकार करने वालों के विषय में साधु होता है, अर्थात उन अंहकारियों का भी उपकार करता है, वही परम पुण्य का भागी बताया गया है। ब्रह्म 1, 54–55/422.

अपनी वाणी से, मन से और प्रयत्नों के द्वारा परकार्य कर देने चाहिये और सत्पुरूष ऐसा ही किया करते हैं। तीनों लोकों में दूसरे की पीड़ा के उपशमन के समान कोई अन्य श्रम नही है। ब्रह्म 1, 29/467.

यह ही सुजात पुरूषों का भूमंडल में लक्षण है कि जिनका मन नित्य ही अहित करने वालो पर भी कृपा से पसीजा हुआ रहा करता है। ब्रह्म 2, 83/168.

लोक कल्याण की भावना

मत्स्य पुराण में व्यक्ति द्वारा जल–तर्पण के समय की गई प्रार्थना से यह स्पष्ट है कि तर्पण से केवल पितरों को नहीं वरन् प्राणी–मात्र को संतुष्टि की कामना की जाती थी।

जो मेरे बन्धु हैं अथवा अबन्धु हैं या पहले किसी जन्म में बन्धु थे या जो मुझसे जल प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, वह सब मेरे द्वारा दिये गये जल से तृप्त हों। क्षुधा, हिंसा से व्याकुल कोई भी प्राणी जहाँ कहीं भी हो, वे सब मेरे द्वारा दिये गये इस तिल–जल से तृप्त हो जायें। विष्णु–1, 35–36/420.

न केवल पितरों, पितामहो अपितु सभी जन– माता–प्रमाता, उनकी माता, गुरू–पत्नी, गुरू, मित्र, राजा सबको जल का तर्पण यहां कराके पशु–पक्षी, जलचर, भूमि पर सभी जीवों को भी तर्पण दिया जाना, समस्त के प्रति कल्याण भावना व समत्व का सूचक है। विष्णु 1, 27–35/420.

"सर्वे भवन्तु संखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुखभागभवेद्।।"

जो प्राणी जगत में सब प्राणियों का हित–संपादित किया करता है, वह परम दयालु और परम भक्त अवश्य ही परम् पद की प्राप्ति किया करता है। नारद 1, 129/192.

मत्स्य पुराण के निम्न श्लोक में लोक–कल्याण की भावना की अत्यन्त सुन्दर ढ़ंग से अभिव्यक्ति की गई है–

अन्न को उपजाओ, सुन्दर वृष्टि करिये, सुभिक्ष कीजिये और अभय करिये। राष्ट्र बढ़े और नित्य ही शान्ति होवे, देवों की–ब्राह्मणों की, भक्तों की, कन्याओं मे– पशुओं की और समस्त प्राणियों की नित्य ही शांति होवे।

दया

जो समस्त प्राणियों पर दया–भाव का बर्ताव किया करते हैं, वे निश्चय ही परम् पद को प्राप्त किया करते हैं। नारद 1, 138/192.

साधुजन को स्त्रियों, मूर्खों और दीन जन्तुओं पर अनुकम्पा करनी ही चाहिये। विष्णु 1, 54/168.

अहंकार–शून्यता

पुराणों में अहंकार को सबसे बड़े दुर्गुण के रूप में देखा है। ऐसा दुर्गुण जो अपने साथ अनेक अन्य दुर्गुणों को जन्म देता है।

यह निश्चित नियम है कि चित्त में जब अहंकार आ जाता है तो उसका विवेक बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है। जब अविवेक और अविचार मन में आ जाते हैं तो उस प्राणी को चारों ओर से अविचार आपत्तियां घेर लिया करती हैं। इसलिये अहंकार बहुत ही बुरी वस्तु है। इसका त्याग कर ही देना चाहिये। यह सर्वनाश का मूल होता है। नारद 1, 30/132.

यौवन, धन–संपत्ति, प्रभुता और अविवेक; इन चारों वस्तुओं में से एक भी यदि किसी को हो जाये तो वह महान अनर्थ करने वाली हो जाया करती है, ऐसा शास्त्र सम्मत सिद्धान्त है। और फिर दुर्भाग्य से यदि ये चारों ही एकत्र हो जायें तो फिर उस व्यक्ति के विनाश में कुछ भी संदेह नही रहता है। नारद 1, 15/129.

सद्गुणशीलता

चाहे कोई कैसा भी मनुष्य हो, यदि वह गुणों से सुसंपन्न होता है, तो सभी उसकी प्रशंसा किया करते हैं, भले ही उसके पास कुछ न हो और जो गुणहीन व दुर्गुणों से युक्त होता है तो भले ही वह कैसा भी शक्तिशाली क्यों न हो, उसकी सभी मनुष्य

निन्दा किया करते हैं। इस संसार में अपकीर्ति का होना मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होता है। नारद 1, 38 39/134.

यह सर्वाधिक नियम ही होता है कि जहाँ पर नीति, कीर्ति और सम्पत्ति हुआ करती है, वहाँ पर सभी सद्गुण, सज्जन पुरूष और देव–वृन्द भी स्वयं ही खिंचे चले आया करते हैं। नारद 1, 39/250.

क्रोध, मोह, असूया, काम, राग व कुसंगति को ऐसे दुर्गुण हैं जो व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं। अतः इनसे मुक्त होने का सर्वदा प्रयास किया ही जाना चाहिये। पुराणकार कहता है–

क्रोध के तुल्य अन्य कोई भी शत्रु नही होता है। मनुष्य को क्रोध एक महान शत्रु के ही समान हुआ करता है। मोह के बराबर मादक वस्तु इस संसार में अन्य कोई नही है। असूया ही सबमें बड़ी अकीर्ति करने वाली होती है। राग के तुल्य अन्य कोई बन्धन नही होता है। कुसंगति के बराबर अन्य कोई वस्तु नही है जो विष का सा प्रभाव रखती है। नारद 1, 41–42/134.

लोभ से क्रोध और लोभ से ही द्रोह प्रवृत्त हुआ करता है। लोभ ही एक ऐसा महान दोष है, जिससे मोह, माया मान, मत्सर उत्पन्न होते हैं। जो पुरुष राग–द्वेष, मिथ्या क्रोध, लोभ, मोह और मद से दूर रहता है, तथा जो शान्ति से सम्पन्न रहता है, वह पाप से रहित होकर परलोक सद्गति प्राप्त किया करता है। धन से सम्पन्न तथा कामी पुरूष की कोई भी पूजा नही करता। अपने अनन्त बल, वीर्य से, प्रज्ञा से अथवा पुरुषार्थ से मनुष्य अलभ्य पदार्थ को प्राप्त करता है, इसमें फिर परिवेदना क्या है? समस्त प्राणियों पर अत्यन्त दया रखना, सम्पूर्ण इंद्रियों का नियन्त्रण रखना और सभी में नित्यता की बुद्धि का रखना ही परम श्रेय बताया गया है। नारद 1, 11–15/143.

जो जाति से अर्थात जन्म से ही अन्धा होता है, वह कुछ भी नही देखा करता है, जो राग से अन्धे के समान ही होता है, उसे कुछ भी नही सूझता है, जो किसी भी

प्रकार के मद से अंधा होता है, वह कुछ नही देखता है तथा जो लोभाभिभूत होता है वह भी नही देखा करता है। वामन 2, 37/94.

समत्व

समदर्शिता अर्थात सभी प्राणियों को समान भाव से देखना भारतीय संस्कृति में एक प्रमुख मूल्य रहा है। पुराणों में भी इसके पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं।

जैसे स्वच्छ चित्त वाले पुरूषों को ज्ञान के द्वारा समता की प्राप्ति होती है, वैसे ही शरद् काल के जलों को भी कुमुदों की प्राप्ति हो जाती है। विष्णु 2, 6/181.

ब्रह्म पुत्र ऋभु द्वारा अपने शिष्य पुलस्त्य पुत्र निदान को परमार्थ तत्व का उपदेश देते हुए कहा गया है– अपने चित्त को समदर्शी बनाइये क्योंकि समत्व ही मोक्ष का एक मात्र उपाय है। विष्णु 1, 31/356.

तुम सबके प्रति समान दृष्टि रखो, क्योंकि सर्व समानता ही भगवान अच्युत की परम् आराधना है। विष्णु 2, 90/201.

जब कोई पुरूष किसी के लिये भी पापमयी दृष्टि नही रखता, तब उस समदर्शी के लिये सभी दिशायें आनन्ददायिनी हो जाती हैं। विष्णु 1, 25/53.

जो महान वैभव का आकांक्षी हो, उसे पुण्यों का संचय करना चाहिये तथा जो मोक्ष की कामना करता हो, उसे समत्व लाभ में लगना चाहिये। मनुष्य, पशु–पक्षी, वृक्ष, सरीसृपादि भगवान से भिन्न होते हुए भी यथार्थ में उन्हीं अनन्त भगवान के स्वरूप हैं, इस बात के ज्ञाता पुरूष को सम्पूर्ण विश्व आत्मवत् देखना चाहिये, क्योंकि यह एक सम विश्वरूप धारण किये हुए भगवान स्वयं ही हैं। विष्णु 2, 45–47, पेज 216.

सत्संगति

संगति का मानव–विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। सत्संगति से व्यक्ति उन्नति की ओर तथा कुसंगति से पतन की ओर अग्रसर होता है।

बुद्धिमान पुरूष को उचित है कि वह लोक निन्दित, पतित, उन्मत्त, बहुतों के बैरी या दूसरों को पीड़ित करने वाले पुरूषों से तथा कुलटा के पति, मिथ्याभाषी, अत्यन्त व्यय करने वाले, परनिन्दा में रूचि रखने वाले और दुष्टों के साथ कभी मित्रता न करें। अनार्य पुरूष का संग और कुत्सित मनुष्य की संगति न करें। विष्णु 1, 6–7/435.

संग दोष से बचना चाहिये। संगहीनता गतियों के लिये मोक्षदायिनी है और सभी दोषों की प्राप्ति संग से ही होती है। संग के कारण योगसिद्ध पुरूषों का भी पतन हो जाता है तो अल्पसिद्धि वालों को तो कहना ही क्या है। विष्णु 1, 124/51.

संशय ह्वदय पुरूषों का कभी साथ न करें। सदाचारी पुरूषों का सदा साथ करें क्योंकि ऐसे मनुष्यों का तो क्षण भर का साथ भी प्रशंसनीय है। विष्णु 1, 21/437.

यह (सत्संगति) उन्हें प्राप्त होती है, जिनका अन्तःकरण शुद्ध होता है। सूर्यदेव तो अपनी किरणों के प्रकाश के द्वारा दिन के समय केवल बाहर फैले हुए अंधकार का ही विनाश किया करते हैं, परन्तु सन्त पुरूष तो अपने सद्वचनों के द्वारा ह्वदय के भी अंधकार को भी दूर कर दिया करते हैं। सन्तों के वचन रूपी किरणों के प्रकाश के प्रभाव से ह्वदय में व्याप्त अज्ञानान्धकार पूर्ण रूप से नष्ट हुआ करता है। नारद 1, 35–37/84–85.

इस संसार में सत्पुरूषों की संगति का कैसा अद्भुत प्रभाव है कि इससे सभी पाप नष्ट हो जाया करते हैं। पुण्यशील पुरूषों के लिये इस सत्संगति के समान कौन सा सुख हो सकता है? इस जगत में जड़ मनुष्य भी सत्पुरूषों की संगति करने से पूज्य हो जाया करते हैं। जिस तरह से एक कलामात्र बचे हुए चन्द्रमा को शिवजी ने अंगीकार कर लिया था। इसीलिये भगवान की संगति के कारण ही उसकी सब पूजा किया करते हैं। नारद 1, 6/142–143.

जिस प्रकार पंचगव्य से पूर्ण पवित्र घर में एक बूँद सुरा के पड़ जाने से दूषित हो जाता है, उसी प्रकार निर्दोष व्यक्ति भी दुष्टों के संग रहने से दूषित हो जाता है। (भलन्दन वत्स प्रीति चरित्र), मार्कण्डेय 2,/334

मैत्रीभाव

अपने में जो शील, गुण, विद्या आदि में जो अधिक हो, उन्हीं के साथ सख्य भाव या मैत्री करनी चाहिये और सर्वदा भगवान का भजन एवं ध्यान करते रहना चाहिये। पद्म 2, 15/ 88.

जैसे चंचला विद्युत की स्थिरता नहीं होती वैसे ही श्रेष्ठ पुरूष की किसी दुर्जन से मित्रता स्थायी नही होती। विष्णु 2, 42/159.

विद्वान व्यक्ति को उद्यत, उन्मत्त, मूढ़, अविनीत तथा जो वय और जाति से दूषित हो उनके साथ और जो शीलहीन हों, उनके साथ कभी मैत्री नही करनी चाहिये। जो अत्यधिक व्यय करने वाले स्वभाव के तथा बैरी पुरूष हों, कार्य करने में असमर्थ, निन्दित, नरों के संग करने वाले, निर्धन, विवाद में तत्पर रहने वाले और अधमों के साथ कभी मित्रता नही करनी चाहिये। ब्रह्म 2, 82–84/290.

मित्र के बिना न तो राज्य ही और मित्र के बिना न कोई सुख है। ब्रह्म 2, 82/165.

सदा सुशील रहना चाहिये। समस्त प्राणियों को आश्रय–दान करें। अपनी इंद्रियों को कुमार्ग में गमन करने से उनका दमन करते रहें। सबके साथ मैत्री एवं सदाचार का व्यवहार रखना तथा सर्वदा धर्म में तत्पर रहना चाहिये। नारद 1, 77/111.

मित्र, दम्पत्ति, सगे भाई, स्वामी–भृत्य, पिता–पुत्र, अध्यापक–शिष्य में भेद डालने वाले महान अधम होते हैं। वामन 1, 5/156.

कभी भी किसी के साथ द्रोह का समाचरण न करें क्योंकि जिस जीवन में द्रोह करता है, वह जीवन अनित्य है, फिर द्रोह का पाप क्यों अर्जित किया जाये? ब्रह्मांड 2, 47/36.

जो अपने मित्र के साथ धोखा किया करता है, वह बहुत ही दुष्ट बुद्धि वाला होता है और वह चाहे कोई भी क्यों न हो, दस हजार युगों तक पाप के फल की यातना ही भोगा करता है। मित्र के दर्शन होने पर प्राणियों के समस्त दुख चले जाया करते है। इसलिये परम् बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि अपने मित्रों से कभी भी कोई छिपाव न करे। नारद 1, 76/180.

श्रेष्ठ अथवा नीच पुरूषों से कभी विरोध न करें, क्योंकि विवाद और विवाह यह दोनों ही कार्य समान पुरूषों से करना उचित है। विष्णु 1, 22/438.

कलह की वृद्धि न करें, व्यर्थ का बैर हो तो उसे भी छोड़ दें, यदि थोड़ी सी हानि उठाने पर भी बैर की समाप्ति हो तो उससे चूकें नही। विष्णु 1, 23/438.

प्राचीन पुरूष मित्र द्वारा ही शत्रु का उन्मूलन करने की प्रशंसा करते हैं। सामन्तत्व होने से जो मित्र होते हैं, वे भी बाद में शत्रुता को प्राप्त कर लेते हैं। विष्णु 1, 23/431

सच्चा धर्माचरण

विद्या, दान, तप, सत्य– यह धर्म के चार चरण हैं।

"विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येतिपदानि च।"

जिसने सभी प्रकार की इच्छाओं में जाने वाले मन को नियमित कर लिया है, उसके ज्ञान में और मोक्ष में शत्रु मात्र कारण मात्र मन ही होता है। प्रज्ञावान पुरूष को अपने मन का नियमन करने में सदा ही प्रयत्न करना चाहिये। जब यह मन संग्रहीत हो जाता है तो निश्चय ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जाया करती है। एक सत्य ही परम धर्म होता है और एकमात्र ही सत्य का परिपालन करना ही परम तप हुआ करता है। सत्य ही

सर्वोत्तम ज्ञान है क्योंकि सत्य में ही धर्म प्रतिष्ठित रहा करता है। धर्म का मूल अहिंसा है। मन से उसका चिन्तन करते हुए काम और वचन के द्वारा इस अहिंसा का समाचरण करना चाहिये। पराये धन का अपहरण करना चोर कर्म है, इसलिये सब मनुष्यों को सर्वदा और चातुर्मास्य में विशेष रूप से इसका वर्जन कर देना चाहिये। मनुष्यों के शरीर में यह अहंकार विष के ही तुल्य हुआ करता है। जिस धर्म में दया नही होती है, वह धर्म ही दोषयुक्त होता है। वेदों के अनुवचन को जानकर ब्रह्मचर्य, तप, दम, श्रद्धा, उपवास और स्वातन्त्रय आत्मा के ज्ञान के हेतु है। स्कन्द 2, 15–20/112

ये पॉच महान सुख हैं– अपने माता–पिता की परम भक्ति भाव से पूजा, अपने पति की अर्चना, समस्त प्राणियों में समान प्रेमादरपूर्वक व्यवहार, मित्रगण के साथ कभी भी द्रोह न करना और भगवान विष्णु के चरणों में निष्काम अनन्य भक्ति। ये पांच सबसे श्रेष्ठ एवं महान यज्ञ हैं, जिनको सभी लोग बिना किसी कष्ट के कर सकते हैं और सभी धर्मों में इनको माना एवं किया जा सकता है। पद्म 1, 6–7/383.

धर्म के विरुद्ध जो अर्थ और काम हो, उनका त्याग करें और ऐसे धर्म को छोड दें जो आगे चलकर दुःखमय हो जाये अथवा समाज के विरुद्ध हो। विष्णु 1, 7/416.

दिखावे के लिये धर्म की चर्चा करने वाले पाखण्डियों से ईश्वर दूर ही रहता है। भ्रष्टाचरण करने वाला चाहे कितना भी विद्वान हो, पतित ही है। नारद 1, 80/82.

जो व्यक्ति सर्वदा सत्कर्मों में ही अपनी प्रवृत्ति रखता है, ऐसे राग से निवृत्ति प्राप्त करने वाले पुरूषों को घर ही तपोवन के समान है। जो कर्मों के द्वारा जीविका का अर्जन करने वाला पुरूष है, जो संतोष रखने की वृत्ति से अपने घर में ही रति रखा करते हैं तथा जिन पुरूषों ने अपनी इंद्रियों को जीत लिया है एवं जो व्यक्ति अतिथियों को प्यार करते हैं अर्थात उनका समुचित सत्कार किया करते हैं, ऐसे नियमों में संस्थित पुरूषों का घर में रहकर पूर्ण धर्म का परिपालन हो जाता है। पद्म 1, 141–142/221.

श्राद्ध के विषय में पुराणों में कहा गया है कि श्राद्ध अत्यन्त सादगी से किया जाये। श्राद्ध सामर्थ्यानुसार ही करें। धन के होने या उसके अभाव में पितरों ने जो बताया है, उसके अनुकूल आचरण करने पर भी विधिवत श्राद्ध हो जाता है।

समर्थ न होने पर एक मुट्ठी तिल या स्वल्प कच्चा धान्य, सात–आठ तिल सहित जलांजलि, गौ को चारा खिलाना ही पर्याप्त है। केवल शुद्ध आत्मा से ही एकान्त में पितरों को प्रणाम करें।

पुरूषार्थ चतुष्ट्य

अन्य वैदिक ग्रन्थों की भाँति पौराणिक दर्शन में भी धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को मानव–जीवन का चरम् पुरूषार्थ माना गया है। विभिन्न पुराणों में इन्हीं चारों जीवन–मूल्यों के विषय में अलग–अलग स्थानों पर चर्चा की गई हैं।

समस्त प्रकार के व्रतों में दस प्रकार का साधारण धर्म माना जाता है जिसका पूर्ण पालन करना चाहिये। ये दस धर्म ये हैं– क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इंद्रियों को संयम में रखना, देव की पूजा, अग्नि हरण, सन्तोष और अस्तेय अर्थात चोरी न करना। उपवास के दिन पवित्र मन्त्रों का जाप करना चाहिये और यथा–शक्ति हवन भी करें। नित्य स्नान करें, मित आहार करें तथा गुरूदेव और ब्राह्मणों की अर्चना करें। क्षार, मधु, लवण, मांस– इनकों वर्जित रखना चाहिये। अग्नि 1, 8–12/330–331.

जिस मनुष्य के हाथ–पैर और मन सुसंयत हुआ करते हैं तथा जिसमें विद्या–तप और कीर्ति विद्यमान होते हैं, वही मनुष्य तीर्थों के फल का उपयोग करता है। तीर्थों का फल प्राप्त करने हेतु सुसंयत होना आवश्यक है। पुरूष का विशुद्ध मन ही एक महान तीर्थ है। मनुष्य की वाणी का निग्रह और सब इन्द्रियों का निग्रह रखना, ये भी मानव शरीर में ही रहने वाले तीर्थ होते हैं। अन्दर शरीर में रहने वाला चित्त ही यदि दुष्ट है, अर्थात अनेक दोषों से युक्त है, तो वह तीर्थों के स्नान करने से कभी भी शुद्ध नही हुआ करता है। (2–3) जिस पुरूष की दूषित भावनायें हुआ करती हैं, जो दण्ड में रूचि रखता

है, तथा जिसकी इन्द्रियां अविजित होती हैं, उस मनुष्य को तीर्थ, दान, व्रत और आश्रम कभी भी शुद्ध नही कर सकते हैं। अपनी इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य जहॉ–जहॉ पर भी निवास किया करता है, वहॉ पर ही कुरुक्षेत्र, प्रयाग और पुष्कर हो जाया करते हैं।

आठ आत्मगुण होते हैं। ये हैं– दया, क्षमा, अस्पृहा, अनुसूया, अनायास, मंगल, अकार्पण्य और शौच। जिसके अन्दर ये गुण होते हैं, वे परम गति को प्राप्त होते हैं।

अर्थ

संसार में जिस धन को प्राप्त करने की बहुधा सभी को लालसा रहती है, उसकी तीन गतियां होती हैं– दान, भोग और विनाश। धन का वास्तविक फल धर्म करना है और धर्म वही है जो ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये किया जाये।

जो धन से हीन होता है, वह चाहे साक्षत शिव के समान भी क्यों न हो, किन्तु उसका सभी के द्वारा तिरस्कार ही समाज में किया जाया करता है। ब्रहम 2, 9/81.

देहधारियों में निर्धनता का होना एक पाप ही समझना चाहिये और यह एक सबसे बड़ा कष्ट ही होता है। धन रहित पुरूष का न तो कोई भी व्यक्ति मान–समादर किया करता है और न उस निर्धन का कोई स्पर्श ही करता है।

सुख की अनुकूलता बिना धन के कैसे हो सकती है? ओहो ! निर्धन मनुष्य को तो धिक्कार है। अर्थात धनहीन पुरूष का जीवन धिक्कारमय होता है।

अहो ! इस संसार में भाग्यहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। ऐसे धनविहीन जीवन को धिक्कार है, और प्रसिद्धी से रहित जीवन को धिक्कार है। जिसके बहुत सी सन्ततियां हों पर धन न हो, उस मनुष्य के जीवन को भी धिक्कार है। बड़े से बड़े, अच्छे, गुणमय, सौम्यता, विद्वता और सत्कुलीनता–ये सब बातें दरिद्रता के सागर में डुबकी लगाने वाले मनुष्य को शोभा नही दिया करती हैं। जिसके पास ऐश्वर्य का अभाव होता है, उसको प्रिय पुत्र–पौत्र, बान्धव, भाई तथा शिष्य, सभी मनुष्य त्याग दिया करते हैं। चाहे कोई

चाण्डाल हो अथवा द्विज हो, संसार में धन–ऐश्वर्य से सम्पन्न भाग्यशाली का ही सत्कार हुआ करता है। नारद 1, 144–147/233.

दरिद्रता को अभिशाप माना जाता है। जो मनुष्य दरिद्र होता है, वह तो इस संसार में एक शव के ही समान ही परम् निन्दित माना जाया करता है। सम्पत्तिशाली पुरूष परम् निष्ठुर हो, तब भी उसे दयालु समझा जाया करता है। वह भले ही गुणों से हीन हो, तो भी उसको गुणी कहा जाता है। मूर्ख धनी को पंडित व ज्ञानी कहकर पुकारा जाता है। जिसके ऐश्वर्य के साथ गुण भी हों तो फिर उसका क्या कहना? वह तो पूज्य ही होता जाता है। अहो ! यह दरिद्रता का होना ही महान दुख है और फिर उसमें भी आशा का होना तो बहुत ही दुख देने वाला हुआ करता है। आशा के पाश में फंसे हुए मनुष्य अक्षय दुखों का भोग किया करते हैं। नारद 1, 148– 150/233.

यह दरिद्रता महान दुख है, विशाल वेदना है और अनुपम यातना है। ऐसी दरिद्रता में बहुत सी स्त्रियां और बहुत सी संतान हो जायें तो बहुत ही दुख दिया करता है। नारद 1, 154/234.

ब्रह्म पुराण–2 में लक्ष्मी व दरिद्रा के परस्पर वार्तालाप में दोनों अपने पक्ष के समर्थन में दरिद्रा कहती हैं–

लक्ष्मीवान पुरूष अहर्निश पापों में रमण करता है। ऐसा व्यक्ति विश्वस्तों को ही ठगा करता है। मनुष्यों को सुरापान से भी उस प्रकार का दारुण मद नही होता है, जैसा कि लक्ष्मी के समीप में होने से विद्वानों को भी यह उत्पन्न हो जाया करता है।

जहाँ पर क्षोत्रिय, द्विज, गौएं, गुरू वर्ग तथा अतिथि सदा न निवास किया करते हों और जहाँ पर भर्ता तथा भार्या में नित्य ही परस्पर में विरोध रहता हो, जिस स्थान पर वेद के मन्त्र कभी नही होते हैं तथा गुरू वर्ग की अर्चना आदि सत्कृति नही हुआ करती है। जिस घर में प्रत्येक रात्रि में आपस में कलह हुआ करता है, जिस स्थान में कोई अतिथि आकर सत्कार ग्रहण नही किया करता है, जिस घर में बालकों के देखते

रहने पर उन्हें भक्ष्य पदार्थों को स्वयं मानव खा जाया करते हैं, जहाँ मानव पाप कर्म में समारूढ़ होकर परस्पर में दया से रहित होते हुए निवास किया करते हैं, उस घर में तथा देश में दरिद्रा भली–भाँति प्रवेश करके निवास किया करती है। 31–44/202–204.

योग्य, सदाचारी, पवित्र ब्राह्मण, धर्मशील पुरूषों में दरिद्रता का निवास और पापात्मा, राजवर्ती, निष्ठुर, खल, पिशुन, लुब्धाक, विकृत, शठ, अनार्य, कृतघ्न, धर्मघाती, मित्रद्रोही, अनिष्ट और भग्न चित्त वाले पुरूषों में लक्ष्मी का वास होता है। ब्रह्म 2, 18–24/83–84.

इनके मध्य हुए वाद–विवाद में गौतमी द्वारा निर्णय दिया गया– यज्ञ, तप, कीर्ति, धन, विद्या, प्रज्ञा, सरस्वती, भुक्ति, मुक्ति, लज्जा, स्मृति, क्षमा, सिद्धि, तुष्टि, पुष्टि, शांति, जल, पृथ्वी, शक्ति, ऊषा– जो कुछ इस लोक में विद्यमान है, ब्राह्मणों में, लोकों में, क्षमावानों में, साधुओं आदि श्रेष्ठों में जो कुछ रम्य है, सुन्दर है, उत्कृष्ट है, सभी लक्ष्मी का ही रूप है।

पुराणों में धन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, लक्ष्मी आदि के सम्बन्ध में निम्न नीति–वाक्य मिलते हैं–

न्यायोचित रीति से धन का अर्जन करें और यत्नपूर्वक यजन करें। हे द्विजगण ! जिससे प्रकुपित हुआ आत्मा जुगुप्सा को प्राप्त नही होता है। ब्रह्म 2, 163/303.

लुब्धता, लोलुपत्य, लब्ध धर्म और अर्थ का नाश कर देना, ला ला और संकीर्णता– यह पापकर्म है। वामन 2, 8/110.

जिस सम्पदा के लिये मानव बड़े–बड़े कुत्सित कर्म किया करता है, वह सम्पदा भी अत्यन्त चंचल है और कभी किसी के पास स्थिर नही रहा करती है। ब्रह्म 2, 48/36.

जो धन अपने प्रयास से कष्ट के साथ प्राप्त किया जाता है, वह ही धन स्थिर होता है और अधिक समय तक ठहरता है। इसके अतिरिक्त जो अनायास मिल जाता है, वह कुछ ही समय में चला जाया करता है। ब्रह्म 2, 21/157.

अनायास प्राप्तं धन का शुभ कर्मों में, बावडी–कूप–तालाब आदि के निर्माण में व्यय कर देना चाहिये। ब्रह्म 2, 22/157.

भील, किरात और अन्त्यज जातियों में लक्ष्मी अधिक समय तक स्थिर नही रहती है। 18–19, पेज 157, ब्रह्म 2

दरिद्र व ब्राह्मण के धन का हरण कभी नही करना चाहिये। गुरू, देव, द्विज, पुत्र और आत्म–सुख के लिये जो धन की चोरी करता है, उसका अधः क्रम से ही दश गुणा उत्तर अधः होता है। ब्रह्म 2, 7/155.

ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त, मूख और कामियों को तथा अहंकार में पड़े हुए महामूर्खों को विवेक नही रहा करता। (130) सम्पूर्ण निधि का आधार होने से यह पृथ्वी सदा जलती रहा करती है। उसी निधि को उपभोग करने वाले भी जलने लगें तो कुछ आश्चर्य की बात नही है। नारद 1, 104/160.

दुर्जनों की विभूतियां सदा असत् पुरूषों के उपभोग में आया करती हैं, क्योंकि देखते हैं कि फलों से समृद्ध कटु निम्ब हमेशा कौवों के द्वारा ही सेवित होता है। नारद 2, 13/133.

जहॉं लक्ष्मी, यौवन और सरस्वती वर्तमान में रहा करती हैं, वहॉं पर इनके साथ ही साथ अलक्ष्मी, वृद्धता और मूर्खता भी अपनी जड़े जमा लिया करती है। कनक (स्वर्ण) का माहात्म्य किसी से भी कम नही कहा जा सकता है। समान नाम होने के कारण कनक (धतूरा) भी महान मदकारी होता है। नारद 1, 106–107/161.

अहा ! धन का मद कितना प्रबल होता है कि ऑंखों से देखता हुआ भी अन्धा हो जाता है और उसे कुछ भी सत्–असत् नही दिखलाई पड़ता है। यदि अपने हित की बात देख लेवे तो सुख प्राप्त करे। किन्तु उसे तो हित–अहित का धन के मद में ज्ञान ही नही रहता है।

जिस तरह से यहाँ पर वित्त के क्षीण हो जाने पर मानवों के द्वारा अपनी जाति वाला सुहृदय और स्वजन त्याग दिया जाया करता है, उसी भाँति स्वर्ग में खेचर देवों के संघ में भी क्षीण पुण्य वाले मनुष्य को तुरन्त ही त्याग दिया करते हैं। मत्स्य 1, 2/173.

पुनीत कार्य करने वाले प्राणियों के घर में लक्ष्मी स्वरूप पापकर्म करने वालों के घर में दरिद्रस्वरूप स्वच्छ हृदय से अध्ययन करने वाले के मस्तिष्क में बुद्धिस्वरूप सद् आचरण वालों के लिये श्रद्धास्वरूप और पवित्र कुल उत्पन्न प्राणियों की लज्जास्वरूप है। उन देवी को नमस्कार करते हैं। (शुक्रादिकृत देवीस्तव), मार्कण्डेय 2, 5/164.

अग्नि पुराण 1 में कहा गया है– न्याय से धन की कमाई करना, उस न्यायार्जित धन को बढ़ाना और उस बढ़े हुए धन की रक्षा करनी चाहिये। इसके पश्चात उस धन का प्रयोग तथा दान किसी सत्पात्र में करना चाहिये। धन का यही चार प्रकार का इतिवृत है।

सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये गुण हेतु हुआ करते हैं। बिना कारण के कार्य कभी होता है। उन कारण स्वरूप गुणों को बतलाते हैं। शास्त्र का ज्ञान, बुद्धि, धीरज, प्रागल्भ्य धारण करने का स्वभाव, उत्साह, वाग्मिता, उदारता, आपत्ति के समय में सहन का स्वभाव, प्रभाव, पवित्रता, मित्रता, त्याग, सच्चाई, किये हुए उपकार का न मानना, सुन्दर कुल, शान्त स्वभाव, इंद्रियों का दमन– ये गुण सम्पत्ति के लाभ में हेतु होते हैं। सम्पत्तिशाली होने को ये गुण होने चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, हर्षातिरेक, मान– सब इन छैं के समूह का त्याग कर देना चाहिये। इनके त्याग देने पर राजा सुखी होता है।

काम

काम को भारतीय चिन्तन परम्परा में जीवन का एक आवश्यक अंग माना गया है। गृहस्थ आश्रम में संतानोत्पत्ति तथा वंश–परम्परा की दृष्टि से इसका अपना महत्व रहा है। ब्रह्माण्ड पुराण भाग 2 के मदन पुनर्भव वर्णन में उल्लिखित है कि ललिता शंभु के नेत्रों से दग्ध हुए कामदेव को अपनी कृपा से पुनर्जीवित करते हुए कहती हैं–

हे कल्की ! [illegible] जो तेरी निन्दा करेंगे अथवा तुम्हारे [illegible] वाले होंगे उनको अवश्य ही नपुंसकता जन्म–जन्मों में हो जायेगी।

मोक्ष

अनेक कष्टों को भोगते हुए परम् दुखित, अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए अन्त में प्राणियों को मानव–योनि प्राप्त होती है। इसमें से कुछ ही लोग अपनी पुण्य विशेषता होने के कारण उत्क्रमण करके ही इस परम् दुर्लभ. एवं सर्वोत्तम मानव जन्म को सफल बनाया करते हैं और दूसरा असली ध्येय जो 'मुक्ति' है, उसे प्राप्त कर लिया करते हैं। नारद 2, 6–7/57.

जब भोगों की वासना रूपी धूलि ज्ञान रूपी उष्ण जल से धुल जाती है, तभी इस विश्व पथ के पथिक का मोह श्रम मिट पाता है। तब वह स्वस्थ चित्त हुआ पुरूष और निरतिशय और अबोध परम् निर्वाण पद को प्राप्त होता है। विष्णु 1, 18–21/396.

विवेकशीलता

जैसे विवेकी पुरूष पुत्र और वैभव में बढ़ते हुए ममत्व को धीरे–धीरे छोड़ देते हैं, वैसे ही जलाश्यों का जल भी धीरे–धीरे अपने किनारों को त्यागने लगा। विष्णु–2, 8/182.

जैसे अहंकार से उत्पन्न दुख की शान्ति विवेक से हो जाती है, वैसे ही चन्द्रमा से सूर्य रश्मियों से ताप की शान्ति हो गयी। विष्णु–2, 15/182.

विष्णु–1 में कहा गया है– यदि ऊँचे वृक्षों को नही लांघा जा सकता, तो उस पर रहने वाले पक्षियों का वध नही कर दिया जाता।

''न ह्यनुल्लंघ्य वरपादपं तत्कृतनीडाश्रयिनो विहङ्गा वधयन्ते तदलमुन्नासमप्पुरतः।

जो प्राण विवेक, बुद्धि के द्वारा अपने मन को वश में रखता है, वह भले ही कोई भी हो, सदा सुख प्राप्त किया करता है तथा जो विवेक को त्याग दिया करता है उसे हर तरह का दुख आकर दबा दिया करता है। नारद 1, 42/174.

मार्कण्डेय पुराण कहता है कि बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अविवेकरूप पाप के कीचड़ में निमग्न न हो और आत्मा को इस प्रकार स्वच्छ करें तथा बन्धन से अपने को बचायें।

"एवं प्रक्षाल्यते प्राज्ञैरात्माबन्धाच्चवरक्ष्यते।
नत्तेवम विवेकनपापङ्केनलित्यते।।" –17/228

यह कार्य और अकार्य का विचार न रहना ही अविवेक है और यही समस्त आपदाओं का मूल है। जो विवेक से हीन रहा करता है, वह मनुष्य पशु के ही तुल्य हो जाया करता है। नारद 1, 40/174.

अक्रोध

दीर्घकाल से तपस्यारत बालाखिल्य ऋषियों को तपस्या करने तथा सिद्धि प्राप्त न होते देखकर पार्वती शिव से इसका कारण पूछती है तो वे उत्तर देते हैं–

–हे देवि ! आप तात्त्विक रूप से धर्म की अत्यन्त गतिकी नही जानती हैं। ये सब लोग धर्म को नही जानते हैं और न ये लोग काम से रहित ही हैं। ये लोग क्रोध से भी निर्मुक्त नही हैं अर्थात क्रोध ने इनको अभी तक नही छोड़ा है, ये तो केवल मूढ़मति वाले लोग हैं। वामन 1, 51–52/409.

यह क्रोध सबसे प्रथम शत्रु है तथा दंश का नाश करना निष्फल ही होता है। ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा उस क्रोध का विनाश करके परम् सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। ब्रह्म 2, 13/97.

क्रोधी पुरूष जो भी यजन करता है, नित्य दान देता है, तपस्या करता है और जो भी वह हवन किया करता है, वह इस लोक में कुछ भी प्राप्त नही किया करता है। ऐसे

क्रोध करने वाले पुरूष का लोक में फल सब व्यर्थ ही हो जाया करता है। क्रोध तो मूढ़ पुरूषों को ही हुआ करता है। बुद्धिमान लोगों को क्रोध कभी होता है। क्रोध यश और तपश्चर्या, दोनों का ही नाश करने वाला बताया गया है। वामन 1, 89/415.

क्रोध बड़ी भारी बला है। इसका त्याग करना परमावश्यक है। क्रोध करने से मन में संताप हो जाया करता है। काम भी पापों का कारण तथा सुयश का नाशक है। मत्सरता भी क्लेशों का कारण है, अतः इन सबका त्याग करना चाहिये। नारद 2, 54–57/112.

मार्कण्डेय पुराण, खंड 2 के पृषधोपाख्यान में कहा गया है कि यह क्रोध हर प्रकार से अनुचित है। इससे तपस्या का नाश, आयु का क्षय, ज्ञान का लोप तथा धन का नाश होता है। क्रोध के वशीभूत होने वाला धर्म, अर्थ, काम सबसे वंचित हो जाता है और बहुत दुख पाता है।

> कोपस्तदोनाशयतिक्रुद्धो भ्रश्यत्यथायुषः।
> क्रुद्धस्यगलतेज्ञानं क्रुद्धश्चार्थाच्चहीयते।।
> न धर्मः क्रोधशीलस्यनार्थचारनोविशेषणः।
> नालंसुखायकामाप्तिः कोपेजनाविष्टचेतसाम्।। –14–15/319

स्वतन्त्रता

मनस्वी होकर ही जीना उत्तम होता है। पराधीन होकर जीवन किस काम का है? ब्रह्म 2, 16/121.

जो पराधीन होता है, वह दुखी रहा करता है और जो आत्मवश होता है, वह सुखी हुआ करता है। जिस कर्म के करने पर या किये जाने पर अन्तरात्मा प्रसन्न होती है, उसी को करना चाहिये। स्कन्द 1, 17/455.

विनय

विनय के द्वारा ही मनुष्य भूषित होता है, अतः विनय का बर्ताव उचित है और इसके विपरीत व्यवहार करना युक्त नही है। जो कोई अमित्र हो, उनके साथ भी सत्पुरूषों को कुटिलता का व्यवहार कभी नही करना चाहिये। चाहे कोई वेदों का ज्ञाता क्षत्रिय हो या कोई अन्त्यज (निम्न जाति का), सबके घर में चन्द्रमा समान रूप से प्रकाश दिया करता है।

परशुराम द्वारा अन्य राजाओं का हनन करने के पश्चात अपने पिता से किया गया यह कथन उनकी विनयशीलता का परिचायक है– इतने बलशाली शत्रु के निपातन करने में मेरा पुरूषार्थ कुछ भी नही है। यह सब कुछ आपके तप का प्रभाव है। जिससे मेरे द्वारा वह दुष्ट मारा गया है। ब्रह्म 1, 14/354.

राजा सागर गुरू वशिष्ठ से कहते हैं कि तालजंघ या अन्य शत्रुओं पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की है वह सब उनकी (गुरू की) अनुकम्पा व प्रसाद से हुआ है अन्यथा ऐसे ऐसे प्रबल शत्रुओं को वह किस शक्ति से पराजित कर सकते थे? ब्रह्म 1, 53–55/409.

विनम्रता अहंकार शून्य व्यक्ति के सम्मुख ही प्रदर्शित की जानी चाहिये। जो पुरूष अविनीत हो और विनयहीन होकर बोल रहे हों, उनकी बातों को कभी नही सुनना चाहिये। ब्रह्म 2, 78/290.

अग्नि–1 में कहा गया है कि अपने से बड़े के समक्ष खडे होना, झुकना, प्रणाम करना आदि परस्पर व्यवहार परमात्मा के सम्मानार्थ किया जाता है। देह में अभिमान रखने वाले के लिये नही। न्याय का मूल विनय होता है। शास्त्र के निश्चय से विनय आता है। इंद्रियों की जीत ही तो विनय है।

निराभिमानता

दम्भयुक्त, नित्य ही बड़े भारी मानी, पराये धन, जनों में जो रति रखने वाले होते हैं, वे अल्प चित्त वाले आसन के योग्य को कभी भी नही दिया करते हैं। योग्य मार्ग के पथ को जो अल्प बुद्धि वाने नही दिया करते हैं और पूजनीय लोगों का संस्कारहीनता के कारणों से विधिपूर्वक अभ्यर्चन नही किया करते हैं, अभिमान से भरी हुई बुद्धि वाले महापुरूषों के लिये पाद्य और आचमन भी नही दिया करते हैं तथा परम शुभ एवं अभिमत गुरूदेव को भी जो प्रणाम नही किया करते हैं, जो लोग अभिमान से बढे हुए लोभ के साथ आस्थित हैं और सम्मान के योग्य वृद्धों का भी अपमान किया करते हैं, नरकगामी होते हैं। द्वेष न करने वाला, निराभिमानी, अभ्यागत पूजन करने वाला, मधुर वचन कहने वाला, स्नेहयुक्त वाणी वाला, गुरूजनों का अभ्यर्चन करने वाला, प्रिय कर्म करने वाला, समस्त प्राणियों का प्रिय व हिंसा न करने वाला उत्तम योनि स्वर्ग प्राप्त करता है। ब्रह्म 2, 17–28/340–41.

नारद पुराण कहता है कि इस क्षण–भंगुर मानव–देह को पाकर पुत्र, पत्नी, गृह, धन–धान्य आदि अभिमान कभी न करें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और परनिन्दा का त्याग करें। –104/37.

अयाचना

यह जो याचना है, वह पूर्ण रूप से अकल्याण का जनन करने वाली और पापदायिनी होती है। अतएव इस याचना को तो किसी से कभी करना ही नही चाहिये। तभी तक गुणों की स्थिति और गौरव मनुष्य में रहता है, जब तक वह दूसरे से याचना नही करता है। 'कुछ हमको दो' यह वचन मुख से निकलते ही धीं, श्री, शान्ति और कीर्ति चली जाती है। ब्रह्म 2, 5–10/148.

चित्त की निर्मलता

केवल शरीर के इस ऊपरी मल के त्याग कर देने में मनुष्य निर्मल या शुचित नही हो जाया करता है। मन में रहने वाले मन के त्याग देने मनुष्य अंदर से सुनिर्मल हुआ करता है। जो ध्यान से पवित्र ज्ञान रूपी जल में जो राग–द्वेष के मल का अपहरण कर देने वाला है, मनुष्य स्नान किया करता है जिसको कि मानस तीर्थ कहते हैं। वह पुरूष परमोत्तम गति को प्राप्त किया करता है। स्कन्द 2, 4–6/35–40.

सैंकडों बार भी स्नान करते हुए पुरूष यदि भाव दूषित होते हैं तो वे शुद्ध नही होते हैं। यहाँ संसार में जिसका चित्त निर्मल है। उसने मानों सौ क्रतुओं का यजन कर लिया है। मानव का चित्त तभी निर्मल होता है, जब भगवान विश्व के स्वामी इन पर पूर्ण प्रसन्नता किया करते हैं। अन्यथा यह कभी भी निर्मल नही होता है। इसलिये अपने चित्त की विशुद्धि के लिये भगवान काशीनाथ का समाश्रय ग्रहण करना चाहिये। स्कन्द 1, 81–85/467.

सत्य

सत्य ही लोगों मे पूजा जाता है। इस जगती तल में जो कुछ भी सौख्य है, वह सत्य से ही प्राप्त किया जाता है, सत्य से सूर्य ताप देता है, और वायु भी सत्य से बहा करता है। ब्रह्म 2, 53/376.

असद् प्रलाप, मिथ्या भाषण और वाणी की कठोरता को वर्जित कर देना चाहिये। ब्रह्म 2, 19/280.

सत्य के समान कोई तप नही है। नारद 1, 60/124.

धर्म शास्त्रों का भी यही मत है कि सत्य वचन मनुष्य को तारने वाला और असत्य नीचे–नीचे गिराने वाला है। वचन के असत्य होने पर अग्निहोत्र, फल, वेद–पठन और दान आदि सभी सत्कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। मार्कण्डेय 1, 18–20/125.

मार्कण्डेय पुराण–1 में सत्य की महिमा बताते हुए कहा गया है कि सूर्य सत्य के बल से ही तपते हैं, पृथ्वी सत्य की महिमा से ही टिकी है, सत्य ही सबसे बड़ा धर्म है और स्वर्ग भी एकमात्र सत्य के ऊपर ही स्थित है।

सत्येनार्कः प्रतपति सत्येतिष्ठतिमेदिनी।
सत्यंचोक्तं परोधर्मः स्वर्गः सत्येप्रतिष्ठितः।। –41/128.

अगर एक तराजू के पलड़े पर सत्य को रखा जाये और दूसरे पलड़े पर हजार अश्वमेघ यज्ञों के फल को तो सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।

अश्रमेघराहस्त्रं चरात्यंचतुलयाघृतमफ।
अश्रमेघ सहस्त्राद्धिसत्मेव विशिष्यते।। –42/128.

सदा सत्य भाषण करना चाहिये और वह सत्य भी सबको सुख देने वाला प्रिय हो। ऐसा ही बोलें। जो सत्य भी अप्रिय हो, तो उसे कभी न बोलना चाहिये, ऐसा प्रिय भी कभी न कहें जो मिथ्या है– यह ही सनातन धर्म होता है। ब्रह्म 1, 15–16/188.

सत्य से ही भूमि धारण की जाया करती है और सत्य से ही भूमि संस्थित है। सत्य के द्वारा वायु वहन किया करता है तथा सत्य से ही सूर्य की गति हुआ करती है। स्कन्द 2, 48/95.

यह सत्य पारावार की नौका की ही तरह स्वर्ग का सोपान है। यह सूर्यदेव भी सत्य से ही ताप दिया करता है तथा वायु भी सत्य से ही वहन किया करता है। अग्नि सत्य से ही दाह करती है और सत्य से ही यह पृथ्वी स्थित रहा करती है। सहस्त्र अश्वमेघ और सत्य तुला पर रखे हुए थे। सहस्त्र अश्वमेघों से भी सत्य ही अधिक हुआ करता है। क्लेश क्रोध के बन्धन से ही समुत्पन्न होने वाला है तथा यही आकर्षण करने वाला और छेदन करने वाला होता है।

पराये धन में लोलुपता न करे और पराई स्त्रियों में भी अपना मन न लगावें। पराया धन और परायी स्त्री को देखकर भी जिसकी कभी बुद्धि उस ओर न जाती हो, वह ही सत्य कहा गया है। 8–9, पेज 456, ब्रहचर्य लक्षण, भूमि खंड 2, पद्म पुराण 1.

अहिंसा

समस्त प्राणियों में सर्वदा कर्म, मन और वचन से क्लेश को उत्पन्न न करना अहिंसा कही गई है। जिसको परमार्थियों ने बताया है। अहिंसा से परम अन्य कोई भी धर्म नही है और अहिंसा से अधिक कोई सुख भी नही है। विष्णु 1, 14–15/98.

संसार में समस्त प्राणियों को अभय का दान देना चाहिये। इस अभय के दान से उत्तम कोई भी अन्य दान नही है। अहिंसा के समान अन्य कोई भी दान इस लोक में नही है और प्राणियों की हिंसा न करने के सदृश अन्य कोई तप नही होता है। जिस प्रकार हाथी के पैर के चिन्ह में अन्य सभी जीवों के पद–चिन्ह आ जाते हैं, उसी भॉति ए व्याघ्र ! सम्पूर्ण दान अहिंसा में ही आ जाया करते हैं।

जो समस्त प्राणियों का हित–चिंतन अपनी संतान के समान करता है, वह भगवान श्री हरि को सुखपूर्वक प्रसन्न कर लेता है। विष्णु 1, 17/403.

हे राजन! जो परनारी, पर धन एवं पर हिंसा में कभी मन नही लगाता, उससे भगवान केशव सदा ही संतुष्ट रहते हैं। विष्णु 1, 14/402.

हे मानवेन्द्र! जो पुरूष किसी देहधारी को अथवा अन्य किसी जीव को पीड़ित नही करता या उसकी हिंसा नही करता उस पर श्री केशव भगवान सदा प्रसन्न रहते हैं। विष्णु 1, 15/403.

प्राणियों पर दया करने से स्वर्ग प्राप्त हुआ करता है। नारद 2, 27/45.

जो पुरूष राग से रहित होते हुए इन पापों का हृदय से प्रायश्चित किया करता है और समस्त प्राणियों पर दया का भाव रखते हुए भगवत चरणों में परायण रहता है, वह पातकों व अन्य पापों से मुक्त हो जाया करता है। नारद 2, 93–94/36.

जो मनुष्य परमाधिक रौद्र समाचरण करने वाला है, एवं सभी जीवों के महान भयंकर होता है, अपने हाथों–पैरों से रस्सी से अथवा दण्ड से, ढेलों से, स्तम्भों से और इसी तरह के अन्य उपायों से जो हे शोभने ! सभी जन्तुओं को बाधा दिया करता है, बदला लेने वाले की बुद्धि वाला, हिंसा के लिये जो सबको उद्विग्न किया करता है, जो जन्तुओं पर सदा ही आक्रमण किया करता है और सदा ही उद्वेग उत्पन्न करता रहता है, अधम, नरकगामी और महान नीच होता है। ब्रह्म 2, 30–35/342.

दयावान, बैररहित, शीलवान, आलिंगन, सभी प्राणियो से प्रेम रखने वाला स्वर्ग प्राप्त करना है। ब्रह्म 2, 36–41,

जो प्राणी कर्मों, मन और वचन से किसी को हिंसित नही किया करते हैं अर्थात पीड़ा नही दिया करते हैं और जो किसी से भी मज्जित नही होते हैं अर्थात जिनके चित्त में सांसारिक भावनाओं से मग्नता नही होती है, वे कर्मों से बद्ध नही हुआ करते हैं। विष्णु 2, 7/327.

प्राणों का त्याग कर देना श्रेष्ठ है किन्तु दूसरों की हिंसा कभी भी अभिमत नही है।

'वरं प्राणस्त्याज्या न बल परहिंसा त्वभिमता' – वामन 2, 29/93

सब प्राणियों को भय देना, कठोरता का व्यवहार करना तथा किसी को मारना पापकर्म है। वामन 2, गुर दानव वध.

अपने दुख के समान ही दूसरे प्राणधारियों को दुख हुआ करता है। उसी भाँति से सब प्राणधारियों को अपने प्राण प्रिय हुआ करते हैं– ऐसा ही अपने मन में समझ लो। आप जिनका हनन किया करते हैं, उनकी भी व्यथा इसी प्रकार हुआ करती है और अन्य

प्रकार की नही होती है। प्राणिमात्र की हिंसा न करना ही सनातन अर्थात सदा से चले आने वाला धर्म है। ब्रह्म 1,49–51/150–151.

कर्म, मन और वाणी से समस्त भूतों में सर्वदा हिंसा से विराम रखने वाला धर्म होता है और अहिंसा परम सुख हुआ करता है। ब्रह्म 1, 14/187.

यह अहिंसा समस्त प्राणियों का परम धर्म होता है, इसलिये सब प्रकार के प्रयत्न से जल को वस्त्र से छानकर पवित्र अवश्य ही कर लेना चाहिये। अभय का दान बड़ा भारी पुण्य होता है और अन्य सब तरह के दानों में यह उत्तम दान होता है। इसलिये सर्वत्र और सर्वदा हिंसा का परिहार करना चाहिये। मन से, कर्म से और वचन से जो मनुष्य अहिंसक होता है, उसकी सभी जन्तु रक्षा किया करते हैं और जो हिंसा करने वाला होता है, उसको सभी बाधा पहुँचाया करते हैं। अतएव मन के द्वारा वचन से तथा कर्म सदा समस्त प्राणियों के हित में अनुराग वाले पुरूष सद्गति को प्राप्त किया करते हैं। जो पुरूष बहुत और अनेक प्रकार के प्राणियों की एक सच्चे स्वामी की भाँति रक्षा किया करते हैं और जो अपने पुत्र तथा पौत्रों के समान स्नेह का सब प्राणियों में व्यवहार किया करते हैं, वे पुरूष सीधे रुद्र लोक को चले जाते हैं। ब्रह्म 1, 6–12/493–494.

जो निरन्तर ही दूसरे प्राणियों को ताप दिया करता है तथा सदा ही सर्वत्र जिसकी लोग निन्दा किया करते हैं, ऐसा इस लोक के परमाशुभ कर्मो को करके कौन सा पुरूष है, जो सुख प्राप्त करता है। अर्थात ऐसा कोई भी सुख प्राप्त नही करता है। ब्रह्म 2, 44/36.

जो अबध्य है, उनका वध एवं बन्धन करना पापकर्म है। वामन 2, 7/109.

जो किसी दूसरे को प्रताडित किया करता है, वह अपनी आत्मा को ही वस्तुतः वंचित किया करता है। पद्म 1, 34/182.

जो मनुष्य दूसरों का बुरा नही चाहता, उसका अकारण ही कभी अनिष्ट नही होता। जो मनुष्य मन, वचन, कर्म से किसी को. कष्ट देता है, उसे पीड़ा रूप बीज के द्वारा उत्पन्न हुआ अत्यन्त अशुभ फल प्राप्त होता है। विष्णु 2, 5–6/209.

नारद पुराण में जीव हत्या को पापकर्म मानते हुए विभिन्न व्रतों का विधान किया गया है।

समस्त प्राणियों की कर्म–मन और वाणी से हिंसा नही करनी चाहिये। बिना इच्छा के भी अर्थात अनजाने में भी यदि भिक्षु, पशु और कृमियों की हिंसा कर देवें तो उस पाप की निवृत्ति के लिये कृच्छाति कृच्छ व्रत अथवा चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। विष्णु 2, 16–17/68.

मेढ़क, नेवला, सुअर, चूहा, बिलाव, बकरी, भेड़, कुत्ता, मुर्गा मारने पर शुद्धि हेतु कृच्छ व्रत। घोडे के वध में अतिकृच्छ व्रत, हाथी वध में तप्त कृच्छ व्रत का विधान है। गौ–वध में व्रत करें। पक्षी वध में बारह दिन का व्रत करें। नारद 1, 76–77/33.

अस्तेय

चौर कर्म के द्वारा या बल पूर्वक जो पराये द्रव्य का आहरण करता है, वही कहा जाता है। उस स्तेय कर्म का ना करना ही अस्तेय होता है और अस्तेय का आचरण ही धर्म का एक साधन होता है। अर्थात यह भी धर्म का एक अंग होता है। नारद 1, 15–16/188.

कभी किसी प्राणी को हिंसा नही करनी चाहिये और न कभी असत्य भाषण करना चाहिये। किसी के अहित की बात या अप्रिय वचन बोलना भी उचित नही। चाहे घास, शाक, मिट्टी या जल जैसी नगण्य वस्तु ही क्यों न हो, जो वस्तु पराई है, उसका बिना पूछे अपहरण करने वाला अवश्य ही पाप का भोगी और नरकगामी होता है।

कन्द–मूल, फलों की चोरी, कस्तूरी–वस्त्र–रत्नों की चोरी भी स्वर्ण की चोरी के समान है। लोघ, शीशा, कांसा, सुपारी, चन्दन मिश्रित जल की चोरी भी स्वर्ण की चोरी के समान है। शरबत की चोरी, धान्यों व भक्ष्य पदार्थों का अपहरण, संन्यासियों की निन्दा– ये सब स्वर्ण चोरी के समान पाप कर्म हैं। नारद 1, 20–41/311–13.

गुरू–द्रव्य, अनाथ का द्रव्य अपहृत करने वाले, अनाथ से द्वेष करने वाले नरकगामी होते हैं। नारद 1, 98–99/322.

चोरी करना व इनका संग करने वाला महापातकी होते हैं। नारद 1, 5/21.

भिक्षा करके जीवयापन करना अधिक अच्छा है, किन्तु पराये धन का हरण करके सुखापभोग करना अच्छा नही होता है।

'वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनानां हि हरणं' – वामन 2, 29/92.

धीरता

वीर पुरूष धन के क्षय हो जाने पर मोह को प्राप्त नही हुआ करते हैं और धन के समागम होने पर अत्यन्त हर्षित भी नही होते हैं। जो उत्तम धीर पुरूष हैं वे तो अपने कार्यों में उसी समय में संलग्न रहते हैं जो उनका कर्तव्य है। वामन 2, 50/305.

आपदाओं के आगमन को देखकर वशी पुरूष को कभी विषादयुक्त नही होना चाहिये। सुविस्तृत सम्पत्ति को देखकर या प्राप्त करके धृतिमान नही होना चाहिये। वामन 2, 49/304.

शरणागति

गरीब व रुग्न की रक्षा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं। मनोकामनायें पूर्ण होती हैं। मन, वाणी और कर्म से रोगी की रक्षा करने वालो की सभी कामनायें सिद्ध हो जाती हैं। भयभीत प्राणी की रक्षा करना भी अत्यन्त पुण्यकारी होता है। वामन 2, 81–82/34.

समस्त पापों में अधिक पाप जीवधारियों का हनन करना ही होता है। इसमें भी अधिक पाप उनके हनन का होता है जो विश्वस्त होवे अथवा शरण में समागत हो गया हो। ब्रह्म 2, 2/155.

जो शत्रु पक्ष के मनुष्य भी अति होकर शरण ग्रहण करें, उनकी रक्षा न करने वाले पुरूष के जीवन को धिक्कार है।

विश्वास देकर पापिष्ठ, शूद्र या अन्त्यज जातिज हो, जो उसका हनन करता है, वह ब्रह्म–हत्या से भी अधिक पाप होता है, जिसका कोई भी प्रायश्चित नही होता है। ब्रह्म 2, 3/155.

अत्याचार का प्रतिकार

जो सामर्थ्य होते हुए भी अत्याचार करने वाले को देखकर नही रोकते हैं, उनको पाप लगता है। दोनों ही नरकगामी होते हैं। नारद 1, 113/325.

चाहे माता हो या पिता हो, भ्राता हो या पुत्र हो, जो कोई भी हो, जो अधर्म और अन्याय किया करता है, उसको शत्रु ही समझ लेना चाहिये। नारद 1, 115/162.

एक के लिये बहुतों को कभी नही मारना चाहिये। बहुतों के लिये एक को मार डालना चाहिये। वामन 2, 96/83.

अतिथि सत्कार

जिनके घर आया हुआ अतिथि निराश होकर लौटता है, वह अपने सब पाप कर्म उस गृहस्थ को देकर उसके सभी पुण्य कर्मों को साथ ले जाता है। अतिथि का अपमान, उसके प्रति गर्व और दम्भ का व्यवहार, उसे कोई वस्तु देकर उसका पश्चाताप, कटु भाषण या उस पर प्रहार करना नितान्त अनुचित है। विष्णु 1, 15–16/409.

अतिथि प्रतीक्षा करके उसके आने पर उसे स्वागतपूर्वक आसन दें, श्रद्धापूर्वक भोजन करायें, मधुर वाणी से वार्तालाप करें। अतिथि से अनावश्यक जानकारियां न प्राप्त

करें। अध्ययन, गोत्र, कुल आदि न पूछें। जिसके पास कोई सामान न हो, जिससे कोई सम्बन्ध न हो, जिसके वंशादि ज्ञात न हों और जो भोजन करने के लिये इच्छुक हो, ऐसे अतिथि का सत्कार न करना व भोजन न कराना अधोगति को प्राप्त कराने वाला है। विष्णु 1, 60/425.

अतिथि परमाधिक पूजा करने योग्य होता है, परम सुमधुर वचनों से उसका स्वागत करना, चरण प्रक्षालन, अन्नादि समर्पण, शयन करने से सब यज्ञों का फल प्राप्त होता है। ब्रह्म 1, कपोत तीर्थ वर्णन, 47/52.

यदि जिसका कोई अतिथि अपनी आशा को भंग करके घर से चला जाता है, तो वह अपना जो भी दुष्कृत है, उसको गृहस्थ को देकर उसके सुकृत को लेकर चला जाता है, जबकि वह बिल्कुल विमुखता में ग्रस्त होकर निराश हो जाया करता है। ब्रह्म 1, 28/381.

सत्कर्म

मनीषी पुरूषों को सदा सत्कर्म ही करना चाहिये। जो दूसरो के द्वारा विनिन्दित कर्म हों उनका तो दूर से ही परित्याग कर देना चाहिये। मानव का परम कर्तव्य है कि जब तक भी उसका जीवन रहे, सदा श्रेय के ही यत्न करना चाहिये, क्योंकि उसको यह जान लेना चाहिये कि शुभ कर्म ही सफल होता है और सदा बुरे कर्मों का परिणाम बुरा ही हुआ करताा है। ब्रह्म 2, 46—47/36.

जो मनुष्य परम् शुभ कर्मों का त्याग करके दुष्कर्मों के ही करने में अपनी प्रवृत्ति रखता है, उसे ऐसे ही समझ लेना चाहिये जैसे कोई प्राप्त हुई कामधेनु को छोड़कर आक के दूध की खोज कर रहा हो। वामन 1, 68/149.

जो इस महिमामयी भारत की धरा में जन्म ग्रहण करके भी सत्कर्मों से परांगमुखता रखा करता है, वह पीयूष से पूर्ण कलश का त्याग कर विषपात्र को ही अपने मुख में डालना चाहता है। नारद 1, 65/73.

जिस कर्म को करने से अपनी आत्मा में कोई भी जुगुप्सा न हो उसी कर्म को बिना शंका के कर डालना चाहिये। वामन 1, 108/193.

जो अहिंसा में पूर्ण प्रवृत्त रहता है, अपने से बड़ों का परम् भक्त होता है, जो किसी प्राणी से डाह नही करता है, जो सब में ब्रह्म की सम्पन्नता को देखा करता है। जो दूसरों की निन्दा से रहित, चोरी आदि के महान दोषों से रहित, कृतज्ञ, सत्यभाषी, परम् पवित्र व सर्वदा परोपकार में तत्पर रहने वाला होता है, वह परम् श्रेष्ठ व देवताओं द्वारा भी पूजनीय होता है। नारद 1, 54–63/72.

प्राणियों पर दया, सम्वाद, परलोक में प्रतिक्रिया का करना, सत्य–भाषण तथा सत्य व्यवहार, हित के सम्पादन करने वाली उक्ति, वेदों के प्रामाण्य का दर्शन; गुरू, देव, ऋषि–सिद्धों का सेवन, साधु संयम, अच्छे कर्मों के करने का व्यसन, मित्र–भावना– ये सब स्वर्ग के उपलक्षण हैं। अर्थात इनसे यह समझ लेना चाहिये कि ऐसे प्राणी स्वर्ग के सुख की अवधि समाप्त करके ही यहाँ शेष सुख भोगने को और पर जन्म के लिये सत्कर्म करने को उत्पन्न हुए हैं। आठ अंगों वाले योग के विशेष ज्ञान होने से अत्यधिक फल मनुष्य प्राप्त करता है। नारद 1, 36–37/159–160.

तप, दान, शम, दम, लज्जा, आर्जव और समस्त प्राणियों पर दया– ये सब सात ही पुरूषों के महान द्वार है, जिनको स्वर्ग लोक के भी सन्त कहा करते हैं। मत्स्य 1, 22/177.

भगवान को संतुष्ट रखने और अपने अनुकूल बनाने के वास्ते सदाचरण व सत्कर्मों का महत्व होता है। नारद 1, 24/131.

कर्म मनवाणी और शरीर के साधन स्वरूप होते हैं। परायी स्त्रियों में संकल्प करना, चित्त में अनिष्ट का चिन्तन करना, न करने योग्य कार्य में अभिनिवेश– यह चार प्रकार का मानस कर्म होता है। अनिबद्ध अर्थात सम्बन्ध रहित प्रलाप करना, असत्य बोलना, अप्रिय कथन और दूसरों के अपवाद का पैशून्य अर्थात दूसरों की बुराई करना–

यह चार तरह का वाचिक कर्म होता है। जो भक्षण करने के अयोग्य वस्तु है, उनका भक्षण करना, हिंसा करना, मिथ्या काम का सेवन करना और दूसरों के धन–सम्पत्ति को ले लेना– यह चार प्रकार का कायिक कर्म होता है। ब्राह्मण, हनन करने वाला, सुरा का पान करने वाला, चोरी करने वाला और गुरू पत्नी से प्रसंग करने वाला– ये चार महापातकी होते हैं और इनका संसर्ग करने वाला पांचवा भी महापातकी माना जाता है। नारद 1, 33–36/32–33.

जो कर्मों के फल में राग से रहित हो और कर्मों के फल प्राप्त करने की कुछ भी इच्छा न करे और यही भावना रखे कि मेरे इस कर्म से भगवान प्रसन्न होवें, ऐसा कहकर अपने कर्म को भगवान के चरणों में समर्पित कर देवे। नारद 1, 74/75.

मार्कण्डेय पुराण––1 में कहा गया है कि गुरू, देवता, सिद्ध ऋषियों का पूजन, साधुओं का संग, सत्कर्म का अभ्यास, सब के प्रति मित्रता– उत्तम कर्तव्य हैं।

गुरूदेवर्षिसिद्धिपूजनंसाधुसंगमः।
सत्क्रियाभ्यसनं मैत्रीचैतद्बुध्येतपडिंतः।। –44/212.

बुरे कर्म

उपर्युक्त वर्णित उत्तम कर्म करने के साथ–साथ व्यक्ति को अग्रलिखित बुरे कर्मों को करने से बचना चाहिये–

ब्रह्मांड पुराण–1 में पर स्त्री गमन, पराये धन का अपहरण, सुरा–पान, गुरू–पत्नी गमन, बॉझ स्त्री का पति होना, वृषली (शूद्रा) को घर में रख लेना, देव–पूजा से जीविका कमाने वाला, मत्स्य, क्रोढ का मांस भक्षण, वृथा ही मांस खाना, पृष्ठ भाग का मांस खाना, कृतघ्नता, क्रूर कर्म करना, कृपणता, नित्य भार्या अभिगमन, पिशुनता, दम्भ व माया में अनुरक्तता, वचन भंग करना, भ्रूण हत्या, स्त्री व बालक हत्या, देवता–द्विज–वैद–नृप, पुत्र–मित्र और सती स्त्री की निन्दा करना, वन व घर जलाना, गृह तोडना, कन्या के द्वारा जीविका चलाने वाला, झूठी गवाही देना, अपात्र से यज्ञ कराना,

न्यास (धरोहर) का अपहरण, परायी स्त्रियों में रमण तथा पायस, कृशर व वृथा मांस भक्षण आदि को बुरे कर्म बताया गया है।

स्वर्ण चोरी, सुरापान, गुरू पत्नी गमन, सोम विक्रय, झूठी गवाही देना, अपवित्र रहना, कृतघ्नता महापाप है। ब्राह्मण से द्वेषी, विश्वासघाती, कृतघ्नी, शूद्र स्त्री से गमन करने वाला महापापी है। नारद 1, 48–49/313.

माता–पिता व गुरू का त्याग कर देने वाले और विष देने वाला घोर पापी होता है। गाय का हनन करने वाला, स्त्री का वध करने वाला, शूद्र जाति वाले पुरूषों को मार देने वाला, किसी कथा को दूषित कर देने वाला महान क्रूर, पिशुन, धर्म विरुद्ध आचरण करने वाला नास्तिक भी पापी होता है। स्कन्द 2, 35/153.

द्विजों के लिये मदिरा, गौ–मांस सेवन, माता–पिता के गौत्र की परायी दाराओं से गमन, वेश्यागमन, गुरू–पत्नी गमन महापाप है। नारद 1, 28–36/295–96.

अन्यों के पापों का बखान करना, मिथ्या दोषारोपण करना, निष्पाप पर पाप लगाना– ये बुरे कर्म हैं। नारद 1, 112–116/325.

ब्रह्म–हत्या, मद्यपान, चोर, गुरू पत्नी गमन करने वाला व इसका साथ देने वाला महापापी होता है। जो परमात्मा को भोग न लगाकर भोजन करने वाला, सदा विप्रों को दोष लगाने वाला, क्रूरता से भरी आज्ञा देने वाला, वेद–विक्रेता, पर–निन्दक, पाखण्डी, मिथ्या भाषण कर्ता, दम्भ के लिये धर्म का आचरण करने वाला, सदा दान देने वाला, प्राणियों का वध करने वाला, गणिकाओं से सम्पर्क रखने वाला, शराबी स्त्री के साथ गमन करने वाला पापी है।

वामन पुराण–1 में पराई स्त्रियों में अवमर्शन रखना, पराये धन के लिये लोलुप रहना, स्वाध्याय, भगवान शिव में भक्ति भाव को राक्षस कर्म और विवेक का अभाव, अज्ञान, शौच (पवित्रता) की हानि, असत्यता, अमिष भोजन का लालच को पिशाच कर्म बताया गया है।

विद्वान पुरूषों द्वारा पराई स्त्री के साथ गमन नही करना चाहिये। पराई स्त्री के साथ गमन करना मनुष्यों को इच्छापूर्ति और आयु का हनन करने वाला ही हुआ करता है।

नारद पुराण–2 के पेज 30–31 पर परस्त्री गमन का दण्ड विधान विस्तृत रूप में है परन्तु उसमें सवर्ण व शूद्र स्त्री में पक्षपात किया गया है।

जो धर्म से युक्त पुरूष होते हैं, उनके द्वारा नित्य ही परायी दारा का सेवन त्याज्य किया गया है। परायी स्त्री इक्कीस नरकों में पुरूष को ले जाया करती है। वामन 2, 37/188.

समस्त लोगों की बुराई करने वाला, लोगों के छिद्रों की खोजबीन करने के कार्य में परायण रहने वाला, लोगों को उद्वेग उत्पन्न कर देने वाला, क्रूर भी पुरूष ब्रह्मा कहा गया है। प्यास से बेचैन जल के लिये जाने वाली गौओं के जलपान करने के कार्य में जो विघ्न उत्पन्न कर देता है अर्थात किसी प्रकार की रुकावट डालता है, वह व्यक्ति भी ब्रह्मा बताया गया है। माता–पिता को त्याग देना, झूठी गवाही देना, मित्र का वध कर डालना, गौओं के मार्ग में और वन में अग्नि लगा देना तथा नगर व ग्राम को जला देना, इन कर्मों को जो कोई भी करता है, ये सब उसके महाघोर पाप होते हैं और सुरा (मदिरा) के पान करने के समान ही माने जाते हैं। अपने आश्रम में प्राप्त हो गया और भूख, प्यास और श्रम से पीडित हैं, ऐसे अतिथि का जो पालन नही करते हैं, वे मनुष्य नरकगामी हुआ करते हैं। बालक, वृद्ध, कृश को अर्थात अत्यन्त दुर्बल एक क्षीण आतुर अर्थात रोग से पीड़ित को पाकर जो उन पर दया नही करते हैं, वे महामूढ़ नरक के समुद्र में जाया करते हैं। वामन 2, 14–28/324–327.

संसार में नपुंसक होकर जीवन बिताना उचित है, परन्तु परायी स्त्रियों के साथ गमन करना अच्छा नही है।

'वरं क्लीबैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं।' – वामन 2, 29/92.

आत्म निर्भरता

जन्तुगण अपने ही व्यवसाय के द्वारा जो जीवित रहा करते हैं वे ही वास्तव में परम धन्य अर्थात भाग्यशाली हैं। दूसरों के द्वारा दिये हुए धन से संतुष्ट रहने वाले जो प्राणी हैं, वे कष्टपूर्ण जीवन रखने वाले ही हुआ करते हैं। 10, पेज 155, ब्रह्म 2

उत्तम वाक्

वाणी देवी पुण्या और संस्कृत ही होनी चाहिये। जो वाणी बिना संस्कारों वाली होती है, वह आयुष्य का हनन किया करती है। मिथ्या से युक्त अक्षरों के विन्यास से अमांगल्य से असंस्कृत वाणी बोलने वाले का अग्नि हनन किया करती है। अतएव द्विज को सदा ही संस्कृत वाणी वाला होना चाहिये। स्कन्द 2, 28/177.

जो मनुष्य अपनी वाणियों के द्वारा साधु पुरूषों के मर्म स्थलों को पीडा देता हुआ उनका निकृन्तन किया करता है, नरकगामी होता है। वामन 1, 9/156.

सत्पुरूषों की बुराई करने वाला व चुगली खाने वाला भी नरकगामी होता है। वामन 1, 10/156.

जो कूट सत्यभाषी हैं, अर्थात ऐसा सत्य बोलने वाले हैं, जिसका अर्थ किसी की समझ में न आवे– पापी हैं। वामन 1, 38.

वाणी के द्वारा क्षत हुआ तथा परशु के द्वारा हनन हुआ व्रण पुनः भर जाता है। किन्तु वाणी के द्वारा पुष्ट एवं वीभत्स वचन से होने वाला क्षत फिर कभी नही भरा करता है। वामन 2, 7/21.

वामन–1 में वर्णित किया गया है कि मौन रहना उत्तम है किन्तु मिथ्या वचन बोलना कभी भी अच्छा नही है। अतः मिथ्या वचन नही कहना चाहिये। वामन 1, 6/109.

'वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तम् यदनृतम्'

अज्ञान, असूया, अशौच, अशुभ कहना व करना तथा असत्य बोलना पापकर्म है। वामन 2, 15/111.

जो पुरूष इन्द्रियों को जीतकर, समय के अनुसार हितकारी, अल्प और प्रिय वचन कहता है, वह लज्जावान–क्षमावान, आस्तिक और विनयशील होता है। वह विद्वान और कुलीन पुरूषों के योग्य श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होता है। विष्णु 1, 35/439.

अपने दोषों का आच्छादन करना तथा पराये दोषों को प्रकाश में लाना, दुष्ट वाणी का मुख से निकालना, वेकित्वतालवादिता, वाणी से भी अधर्म से उत्पन्न होने वाले का नाम लेना – यह सब नरक देने वाले हैं। वामन 2, 23–24/112.

सदा सच्चाई के द्वारा परम पवित्र वचन ही बोलने चाहियें एवं मन से खूब विचार कर जिसे पवित्र समझें, उसे ही करना चाहिये। वामन 1, 7/46.

जो अपने से बड़ों की निन्दा किया करते हैं, या बड़ों की निन्दा को सादर श्रवण करते हैं, उनके कानों में लोहे की गर्म कीलों को यमपुर में ठोका जाता है। नारद 1, 77/318.

इस प्रकार ज्ञानी पुरूष का कर्तव्य है कि वह उसी प्रकार का सत्य बोले, जिसमें दूसरों को सुख मिले। यदि किसी सत्य वाक्य से दूसरों का अहित होता है, तो मौन ही रहना उचित है। यदि प्रिय वाक्य भी हितकारी न हो तो उसे भी न कहें। केवल हित करने वाला वाक्य ही हो, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। विष्णु 1, 43–44/440.

द्वेषियों से भी कभी कटु एवं अप्रिय वचन नही बोलने चाहिये। जो सर्वदा प्रिय वचन ही बोलते हैं, वे साक्षात देवता के समान होते हैं। अपनी समृद्धि की दशा में घमण्ड़ नही करना चाहिये। दूसरों की वृद्धि में डाह का भाव नही रखना चाहिये। महान आत्मा वालों का व्रत यही होता है कि वे उचित एवं अनुचित का विचार कर जो उचित होता है, उसे किया करते हैं। अग्नि 1, 15–22/436.

आप्त वक्ता के गुण

बिना पूछे हुए किसी से भी कुछ नही बोलना चाहिये और यदि कोई अन्यायपूर्वक पूछे तो भी कुछ नही बोलना चाहिये। जो मेधावी पुरूष होता है, वह सभी कुछ का ज्ञान रखता है। किन्तु सब जानते हुए भी उसे इस लोक में जड़ पुरूष की भॉंति आचरण करना चाहिये। जो अधर्म से युक्त कुछ पूछता है, उन दोनों में से अन्यवर नष्ट होता है अथवा विद्वेष को प्राप्त होता है। भविष्य 1, 37–38/79.

प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से अर्थात मुँह के सामने और पीठ पीछे भी किसी के प्रति अप्रिय वचनों का प्रयोग नही करना चाहिये। वेद शास्त्र, राजा, ऋषि, देवता की निन्दा न करें। अग्नि 1, 28/290.

व्यक्ति को अपने वचन का पालन अवश्य करना चाहिये। वचन से पीछे हटने को पद्म पुराण में पापकर्म बताया गया है–

जो कोई शूद्र किसी कपिल गाय का वध करने की बुद्धि से अनुपालन करता है, उसको जो पाप होता है, वही पाप मुझे भी लगे, यदि मेरा कहा वचन झूठा हो जावे। पद्म 2, 51/172.

आज्ञाकारिता

जो अतीव उद्यत पुरूष अपने माता–पिता और गुरूओं की अवज्ञा करता है, नरकगामी होता है। वामन 1, 11/156.

अभय

जो धर्म के स्वभाव वाला हो, जितमान, शेषरहित, विद्या से विनय युक्त, दूसरों को ताप न देने वाला, अपनी स्त्री में संतुष्ट, परायी स्त्री का त्याग करने वाला जो पुरूष है, उस पुरूष को लोक में कहीं कुछ भी भय नही होता है। वामन 2, 29/187.

स्थित प्रज्ञता

जो अपने चित्त में परम् शान्त रहा करते हैं, उनके चित्त में शान्तिप्रिय भगवान स्वयं ही प्रकट हो जाया करते हैं। नारद 1, 5/206.

ज्ञान में परम परायण होकर समाहित होते हुए तुम जो कुछ भी कर्म करते हो, उसे करो। सुख और दुःख को समान समझकर निरन्तर सुखी बनो। स्कन्द 1, 43/86.

मान और अपमान ये दोनों विष तथा अमृत बताये गये हैं। इनमें जो अपमान होता है, वह अमृत होता है, और सम्मान विष कहा जाता है। लिंग 2, 4/45.

जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। उन्नति का पतन भी निश्चित है। संयोग से वियोग और संचय से ही व्यय होता है। ऐसा समझकर हर्ष, शोक न करके बुद्धिमान पुरूष दूसरों के लिये भी अनुकरणीय बन जाते हैं। विष्णु 1, 87-88/348.

पुत्र, मित्र, कलत्र के लिये तथा निर्गम हो जाने पर प्राप्त पुरूष को कभी विषाद नही करना चाहिये। वामन 2, 47/304.

सज्जनता

सतां कोपो हि दुःसह —नारद 1, 112/161.

सज्जनों का कोप परम् दुःसह हुआ करता है। साधु पुरूष सर्वदा परोपकार करने में परायण ही रहा करते हैं और क्षमा-भाव ही उनका सार हुआ करता है। साधु पुरूष दुर्जन प्राणियों पर भी उनके कल्याण के लिये ही दया किया करते हैं। साधु पुरूष को भले ही कोई अपनी दुष्ट वृत्ति से पीड़ा भी देदे, तो भी वे सदा सबको सुख ही दिया करते हैं। फाड़कर और चीरकर प्राप्त किया गया भी चन्दन अपनी सुन्दर सुगन्ध सर्वत्र फैलाया करता है, वैसी ही दशा साधु पुरूषों की हुआ करती है। नारद 1, 122-25/164

जिस स्थल पर सज्जन पुरूषों का प्रवेश होता है, वहाँ पर दुख विशेष जोर नही करता है क्योंकि ज्ञान के सूर्य के सामने अज्ञान से समुत्पन्न अन्धकार नही रहने पाता है।

सहनशक्ति, दया, सुहृदयता, उदासीनता और शान्ति परोपकारी साधुओं के लिये आभूषण स्वरूप है। नारद 1, 71/140.

उन अच्युत भगवान को प्रसन्न करने में विशेष परिश्रम भी नही करना होता, क्योंकि वे सब जीवादि में सर्वत्र विद्यमान हैं। उनकी प्राप्ति का विशेष उपाय तो प्राणिमात्र में अपनत्व भाव रखना ही है। ब्रह्मांड 1, 4/315.

जमदाग्नि द्वारा परशुराम को कार्तवीर्य का हनन या पृथ्वी को 21 बार क्षत्रिय विहीन करने की प्रतिज्ञा करने पर यह शिक्षा दी गई–

साधुजन कभी भी किसी पर प्रकोप नही किया करते हैं। चाहे कोई उनको प्रताडित या निहत भी क्यों न करे, वे कुपित नही हुआ करते हैं। (9) जो महाभाग क्षमा को ही धन मानने वाले हैं तथा परम् दानशील और तपस्वी होते हैं, उन साधुकर्म करने वालो के लिये निरन्तर लोक अक्षय होते हैं। 10/240

परशुराम ने इस पर उत्तर दिया– हे महाप्राज्ञ तात ! अब आप मेरी विज्ञप्ति का श्रवण कीजिये। आपने जो शाम बताया है, वह महान आत्मा वाले साधु पुरूषों का है। वह शाम साधु पुरूषों के प्रति दीन–जनों पर और ईश्वर की भावना से संयुक्त गुरूजनों में ही करना चाहिये। जो दुष्टजन हैं, उनमें किया हुआ शाम कभी भी सुख देने वाला नही हुआ करता है। ब्रह्मांड 1, 15–16/241.

असूया–परित्याग

असूया का सर्वथा परित्याग करना चाहिये, क्योंकि जिसके हृदय में असूया आदि लांछन लग जाया करता है, उसका सम्पूर्ण् सौभाग्य क्षीण होने लगता है। वह फिर समस्त प्राणियों से द्वेष भाव रखने लगता है। फिर धीरे–धीरे उसके शुभ कर्मो का विनाश होने लगता है। नारद 1, 28/131.

जिसके मित्र संतान, घर–खेत, धन–धान्य और पशु आदि का विनाश निकट में होने वाला होता है, वही मनुष्य असूया का भाव मन में करने लगता है। नारद 1, 22/131.

दूसरों की लक्ष्मी से अपने हृदय में संताप करने वाले और केवल दम्भ के लिये ही सदाचार का प्रदर्शन करने वालों से भगवान दूर रहा करते हैं। नारद 1, 15/80.

जिस प्राणी के हृदय में ईर्ष्या और असूया की भावना संवृद होकर भर जावे, उसके पास कितनी अधिक संपत्ति क्यों न हो, वह वायु के संयोग से तुषा को प्राप्त अग्नि के समान अति ही शीघ्र विनष्ट हो जाती है। नारद 1, 17/129.

जिसके मन में कुढ़न होती है और रात–दिन दूसरों को देखकर जलते रहते हैं। उनके दान और भक्ति आदि समस्त कर्म निष्फल ही समझने चाहियें। यह निश्चय ही समझो कि वे अन्तर्यामी भगवान ऐसें प्राणियों से बहुत ही दूर रहा करते हैं। नारद 1, 14/79.

जिनको दूसरों की उन्नति से प्रसन्नता होती है अर्थात् जो दूसरों का अभ्युदय देखकर हार्दिक अभिनन्दन किया करते हैं, वही असूया–मुक्त हैं।

यह मात्सर्य सर्वनाश करने वाला है और यह धर्म का नाश करने वाला ही होता है। अन्य की उन्नति देखकर दिल में निस्वार्थ ही जो जलन होती है, उसी को मात्सर्य कहा जाता है। जो प्राणी मात्सर्य से संयुक्त होता है, वह मुझको कहीं पर भी नही देखा करता है। अर्थात उसको कभी मेरा दर्शन प्राप्त नही होता है, भले ही बहुत से कर्मों से समायुक्त होवें, चाहे दान और अध्ययन में भी निष्ठा रखने वाले रहें। चाहे तप से और ज्ञान से युक्त होवें और नित्य ही कर्मों में प्रणत रहें। इस स्वभाव से यदि वे मात्सर्य किया करते हैं, वे मेरा दर्शन कभी प्राप्त नही करते हैं, क्योंकि वे माया से परिदूषित हुआ करते हैं। नारद 1, 25–27/281.

सच्ची भक्ति

स्वास्थ्य, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञन, कृपणता का अभाव, आयास न करना, दया, अहिंसा, क्षमा आदि इंद्रियों को जप करना, शौच और मांगल्य यह भक्ति कही जाती है। वामन 1, 23/149.

समस्त प्राणियों का हित–चिन्तन करने वाले, असूया व मात्सर्य दोष से पूर्णतया रहित, श्रम परायण, इच्छा–रहित, मनसा–वाचा–कर्मणा `दूसरों को कभी भी पीड़ा न देने वाले, सत्वगुणी बुद्धि वाले, माता–पिता को ईश्वर मानकर सेवा करने वाले, भूलकर भी किसी की निन्दा न करने वाले भक्त होते हैं। नारद 1, 6/106.

जो मनुष्य प्राणीमात्र को अपने ही समान समझकर वैसा ही व्यवहार करते हैं, तथा शत्रु–मित्र का भाव जिनके ह्रदय में कभी नही रहता है, उनकी दृष्टि में शत्रु हो या मित्र एक ही समान होते हैं और कभी भी किसी से राग–द्वेष का भाव नही रखते, उनकी भक्ति परम् श्रेष्ठ समझनी चाहिये। नारद 1, 57/107.

जो सदा सबसे हित की ही चर्चा किया करते हैं तथा जो प्राणियों का आदर–सत्कार करने वाले होकर गुणों का ग्रहण किया करते हैं, वे लोग भगवद्–भक्त कहे जाया करते हैं। नारद 1, 56/107.

इंद्रिय, जप, शान्ति, दया, श्रुत, भाव, सत्य– इन आठ प्रकार के पुष्पों द्वारा देवता का यजनार्चन कर मानव भोगों के सुख और मुक्ति दोनों को प्राप्त किया करता है।

'अहिंसा' यह सबसे प्रथम एवं श्रेष्ठ पुष्प होता है। इसके अनन्तर इंद्रियों को संयम में रखना यह पुष्प है, जिसकी देवार्चन करने के समय नितान्त आवश्यकता होती है। प्राणिमात्र पर दया रखना– यह सर्वश्रेष्ठ पुष्प है। शान्ति को पूर्णतया ह्रदय में रखना– यह भी एक विशेष प्रकार का पुष्प है जो कि देवता का अर्चन करेन के समय में याजक को ह्रदय में रखना बहुत ही जरूरी है। शम, तप, और ध्यान– ये भी परमश्रेष्ठ एवं अत्यावश्यक पुष्प के समान होते हैं। सत्य– यह आठवां पुष्प होता है। इन आठ

प्रकार के भाव स्वरूप पुष्पों से अर्जित हरि निश्चय ही संतुष्ट एवं प्रसन्न हुआ करते हैं। अन्य पुष्प तो यहाँ अर्चन में बाह्य होते हैं। परम मुख्य पुष्प जो यह आन्तरिक पुष्प ही होते हैं।

जो मनुष्य मेरी पूजा तो करता है, किन्तु मुझे सर्वज्ञ नही मानता, उसकी वह पूजा एक विडम्बना ही समझें। बाह्य क्रियाओं द्वारा तब तक मेरा पूजन करें, जब तक कि प्राणी मात्र में स्थित मुझ ईश्वर का अनुभव न हो। वराह 2, 12/147.

जो शीत, उष्ण, बात और वर्षा आदि भूख–प्यास आदि को सहन करने वाला है। जो दरिद्र है, आलस्य से रहित है, सत्य वाणी वाला और असूया अर्थात निन्दा करने वाला नही है, जो नित्य ही दारा में निरत रहता है और परायी दाराओं का विशेष रूप से वर्णन कर देने वाला है। सत्य बोलने वाला, विशुद्ध आत्मा वाला और नित्य ही भगवान से प्यार करने वाला है। जो मेरे कर्मों में तत्पर रहने वाला वि–योनि में गमन नही करता है, क्योंकि वह सर्वदा जीवों की हिंसा से निवृत्त होता है और समस्त प्राणियों के हित में लगा रहने वाला तथा शूचि होता है, वह सर्वत्र समता संयुक्त होता है और वह मिट्टी का ढ़ेला और सुवर्ण को भी एक समान ही देखता अर्थात उन दोनों में कुछ भी तारतम्य उसकी दृष्टि में नही हुआ करता है। बचपन की अवस्था में भी स्थित रहता हुआ परम शान्त, दमनशील और शुभ कार्य में रति रखने वाला होता है। जो बचपन स्वाभाविक रूप से चंचलता से परिपूर्ण हुआ करता है। किसी में दूसरे के द्वारा अपकार किया हुआ होकर भी वह नित्य ही उसका कुछ भी ध्यान रखता है, वह तो सब मेरे प्रति जो भी कर्तव्य है, उसका ही स्मरण किया करता है और सदा सत्य भाषण करता है। व्यलीक अर्थात अनृत से वह विशेष रूप से निवृत्त रहता है तथा जो सबको तथ्य ही है– ऐसा निश्चय करने वाला होता है। वह नित्य ही साधु वृत्ति वाला होता है तथा किसी के परोरू में भी उस पर कोई आक्षेप नही किया करता है। वराह 2, 4–10/16–17.

निस्पृहता

जो सभी प्रकार के राग–द्वेष से रहित है, जो ज्ञान से सुसंपन्न है, जो माया को छोड़ देने वाले हैं और जो नित्य ही आनन्दस्वरूप हैं, वे धन को ग्रहण करके भी क्या सिद्ध करेंगे? नारद 1, 119/228.

समस्त प्राणियों को अपने ही समान देखने वाले और परम् शान्त चित्त वाले के लिये तो अपने से सभी अभिन्न हैं तो फिर कौन देने वाला है और दिया भी क्या जा सकता है? नारद 1, 120/228.

यह शरीर हड्डी, मांस, त्वचा व रक्त आदि से भरा हुआ है, इसके प्रति किंचित भी मोह न करें, परन्तु उसी शरीर के प्रति हमारा मोह बढ़ा हुआ है।

त्वगस्थिमांस संघातेपूयशोणितपूरिते।
कर्तत्यानरतिर्यत्रतत्रास्माकंमियंरतिः।। – मार्कण्डेय 1, 57/92.

लोभ से मोह उत्पन्न होता है और मोह स्मृति को नष्ट कर देता है, स्मृति के नष्ट होने से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट हो जाती है तो मृत्यु हो जाती है।

लोभादभवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रशाद्वद्विनाशोबुद्धिन शात्प्रणश्यति।। – मार्कण्डेय 1, 72/93.

अशोक

शोक बहुत ही बुरी वस्तु है, इससे श्रुत धर्म, बल, धैर्य, सुख एवं उत्साह– इन सबका हरण हो जाया करता है, अर्थात शोक से ये सब नष्ट हो जाते हैं। अतएव शोक का परित्याग कर देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शोक कभी भी न करें। पद्म 1, 2/141.

जो धैर्यशाली महान पुरूष हुआ करते हैं, वे हानि होने पर बहुत दुख नही किया करते हैं। यह शोक बहुत ही बुरा होता है जो कि समस्त इंद्रियों का परिपोषण करने

वाला है। शोक तो निश्चय ही लौकिक एवं पारलौकिक प्रयोजनों का एकमात्र अवरोधक होता है। ब्रह्म 1, 22–24/229.

इस संसार में जो भी वस्तु अतिक्रान्त हो गई है अर्थात जो प्राणी देह का त्याग कर चल बसा है, उसका फिर यहाँ उसी रूप में आगमन कभी भी नही होता है। इस कारण से जो कुछ भी व्यतीत हो गया है, उन सबका त्याग करके आयें, जो भी करने योग्य कृत्य हैं, उनका परिचिन्तन करिये। ब्रह्मांड 1, 26/229.

उद्यमशीलता व दृढ़ता

वह कार्य साध्य हो या असाध्य, दृढ़तर उद्योगी पुरूष देवत्व अथवा इन्द्रत्व के पूज्य भाव को भी प्राप्त कर सकते हैं।

दृढ़ पुरूष ही मनवांछित फल पा सकते हैं, स्वर्ग से भी अविज्ञात, अगम्य और अवात्य कोई वस्तु नही है। मन, आत्मा और इंद्रिय को वश में करने वाले पुरूष मनोरथ को प्राप्त कर लेते हैं। – मार्कण्डेय 1, कुवलयास्व उपाख्यान, 36–37/253.

पुरुषार्थ

सब कार्यों में मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये, यदि पुरुषार्थ न किया जाये तो साधु जनों के समक्ष निन्दनीय होना होता है।

द्विजाकिंवानियत्नेनमार्यन्ते कर्मभिः स्वेकेः।
रक्ष्यन्ते चाखिलाजीवायधेतेपक्षिबालका।। मार्कण्डेय 1, 62/82.

जो व्यक्ति पिता की उपार्जित सम्पत्ति के भरोसे सुख प्राप्त करता है, आपत्ति में पड़ जाने पर पिता द्वारा छुटकारा पाता है और पिता की कीर्ति के आधार पर ही प्रसिद्ध होता है, उसका कुछ भी महत्व समझना व्यर्थ है। जो अपने स्वयं पुरूषार्थ द्वारा वैभव प्राप्त करता है, स्वयं नाम कमाता है और स्वयं ही आपत्तियों से छुटकारा पाने में समर्थ है, वही सच्चा पुरूष है। मार्कण्डेय 2, मरुत्त चरित्र 1, 27–30/406.

यदि दैव प्रतिकूल भी होता है तो उसका पौरूष के द्वारा हनन हो जाया करता है। ऐसा देखा जाता है कि जो मंगल आचार से युक्त और नित्य ही उत्थानशाली लोग होते हैं, वे पौरूष से प्रतिकूल दैव को विनष्ट कर देते हैं। जो आलसी नर होते हैं और वे केवल दैव को ही मानने में परायण होते हैं, वे लोग अर्थों की प्राप्ति नही किया करते हैं। इसलिये सभी प्रकार के प्रयत्नों से उत्तम धर्म का समाचरण करना चाहिये। यह लक्ष्मी अलस दैव–परायण मनुष्यों को त्याग करके उत्थान से युक्त पुरूषों को ही खोज करके यत्नपूर्वक वरण किया करती है। इसी कारण से मंनुष्य को सदा उत्थान वाला ही होना चाहिये। मत्स्य 2, 9–12/304–306.

आश्रितों का भरण–पोषण

पाल्यों व आश्रितों का भरण–पोषण भी गृहस्थ जीवन में एक व्यक्ति का आवश्यक दायित्व माना गया है। इस विषय में पुराणकार कहता है–

उस पुरूष का परम प्रशस्त जीवन होता है, जिसके सहारे बहुतों का उपजीवन होता है। जो अपने ही उदर को भरते हुए जीवन बिताते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मृतक के समान हैं। अपने पेट को तो कुत्ता भी किसी प्रकार भर लिया करता है। अतएव पोष्य वर्ग का भरण–पोषण यत्नपूर्वक करें। मार्कण्डेय 2, 70–82/128–129,

तीसरे भाग (गृहस्थ) में, पोष्य वर्ग के अर्थ का साधन करें, जैसे– माता–पिता–गुरू–भ्राता–प्रजा–दीन और आश्रय में रहने वाले हों। अभ्यागत, अतिथि और अग्नि– ये सब पोष्य कहे गये हैं। पोष्य वर्ग का भरण–पोषण करना परम प्रशस्त और स्वर्ग का साधन है। मार्कण्डेय 2, मरूत्त चरित्र 4, 25/421.

आचार मीमांसा

लगभग सभी पुराणों में सदाचार के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। व्यक्ति के क्या कर्तव्य हैं, तथा क्या अकर्तव्य, उचित–अनुचित, भद्र व अभद्र व्यवहार आदि अनेक

ढ़ंग से सदाचार के संबंध में पुराणों में उल्लेख मिलते हैं। यहाँ संक्षेप में सदाचार के अर्थ, महत्व व नियमों का उल्लेख किया जा रहा है।

अर्थ

जिस देश में जो परम्परा के क्रम से चला आया आचार होता है अर्थात अन्तराल सहित वर्णों का आचार है, वही सदाचार कहा जाता है। विष्णु 1, 30/186.

सत् शब्द का अर्थ साधु होता है और दोष रहित को ही साधु कहते हैं। उस साधु पुरूष का आचरण ही सदाचार कहा गया है। विष्णु 1, 3/416.

मनुष्यों को यश, कीर्ति देने वाला एवं तेज, बलवर्धन करने वाला यह सदाचरण होता है। विष्णु 2, 16/304.

महत्व

इस सदाचार रूपी वृक्ष का मूल तो धर्म है। धन इसकी शाखायें हैं, पुष्प इसकी कामनायें हैं और मोक्ष इसका फल है। वामन 1, 19/178.

समस्त प्राणियों के मंगल मे मग्न, पाखण्ड और असूया से रहित, राग व मत्सरता से रहित, सत्कर्मो में परायण, दूसरों की निन्दा से दूर, संयमी, परस्त्रीगमन से मुक्त, इन्द्रियों में नियन्त्रण में रखने वाले ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं। नारद 1, 113–117/282.

जो मनुष्य आचार से भ्रष्ट होता है, उसकी रक्षा पवित्र तीर्थ–स्थल, पवित्र तीर्थो का सेवन और विविध प्रकार के यज्ञों का यज्ञन भी नही कर सकते हैं। आचार से ही परम् सुख की प्राप्ति हुआ करती है, आचार से ही मोक्ष प्राप्त होता है और ऐसी कौनसी बात है जो सदाचार से प्राप्त नही हो सकती है अर्थात सभी कुछ मिल जाता है। नारद 1, 26–27/82

जो सदाचार का सम्पूर्ण पालन करके यज्ञ, दान और तपश्चर्या किया करता है, उसके कल्याण के लिये ये कभी नही हुआ करते हैं। दूषित आचरण वाला पुरूष न तो

कभी यहाँ आनन्द प्राप्त कर सकता है और न उसे परलोक में ही सुख व कल्याण की प्राप्ति हो होती है, अतएव सदाचार में पूर्ण यत्न करना चाहिये। यह सदाचार बुरे लक्षणों का भी हनन कर देता है। वामन 1, 16–17/177.

सदाचार के पूर्णतया पालन करने से नर को सुख उत्पन्न होता है। जो आचार का पालन न कर अनाचार किया करते हैं वे महान पाप किया करते हैं और फिर इसका परिणाम यह होता है कि निश्चय ही उसका नाश हो जाया करता है। दूषित दुराचरण के करने से मनुष्य महान क्रूर योनि में जन्म ग्रहण किया करता है, इसमें तनिक भी संशय नही है। सत्य से हीन कर्म से और महान पाप से मोहित होकर ही मनुष्य दुराचारी हो जाया करता है। पद्म 1, भूमि खंड 2, 5–6/430.

कर्तव्य

निःशंक होकर वही कार्य करना चाहिये जो महाजनों के द्वारा छिपाने योग्य न हो। विष्णु 2, 164/304.

सत्य, दया, तपस्या, शौच, वितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, संतोष, समदृष्टि, सेवा, धीरे–धीरे प्रवृत्ति से निवृत्ति, निष्फल कर्मों पर विचार, मौन आत्मानुसंधान, अन्न में, भगवान प्रदान, सब प्राणियों में ईश्वर की व्यापकता, सब मनुष्यों को देवरूप मानना, प्रभु कीर्तन करना आदि पवित्र कर्म हैं। श्रीमद0, 11 वां अध्याय, पेज 327.

जो कोई ब्रह्मचर्य पालन करने वाला, परम शुचि, क्रोध को जीतने वाला और इंद्रियों को वश में रखने वाला होकर सभी की हिंसा से निवृत्त, समस्त प्राणियों के हित में रति रखने वाला, भगवान शिव में ही समाचरण करते हुए अपने प्राणों को परित्याग किया करता है। मत्स्य 2, 26/165.

अकर्तव्य

किसी के किंचितमात्र का धन का अपहरण या स्वल्प रूप में भी अप्रिय भाषण न करें। मिथ्या वचन प्रिय हो तो भी न बोलें और परदोषों को किसी से न कहें, परनारी में प्रीति न करें, किसी के साथ बैर करने में रूचि न रखें, निन्दित सवारी पर न बैठें। सदा वट की छाया का आश्रय न लें। विष्णु 1, 4–5/435.

जो पुरूष क्रोध में भरे हुए के क्रोध को शान्त करने वाला, डरे हुए को सान्तवना देने वाला, मत्सरता रहित, सभी का बन्धु एवं साधु स्वभाव है, जो इन्द्रियों को वश में करके दोष प्राप्ति के सभी साधनों का त्याग करता है, जो पापी के प्रति भी पापमय व्यवहार नही करता, जो विद्या, विनय, सदाचार और ज्ञान से सम्पन्न है तथा अपना अन्तःकरण मित्रता से द्रवीभूत रहने के कारण जो कुटिल पुरूष से भी प्रियभाषण करता है, जो रागादि से विरत, काम, क्रोध और लोभादि के वश में न पड़कर सदैव सदाचार में लिप्त रहता है, पृथ्वी ऐसे ही पुरूषों से टिकी है तथा मोक्ष सदैव उनके हाथ में है। विष्णु 1, 37–42/440.

झूठी गवाही देना, झूठ बोलना, कामी होना, वृथा मांस–भक्षण पापकर्म हैं। नारद 1, 3/323–24.

पर स्त्री का सेवन करने वाले, अपनी पत्नी का त्याग करने वाले, मार्ग, तड़ाग और उपवनों को नष्ट करने वाले पापी होते है।

परदारास्ताश्चैवस्वदारपरिवर्जिनः।
मार्ग भंगकरायेचतडागानामभेदकाः।। – मार्कण्डेय 1, 5/212.

दूसरों की निन्दा कभी नही करनी चाहिये। यदि किसी में कोई दोष भी हो तो भी उनको कभी अपने मुख से नही करें और कभी हिंसा भी नही करनी चाहिये। पिशुनता अर्थात चुगली कभी भी न करें तथा किसी भी अवसर में चोरी न करनी चाहिये। सुवर्ण आदि रत्न, और यौवन में स्थित कामिनी, इनमें कभी भी अपने चित्त को संलग्न न करें

अर्थात इन पर चित्त में कभी ध्यान नही लाना चाहिये। दूसरे पुरूषों के सौभाग्य को देखकर तथा अपना व्यसन देखकर उसमें कभी क्रोध नही करना चाहिये। मार्कण्डेय 1, 28–29/91–92.

वायु पुराण–2 में कहा गया है कि जो जीव असत्य भाषण करने वाले हैं और स्त्री तथा बालकों का घात करने वाले हैं तथा ब्राह्मणों का हनन करने वाले और जो पापी विश्वास का घात करने वाले हैं, जो भी शठ हैं, किये हुए उपकार का हनन करने वाले, लोलुप और पराई दाराओं का सेवन करने वाले हैं, जो कन्याओं को दूषित करने वाले तथा सदा ही पाप कर्मों में निरत हैं, जो द्विज सुरा का पान करने वाले, ब्राह्मण का हनन करने वाला और वीर–घातक है, जो माता और पिता का त्याग करने वाले हैं तथा जो अपनी साध्वी स्त्री का त्याग करने वाला है, जो गुरूदेव से द्वेष रखने वाला, बुरे आचार वाला है तथा जो दूत होकर अव्यक्त भाषी है, जो किसी के क्षेत्र और गृह को हरण करने वाले हैं, जो सोम को बेचने वाले, स्त्रियों के द्वारा जीते हुए और सभी कुछ का विक्रय करने वाले हैं, वे पापी हैं।

भद्र व्यवहार

जो मनुष्य किसी भी अनाथ शव का दाह कर दिया करता है, उसे एक सहस्त्र अश्वमेघ यज्ञों को करने का पुण्य प्राप्त होता है। नारद 1, 120/281.

पहले अतिथि, फिर घर पर आयी विवाहिता पुत्री, रोगिणी, गर्भिणी, वृद्ध, बालक को भोजन करायें, फिर स्वयं भोजन करें। विष्णु 1, 19/426.

गुरू के उपदेश से युक्त वृद्ध और क्रमवर्ती जो मानव हैं, उनके समागत होने पर अभ्युत्थान आदि देकर उन्हें प्रणाम करना चाहिये। अन्य जो भी ज्येष्ठ हों, उन्हें भली–भॉति जानते हुए सब की वन्दना करनी चाहिये। यदि अपूर्व उत्तम सिद्धि की चाह हो तो बड़ों की आज्ञा का भंग कभी नही करना चाहिये। विष्णु 1, 33–35/50.

अभद्र व्यवहार

एक ही पंक्ति में बैठे लोगों को भेद करते हुए विषम तरीके से भोजन देना बुरा कर्म है। देवता, अतिथि, भृत्य, बालक, पितृ, अग्नि, माता, इनसे पूर्व भोजन न करें। वामन 1, 12–13/156.

सहयात्री व याचक के भोजन का संविभाग करके वितरण करें। मित्र की पत्नी, माता, ज्येष्ठ भाई, पिता, बहिन, गुरू वर्ग और वृद्ध .का पैर से स्पर्श करना पापकर्म है। वामन 1, 18–19/21

पिता, गुरू, भूपति, पति और पत्नी जब एक ही आसन पर संस्थित होकर संयुक्त होंवे, और साथ में निरत होवें, उस समय में सुख भंग नही करना चाहिये। ब्रह्म 1, 42/337.

परायी स्त्री के श्रोणि, वक्ष और मुख को कुदृष्टि से देखना, चाहे वह माता हो, बहन हो या पुत्री, अत्यन्त अधम कर्म है। ब्रह्मांड 1, 46/337.

अपने नखों से भूमि पर लिखना भी नही चाहिये और पृथ्वी पर शयन नही करना चाहिये। बिल्कुल नंगा होकर अंग गाहन नही करना चाहिये। अग्नि को भी पद गमन न करें। सर्पों से और शस्त्रों से कभी क्रीड़ा न करें। ये रोम रहस्य हैं। अशिष्ट पुरूष के साथ कहीं पर भी गमन नही करें। हाथ–पैरों में और अग्नि में चपलता के कर्म नही करें। पवित्र वस्तुओं व पूज्य व्यक्तियों के सम्मुख थूकना, मार्ग में या खड़े होकर मूत्र त्याग करना अभद्रता है। गीले बालों को झाड़ना, पैर पर पैर रखना, गुरूजनों के सामने पैर पसारना, उच्चासन पर बैठना भी अभद्रता है। कूर्म 2, 56–60/168.

पुराणों में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप

पुराण के मूल विषयों का प्रतिपादन अध्याय दो में किया जा चुका है। सामान्य जनता को वैदिक तत्त्वों तथा क्रियाकलापों का लोकदृष्ट्या प्रतिपादन करना पुराण का अपना तात्पर्य था। इस तात्पर्य के अनुकूल, परिवर्तित अवस्थाओं में, नये–नये विषयों का भी सन्निवेश कालान्तर में पुराणों में किया गया। यह लोक मर्यादा के निर्वाह की व्यापक दृष्टि से किया गया। स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड़ं में (49, 198) में इसी तथ्य का यह सारवान् कथन उपलब्ध होता है–

"इतिहास–पुराणानि भिद्यान्ते लोकगौरवात्।"

लोक गौरव से इतिहास तथा पुराण भिन्न होते जाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार नूतन विषयों का सन्निवेश पुराणों में किया जाने लगा। अन विषयों की सूचना वायुपुराण 104–11–17 में बड़ी सुन्दरता से मिलती है।

पुराणेष्वेषु बहवो धर्मास्ते विनिरुपिताः ।
रागिनां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
गृहस्थानां वनस्थानां स्त्रीशूद्राणां विशेषतः ।। 12 ।।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां ये च संकरजातयः ।
गङ्गाद्या या महानद्यो यज्ञव्रततपांसि च।।
अनेकविधदानानि यमाश्च नियमैः सह् ।
योगधर्मा बहुविधाः सांख्या भागवतास्थता।।
भक्तिमार्गा ज्ञानमार्गा वैराग्यानिलनीरजाः।
उपासनविधिश्चोक्तः कर्मसंशुद्धिचेतसाम्।।
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च सौरं शाक्तं तथाऽऽर्हतम्।
षड्दर्शनानि चोक्तानि स्वभावनियताानि च ।। 16 ।।

–वायुपुराण, अध्याय 104

नवीन विषय ये हैं– वर्णाश्रम का धर्म, षोडश संस्कार (मुख्यतः श्राद्ध), व्रतोपासना, दान, पूजा, दीक्षा, राजधर्म, तीर्थ माहात्म्य, वैदिक साहित्य का विवरण, शैव–वैष्णव शाक्त धारा के दार्शनिक तथा उपासना तत्त्व, आयुर्वेद तथा रत्न परीक्षा। इनका समावेश

प्रतिपुराण में नहीं है, परन्तु आवश्यकता तथा रूचि के अनुसार पुराण के कर्ताओं ने तत्तत् पुराण में इनका सन्निवेश कर उन्हें लोकोपयोगी तथा सामयिक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। पुराण की उपादेयता का रहस्य इस नवीन आवृति तथा विषयपरिवृहण के भीतर छिपा है। समयानुसार तथा स्थित्यनुकूल इस परिवर्तन की घटना को मानना पुराण की प्रकृति से सर्वथा साम्य रखता है।

मूलतः वेदव्यास ने प्रथम पुराण–संहिता का प्रणयन किया था। उन्होने दोनों संहिताओं की रचना प्रायः एक ही काल में की थी– इतिहास विषय में– जयसंहिता (महाभारत संहिता का मूल रूप) तथा पुराण विषय में पुराण–संहिता। तदन्तर उनके शिष्य लोमहर्षण ने तथा उनके शिष्यत्रय (अकृतव्रण, सावर्णि तथा शांसपायन) ने मिलकर चार पुराण–संहिताओं का संकलन किया था और इन्हीं पुराण–संहिताओं का विस्तार तथा विकास अष्टादश पुराणों के रूप में किया गया।

पुराणों में धर्मशास्त्रीय विषयों का समावेश कब किया गया? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्मशास्त्रीय विषय पुराणसंहिता के मौलिक वर्ण्य विषयों में से अन्यतम था। पूर्व परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि जयमंगला (कौटिल्य अर्थशास्त्र (1–5) की व्याख्या) में पुराण के पंचलक्षण में सृष्टि, प्रवृत्ति, संहार तथा मोक्ष के संग में धर्म को भी अन्यतम लक्षण मानती है, जिसका प्रतिपादन पुराणकर्ताओं को सर्वथा अभीष्ट था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचन भी इसी तथ्य के पोषक हैं। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि इससे भिन्न है। ये धर्मशास्त्रीय विषय– जैसे दान, तीर्थयात्रा, आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित आदि– को पुराण का अविभाज्य अंग नहीं मानते। जनता के भीतर वैदिक सिद्धान्त के प्रचार के निमित्त ही अवान्तर शताब्दियों में इन विषयों को पुराण में सम्मिलित कर लिया। इस विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य तथा नारदस्मृति का नाम मूल स्त्रोत के रूप में गृहीत किया जा सकता है। मनुस्मृति का रचनाकाल 200 ई0 पू0 –100 ई0 तक, याज्ञवल्क्य का रचनाकाल 100 ई0–300 ई0 तक तथा नारदस्मृति का रचनाकाल 100 ई0– 400 ई0 तक काणे महोदय ने अपने धर्मशास्त्र

के इतिहास में स्वीकार किया है। फलतः षष्ठ–सप्तम् शती से यह विषय पुराणों में सम्मिलित नहीं किया गया। अष्टम्–नवम् शती से इन विषयों का पुराण में समावेश करने का काल मानना सर्वथा न्याय्य तथा उचित प्रतीत होता है।

पौराणिक धर्म का वैशिष्ट्य

पौराणिक धर्म के मूल तत्त्व समस्त वैदिक ही हैं। केवल परिवर्तित स्थिति की आवश्यकता पूर्ण करने के लिये कतिपय प्राचीन विषयों का परिहार किया गया है और कतिपय नवीन विषयों का ग्रहण। वैदिक युग में कर्मकांड पर विशेष आग्रह था; पौराणिक युग में भक्ति के ऊपर विशेष महत्त्व दिया गया। भगवान के हृदय से अविर्भूत होकर वेद पहले ऋषि, मुनि, ज्ञानी, कर्मी तथा भक्त लोगों के मानस में विचरण करने लगा। ब्राह्मण, क्षत्रियों और वैश्यों के अतिरिक्त अन्यान्य साधारण मनुष्यों को उनमें दीक्षित होकर जीवन की सार्थकता संपादन करने का अधिकार नहीं था। वेद की भाषा समझने की तथा वैदिक मंत्रों के तात्पर्य को हृदयंगम करने की योग्यता मानव–समाज में थोड़े ही लोगों में थी। दीक्षा तथा उपनयन से विरहित होने के कारण समाज के निम्न स्तर के लोग अपने जीवन को वेदमय बनाने से वंचित रह गये। इस कमी की पूर्ति महर्षि वेदव्यास तथा उनके शिष्य और प्रशिष्यों ने वेदरूपिणी सरस्वती को जनता के कल्याण के लिए, मानव समाज के ऊर्ध्व लोक से निम्न स्तर में लाने के लिए अपने को नियुक्त किया। इसी का सुभग परिणाम हुआ पुराणों की रचना। पुराण का उद्देश्य वेद के तत्त्वों को जनसाधारण तक पहुँचाना है। इसकी सिद्धि के लिये उसने सरल संस्कृत वाणी को अपना माध्यम बनाया है। केवल भारत के प्रान्तों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर अनेक द्वीप–दीपान्तर और देश–देशान्तरों में भी पुराणों ने भारतीय सनातन वैदिक विचारधारा, कर्मधारा और भावधारा को प्रवाहित किया है। पुराणों की कृपा से सनातन वेदों ने सभी श्रेणियों के नर–नारियों के जीवन को नियंत्रित करके परम् कल्याण, विमल प्रेम तथा विशुद्ध आनन्द के मार्ग में प्रवृत्त करने का अधिकार प्राप्त किया है।

पुराणों का प्रधान गौरव यह है कि वेद ने जिस परम् तत्त्व को ऋषियों के भी इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अप्राप्य देश में रख दिया था, पुराणों ने उसको सर्वसाधारण के इन्द्रिय, मन और बुद्धि के समीप लाकर रख दिया है।

वेदों के सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ने पुराणों में सौन्दर्यमूर्ति तथा पतितपावन भगवान के रूप में अपने को प्रकाशित किया है। वेदों ने घोषणा की है कि ब्रह्म सब प्रकार के नाम, रूप तथा भावों के परे है। पुराण कहते हैं– 'एक सत् प्रेम्णा बहुधा भवति।' पुराणों ने यह प्रतिपादित किया है कि एक ही परम् तत्त्व भगवान विभिन्न रूप और नामों में विचित्र शक्ति, सामर्थ्य तथा सौन्दर्य को प्रकट कर सम्पूर्ण संसार में लीला–विलास कर रहे हैं तथा प्रत्येक उपासक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में उसी भगवान की ही उपासना करके कृतार्थता प्राप्त करता है। इस प्रकार पुराणों ने सर्वातीत ब्रह्म को सबके बीच में लाकर, मनुष्य के भीतर देवत्व के बोध को तथा भगवत्ता की अनुभूति को जागरित कर दिया है। पुराणों में मानव जाति के इतिहास और विशेषतः भारत के प्राचीन इतिहास का वर्णन है। इस प्रकार पुराणों ने वैदिक तत्त्वों को रोचक रूप जन–साधारण के सामने रखने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। वैदिक धर्म को लोकप्रिय बनाने का श्रेय इन्हीं पुराणों को प्राप्त है।

वेद और पुराण की इस मौलिक एकता से अपरिचित होने वाले विद्वान ही वैदिक और पौराणिक इन दो विभिन्न धर्मो की चर्चा करते हैं। वेद और पुराण एक ही अभिन्न सनातन धर्म के भिन्न काल में आविर्भूत होने वाले विशिष्ट ग्रन्थ हैं। वैदिक संहिताओं में कर्मकांड का विशेष प्राबल्य हमें मिलता हैं। भक्ति की चर्चा केवल पुराणों में ही है, उपनिषदों में नहीं, यह कथन ठीक नहीं है। कठोपनिषद का स्पष्ट कथन है कि बिना ईश्वर की कृपा के ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्या और बुद्धि असकी प्राप्ति में नितान्त व्यर्थ है। भगवत्कृपा का यह तत्त्व कितने सुन्दर रूप से अभिव्यक्त किया गया है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुधा श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः; तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।
– (कठोपनिषद 1!2!23)

केनोपनिषद में कहा है कि ईश्वर भजनीय है, इस दृष्टि से उनकी उपासना करनी चाहिये– "तद्वनमिति उपासितव्यम्"

वरूण सूक्तों में भक्तो की भावना जिस मधुर रूप में व्यक्त की गई है, वह विद्वानों से अपरिचित नहीं है। इन प्रमाणों के रहते हुए भक्ति को पुराण–काल की नयी उपज मानना भ्रान्ति ही है।

1. स्वतंत्रता पोषक धर्म

प्रत्येक सत्यान्वेषी को यह स्पष्टतया विदित है कि हिन्दू धर्म का स्वरूप ईश्वर, आत्मा, सृष्टि एवं मानव–जीवन के ध्येय के संबंध में किसी वाद–विशेष को स्वीकार करना, किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं का अनुष्ठान तथा बाह्य आचारों का पालन एवं उपासना की विशिष्ट पद्धतियों का अनुसरण अथवा किसी खास पैगम्बर तथा ईश्वरीय दूत को बिना न–नु–न–च किए प्रमाण मानना नहीं है। इन सब प्रश्नों के विषय में हिन्दू धर्म मानवीय बुद्धि एवं ह्रदय दोनों को पूर्ण स्वतंत्रता देता है। ईश्वर को जगत् का कर्ता एवं नियन्ता न मानना, आत्मा को नित्य एवं चेतन तत्त्व स्वीकार न करना तथा मुक्ति को आत्मा की शाश्वत, आनन्दमय स्थिति अंगीकार न करना भी हिन्दूधर्म की दृष्टि में कोई अक्षम्य अपराध नहीं माना गया है।

मनुष्य स्वरूपतः सभी बन्धनों से मुक्त है और अपने स्वतंत्र पुरुषार्थ के बल से पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना ही उसके जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हिन्दूधर्म मानवीय आत्मा के निर्बाध विकास पर किसी प्रकार का निग्रहपूर्ण नियंत्रण नहीं लगाता; बल्कि वह प्रत्येक पुरूष, स्त्री एवं बच्चे की बुद्धि को अन्धकार से मुक्त करने की चेष्टा करता है, जिससे वह आदर्श स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अपनी अधिकृत स्वतंत्रता का समुचित

उपयोग कर सके। यह किसी को किन्हीं विशिष्ट मत, वादों, उपासना के प्रकारों अथवा बाह्य आचारों को ग्रहण करने के लिये बाध्य नहीं करता। इसके फलस्वरूप हिन्दूधर्म की सीमा के अन्दर हमें असंख्य सम्प्रदाय देखने को मिलते हैं, जिनके परात्पर–तत्त्व एवं परमोपास्य के संबंध में भिन्न–भिन्न मत हैं, तथा जिनमें साधना के भिन्न–भिन्न प्रकार तथा भिन्न–भिन्न क्रिया–कलाप, आचार एवं रीति–रिवाज पाये जाते हैं। हिन्दूधर्म का एक शरीर और एक ही आत्मा है। वह एक अमर प्राणी है, जिसके शरीर में ये सब भेद संगठित एवं समन्वित रहते हैं और जिसकी आत्मा उन सबको अनुप्राणित एवं आलोकित करती रहती है। अवयव अवयवी से सम्बद्ध रहकर विकसित एवं नवीन होते रहते हैं। अवयवी उन्हें सम्बद्ध रखता है और वे उसका महत्त्व बढ़ाते रहते हैं।

2. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर भाव

पहली मुख्य विशेषता है– हिन्दुओं के सभी संप्रदायों का भारत की सदा विकासोन्मुख राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति आदर का भाव। सभी हिन्दुओं का वेदों में, जिन पर उनका समान अधिकार है, अमर विश्वास है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने बुद्धि, नीति, कला एवं अध्यात्म के क्षेत्र में जो सबसे बड़ी करामातें कर दिखाई हैं, वेद उनके वाङमय प्रतीक हैं। उनका जीवन सादा, हृदय पवित्र तथा शरीर तथा मन निष्पाप थे तथा "सत्यं शिवं सुन्दरं" एवं पूर्ण स्वतंत्रता के लिये उन्होंने सच्ची खोज की थी। इन्हीं सब कारणों से वे मनुष्य की बौद्धिक चेतना के समक्ष विश्वात्मा भगवान को प्रकट करने के लिए उपयुक्त माध्यम बने हुए थे। वेदों में एक ही दिव्य मानव, एक मसीहे, एक अवतार या एक पैगम्बर के ही उपदेश नहीं हैं। उनका दर्शन प्राचीन भारत की अनेक प्रबुद्ध आत्माओं को हुआ था। उन्हें प्रमाण मानने का अर्थ है– भारतीय आत्मा के विकास की आदिम एवं पवित्रतम भूमिकाओं में भारत के अन्दर जो कुछ उत्तम से उत्तम बातें थी, उन्हें निःसंकोच स्वीकार करना।

परन्तु भारतीय प्रतिभा के इन प्राचीनतम कार्यों के प्रति स्वाभाविक आदर–भाव ही हिन्दुओं की एकता का एकमात्र कारण नहीं है। रामायण, महाभारत, स्मृति–ग्रन्थ, तंत्र, पुराण एवं दर्शनों के प्रति, जो देश के परवर्ती प्रबुद्धतम मस्तिष्कों की कृतियां हैं, हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों का महान आदर हैं। भारतीय जीवन और संस्कृति के सभी विभागों में विचारों एवं आदर्शों को लेकर जो भी उन्नति हुई है– धार्मिक कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, धर्मशास्त्र एवं कर्मकांड तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं के द्वारा भिन्न–भिन्न रूपों में भारतीय आत्मा का जो क्रमिक विकास हुआ है, ये सब ग्रन्थ उसी के प्रतीक हैं। भारतीय अतीत के गौरव को तथा अपने प्रति इसकी देन को कभी अस्वीकार नहीं करते। अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुकूल बनाकर सदा ही सनातन धर्म का सच्चाई के साथ अनुगमन करने की चेष्टा की जाती है। हिन्दू लोग अतीत के गौरव को सिर झुकाते हुए भी वर्तमान काल में विचार एवं क्रिया के स्वातन्त्र्य की कदापि उपेक्षा नहीं करते तथा अपनी धारणा के अनुसार समुज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ने से नहीं चूकते।

3. राष्ट्र के संत–महात्माओं एवं वीरों के प्रति श्रद्धा

महान हिन्दू–समाज के सभी वर्गों में एकता के उपर्युक्त बलवान सूत्र के अतिरिक्त उनमें भारत के राष्ट्रीय संत–महात्माओं एवं वीरों के प्रति– उन यशस्वी ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने भारतीय प्रगति की किसी भी भूमिका में उसके धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा बौद्धिक जीवन पर किसी भी प्रकार का स्थायी प्रभाव ड़ाला है– ठोस व्यक्तिगत आदर भाव भी है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, मनु और याज्ञवल्क्य, नारद और कपिल, पराशर और व्यास आदि प्राचीन महर्षियों ने; बुद्ध और शंकर, पारसनाथ और गोरखनाथ, चैतन्य और नानक, रामानुज और रामानन्द, कबीर और तुलसी प्रभृति संतों एवं युग–प्रवर्तकों ने; भगवान श्रीकृष्ण, जनक और हरिश्चन्द्र, भीष्म और अर्जुन, ध्रुव और प्रह्लाद आदि विख्यात राष्ट्रीय वीरों एवं राजर्षियों ने तथा भगवती

सीता और सावित्री, जगज्जननि सती और उमा, मैत्रेयी और गार्गी प्रभृति भारत की आदर्श महिलाओं ने अपने को हिन्दू कहलाने वाले सभी पुरूषों एवं स्त्रियो के हृदय पर अटल एवं नैतिक आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। सिद्धान्तों एवं दिनचर्या में बहुविध अन्तर होने पर भी सामान्यतः हिन्दू मात्र प्रेरणा के इन शाश्वत सर्वसुलभ स्त्रोतों से प्रेरणाएं ग्रहण करते हैं और अपने को इन्हीं के कुटुम्बी रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के सभी आदर्श पुरुषों एवं देवियों की स्मृति– जो दिन–प्रतिदिन, मास–प्रतिमास और वर्ष–प्रतिवर्ष विभिन्न प्रकार के उत्सवों एवं धार्मिक अनुष्ठानों तथा उनसे संबंध रखने वाले पौराणिक आख्यानों एवं ऐतिहासिक घटनाओं की कथाओं, यात्राओं, अभिनयों एवं अन्य उल्लासपूर्ण खेल–तमाशों के द्वारा जाग्रत ही नहीं अपितु अधिक जाज्वल्यमान एवं ताजी रखी जाती है, – सभी युगों में तथा देश के सभी भागों में हिन्दू–समाज एवं धर्म के सभी अवयवों में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता बनाए रखती है तथा उसे और भी सुदृढ़ बनाती है। इतना ही नहीं, वह उनमें इस भाव को भी जाग्रत करती है कि सृष्टि के आरम्भ से ही उसमें अमर जीवन की एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो रही है।

4. राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों का आदर

हिन्दुओं के सभी संप्रदायों में एकता बनाए रखनेवाला तीसरा सूत्र भारत के राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों के प्रति पवित्रता की बुद्धि है। ये स्थान, जो इस महान देश के सभी भागों में, नगरों एवं वनों में, नदियों तथा सरोवरों में, पर्वतों एवं उपत्यकाओं में बिखरे पड़े हैं, तीर्थ माने जाते हैं। प्रत्येक हिन्दू, चाहे वह किसी भी संप्रदाय अथवा जाति का क्यों न हो, अपने एवं अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अपनी स्थिति के अनुसार इनमें से अधिक से अधिक तीर्थों की यात्रा करने को लालायित रहते हैं और इन तीर्थों की यात्रा करने में हिन्दू लोग शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध अथवा जैन तीर्थों में कोई भेदबुद्धि नहीं करते।

ये तीर्थ क्या हैं? अयोध्या, मथुरा, काशी, द्वारिकापुरी, उज्जयिनी आदि किसी न किसी समय भारत के कुछ महान प्रतापशाली राज्यों की प्रसिद्ध राजधानियां थी और राजनीतिक महत्त्व को खो देने के बाद भी इतनी शताब्दियों से भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के महान केन्द्रों के रूप में अपने गौरव को बनाए हुए हैं और भारतीय जीवन की विभिन्न दिशाओं पर स्थायी प्रभाव डाले हुए हैं। दूसरे प्रकार के तीर्थ भारत की मुख्य नदियाँ हैं, जो सभी वर्गों के लोगों के लिये सुख–समृद्धि, पवित्रता एवं बल का कारण बनी हुई हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी– इन सात पवित्र नदियों का प्रत्येक हिन्दू को प्रतिदिन अपने स्नान अथवा पीने के जल में आवाह्न करना सिखाया जाता है।

इसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, नीलगिरी इत्यादि महान पर्वत, जो अपनी महान जन्म–भूमि के सौन्दर्य, भव्यता एवं गौरव का स्मरण दिलाते हैं; वृन्दावन, दण्डकारण्य, नैमिषारण्य आदि महान वन, जिनमें प्राचीन तपोवन एवं वन स्थित विश्वविद्यालयों तथा राष्ट्रीय वीरों के साहसपूर्ण कार्यों एवं राष्ट्रीय देव–देवियों की आनन्ददायिनी क्रीड़ाओं की स्मृतियां निहित हैं; द्वैपायन, पुष्कर, मानस, चम्पा, नारायण आदि महान सरोवर, जो अनेक राष्ट्रीय संतों एवं धर्माचार्यों की स्मृति से पूत हैं– प्रत्येक हिन्दू इन सबका तीर्थों के रूप में स्मरण करता है, जहाँ का सारा वातावरण आध्यात्मिकता से सराबोर रहता है।

जो–जो स्थान विशेष भारत के पूज्य संत–महात्माओं की तपस्या अथवा आध्यात्मिक साधन से पवित्र हो चुके हैं, अथवा महान राष्ट्रीय वीरों अथवा ऋषि कल्प विद्वानों की उदार कृतियों से गौरव को प्राप्त कर चुके हैं अथवा जो राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली महती घटनाओं के कारण चिर–स्मरणीय हो गए हैं अथवा जिन्होंने अपने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक सौन्दर्य एवं भव्यता से लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, वे सामान्यतः सभी हिन्दुओं के लिये तीर्थरूप हैं, चाहे उनके धार्मिक सिद्धान्त अथवा सामाजिक रीति–रिवाज अथवा आचरण संबंधी नियम कैसे भी क्यों न हों। भारत के समस्त संप्रदायों एवं जातियों

को परम्परागत धर्म की सर्वसंग्राहक भुजाओं के भीतर पिरोने तथा उनके जीवन एवं संस्कृत को एक विशेष रूप देने में यह भाव कितना प्रबल सहायक है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

स्कन्द पुराण–2 के सदाचार वर्णन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सैंकडों बार भी तीर्थों में स्नान करते हुए पुरुष यदि भाव–दूषित होते हैं तो वे शुद्ध नहीं होते हैं। –

शतशौऽपितथास्नातान शुद्धा भाव दूषिताः।
अन्तकरणं शुद्धांश्चतान्विभूतिः पवित्रयेत ।।
किम्पावनाः प्रकीयन्ते रासभाः भस्मधूसराः ।
सस्नातः सर्वतीर्थेषुमलैः सर्वेविवाजितः: ।।
येन क्रतुशतैरिष्ट चेतो यस्येह निर्मलम् ।
तदैव निर्मल चेतो यथप्स्थान्तन्युने ।। –82–84/467.

5. मातृभूमि के प्रति श्रद्धा

इस प्रकार भारतमाता के प्रति इस सजीव बुद्धि को हिंदूधर्म का शाश्वत एवं नित्य नूतन शरीर कहा जा सकता है। हिंदूधर्म का व्यापक रूप जो सभी संप्रदायों के हिंदुओं की बुद्धि में उतरा हुआ है, और जिनका उनके धार्मिक सिद्धान्तों, सामाजिक प्रथाओं एवं दार्शनिक मतवादों से कोई संबंध नहीं है, उसका स्वरूप है– भारत की नैतिक, बौद्धिक, ललित कला संबंधी, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक सम्पत्ति में जो कुछ भी अच्छा और महान है, उदात्त और सुन्दर है तथा महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है, उसे पवित्र मानना एवं आध्यात्मिक रूप देना। हिंदू धर्म अपने कलेवर के अन्दर इस देश की तथा बाहर की सभी जातियों तथा सभी धार्मिक संप्रदायों एवं सामाजिक संगठनों को उनके धार्मिक

---

1. तीर्थों का विषय पुराणों में बड़े विस्तार से दिया गया है। तीर्थ की संस्था अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित थी। महाभारत के वनपर्व (अ0 85) में इसका सर्वप्राचीन रूप दृष्टिगोचर होता है। तीर्थों के अनेक प्रकारों का निर्देश पुराणों में है, यथा पितृ तीर्थ गणना (मत्स्य, अ0 22), देवीपीठ गणना (मत्स्य, अ0 13), ब्रह्मतीर्थ गणना (प्रभासक्षेत्र, 105 अ0)। सामान्य तीर्थों के सूचनार्थ द्रष्टव्य ब्रह्मा0, 25 अ0, अग्नि0 109 अ0। काशी के उद्यानों का साहित्यिक वर्णन मत्स्य0, 179 अ0 21–44 श्लोक, वाराणसी तथा प्रयाग का वर्णन– कूर्म0 1!31–35 तथा 36–39। इन तीर्थों के विषय मे विशेष रूप ये द्रष्टव्य– काणे कृत हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग 4, पृ0 552–827।

भावनाओं एवं आचारों की व उनके सामाजिक विचारों, रीतियों और रिवाजों की विशेषताओं को मिटाये बिना ही आत्मसात् कर जाने की शक्ति रखता है और उसने अतीत काल में ऐसा किया भी है।

हिंदुओं का अस्तित्व ही भारत की एकता के भाव– भारत एक सजीव आध्यात्मिक सत्ता है, इस भाव के साथ– सम्बद्ध है। भारतभूमि की पूजा एवं सम्मान तो अपने–अपने ढ़ंग से हिंदूधर्म के अन्तर्गत सारे धार्मिक सम्प्रदाय करते हैं। प्रत्येक हिन्दू का आध्यात्मिक ध्येय है– अपनी व्यष्टि आत्मा का भारत की आत्मा के साथ ऐक्यबोध कराना; क्योंकि उसकी दृष्टि में भारत की आत्मा विश्वात्मा की अत्यन्त तेजस्वी अभिव्यक्ति है। हिन्दुओं की दृष्टि में भारत निरा भौतिक देश– भौतिक जगत का क्षुद्रांश– ही नहीं है, अपितु विश्वात्मा का एक विशिष्ट शरीर है और इस रूप में वह आध्यात्मिकता का सनातन स्रोत है। इसी देश में भगवान प्रत्येक युगपर्यन्त में भ्रान्त एवं मूढ़ जगत को दिव्य आलोक देने तथा उसे शान्ति, सांमजस्य, एकता एवं आनन्द का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए विशेष रूप से प्रकट होते हैं।

6. जीवन एवं जगत के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि

हिन्दूधर्म के आत्मा की जो सबसे प्रधान एवं विशिष्ट अभिव्यक्ति मालूम होती है, वह है जीवन एवं जगत के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि। हिन्दुओं का जीवन मुख्यतया आध्यात्मिक जीवन है। हिन्दुओं की दृष्टि में मनुष्य विवेक, बुद्धि, नैतिक भावना अथवा आध्यात्मिक भावना से भरा प्राणी नहीं है; वह तो सूक्ष्म विशिष्ट स्थूल देहधारी चेतन आत्मा है। आध्यात्मिक स्वरूप, मनोमय स्वरूप, बौद्धिक स्वरूप तथा नैतिक स्वरूप भी उसके अधीन माने जाते हैं। वे उसकी अभिव्यक्ति के क्षेत्र, इस वैचित्र्यमय जगत में उसकी स्वानुभूति एवं चरितार्थता के उपकरण हैं, उसके अन्तर्निहित परम् आदर्श के अनुवर्ती हैं। बन्धन और अपूर्णता, रोग और द्वेष, शोक और चिन्ता, जन्म और मृत्यु सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीर के पीछे लगे हुए हैं। परन्तु आत्मा, जो इस शरीर का स्वामी है,

और जो इसके अन्दर तथा इसके द्वारा स्वरूप लाभ करता है, शाश्वत एवं अमर है; वह स्वरूपतः शुद्ध, सुन्दर एवं आनन्दमय तथा सब प्रकार के बन्धनों एवं सीमाओं से परे है। आत्मा इस शरीर को अपना स्वरूप मान बैठा है, इसी से वह दुःख पाता है। इस सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीर की मांगों को यदि हम जीवन में प्रधानता देने लग जायें, तो दुःख अवश्यम्भावी है। आत्मा का ध्येय होना चाहिये– इन मॉगों को संयत करना तथा उदात्त बनाना, जीवन की सब मॉगों को आध्यात्मिक आदर्श के अनुकूल बनाना तथा क्रमशः इस सम्पूर्ण शरीर को चिन्मय बनाना। शरीर, मन एवं इन्द्रियों का उनके सम्पूर्ण कार्यक्षेत्रों में आत्मा द्वारा शासन होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक जीवन में अन्तर्निहित आदर्श की सिद्धि इसी जगत में हो सके।

धर्म को विष्णु पुराण में अपनी स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्त किया गया है– 17–21 में 'श्रद्धा, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, शान्ति, सिद्धिः, कीर्ति और वपु– ये तेरह कन्याएं भार्या रूप में धर्म ने ग्रहण की।" अर्थात यह गुण धर्म के जीवन–साथी रहते हैं। आगे 29–31 श्लोकों में कहा गया है "इसी प्रकार मेधा ने श्रुति, क्रिया ने दण्ड, नय और विनय, बुद्धि ने बोध, लज्जा ने विनय, वपु ने व्यवसाय, शान्ति ने क्षेम, सिद्धि ने सुख और कीर्ति ने यश को उत्पन्न किया। धर्म के यही सब पुत्र हैं। धर्म पुत्रकाम ने रति से हर्ष को प्रकट किया। धर्म के सौ पुत्र घोषित किए गए हैं, वह धर्म–पालन के सहज परिणाम हैं। यह धर्म की सुन्दर व्याख्या है।

जगत के प्रत्येक पदार्थ का एक आध्यात्मिक अर्थ है और जगत् में काम करने वाली सम्पूर्ण शक्तियॉ एक आध्यात्मिक उद्देश्य के द्वारा नियंत्रित हैं और एक चिन्मय इच्छा–शक्ति की अभिव्यक्तियॉ हैं। सभी हिन्दू जगत् को अजर–अमर माता के रूप में नमन करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवों को उत्पन्न करके उनका प्रेम एवं आनन्द के साथ पोषण करती हैं। यह प्रतीयमान विश्व, जो देखने में असंख्य प्रकार की वस्तुओं एवं घटनाओं से बना हुआ है, हिन्दुओं की दृष्टि में एक सजीव व्यक्ति है, जो असंख्य रूपों

में अभिव्यक्त एक ही आत्मा, एक ही उद्देश्य, एक ही नियम से अनुप्राणित एवं ओत–प्रोत है।

7. जगत् के नैतिक शासन में विश्वास

पौराणिक धर्म का यह विश्वास है कि जगत् के अभ्यन्तर शासन में नैतिक विधान की प्रधानता है। हिन्दू मात्र इस नैसर्गिक विश्वास से अनुप्राणित है कि एक न्यायपूर्ण विधान जगत् के जीवों में सुख–दुःख, सम्पत्ति और दरिद्रता, बल और निर्बलता, विवेक और मूढ़ता, उच्चाकांक्षाओं और नीच प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं और नीच मनोविकारों तथा अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों का विभाजन करता है। जीव– जगत् में भौतिक कार्य कारणभाव नैतिक कार्य कारणभाव के सर्वथा अधीन एवं उसी के द्वारा नियंत्रित हैं। प्रत्येक अपने शुभाशुभ कर्मों का अनिवार्य फल भोगता है। नैतिक कार्य कारणभाव या कर्म के विधान में विश्वास हिन्दूधर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है। इस विश्वास का अर्थ यह है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, अकेला वही अपने सुख–दुःख के लिए, अपनी मनोवृत्तियों के लिए तथा अपने जीवन में आने वाले अनुकूल अवसरों तथा विघ्न–बाधाओं के लिए जिम्मेदार है। यह विश्वास उसे यह दिखलाता है कि किसी दूसरे के प्रति, जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो तथा जो अधिक आराम भोगता हो अथवा जिसे पद–प्रतिष्ठा प्राप्त हो, ईर्ष्या–द्वेष या बैर का भाव मत रखो; क्योंकि यह उसके पिछले कर्मों का फल है। वह उसे अपनी स्थिति सुधारने के लिए दूसरों के साथ कटुतापूर्ण प्रतिस्पर्द्धा करने से रोकता है; क्योंकि वह जानता है कि जो कुछ अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हैं, यदि वह उनका समुचित उपयोग करे और अपने चरित्र को उन्नत बनाए तो उसे नैतिक विधान के अनुसार ठीक समय पर अपने शुभ कर्मों का फल अवश्य मिलेगा। जगत् के नैतिक शासन में विश्वास के साथ–साथ तथा उसी से पूरा–पूरा मेल खाता हुआ हिन्दुओं का दूसरा विश्वास पुनर्जन्म के सिद्धान्त में है। मनुष्य का जीवन उसके वर्तमान भौतिक शरीर के जन्म से नहीं प्रारम्भ होता और न उस शरीर की मृत्यु के साथ उसका

अन्त होता है। कर्म का विधान ही प्रत्येक जीवन का नियंत्रण करता है। वर्तमान जीवन में उसे जो योनि, जैसी योग्यता और अनुकूलतायें प्राप्त हैं, वे सब उसके प्राक्तन कर्मों के नैतिक फल हैं। उसके जो कर्म वर्तमान जीवन में फलीभूत नहीं होते, वे भावी जन्मों में फलीभूत होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास एवं आत्मा की पूर्णता के लिये बार–बार अवसर दिए जाते हैं। यह विश्वास प्रत्येक हिन्दू को पूर्णता एवं आनन्द की आशा से भर देता है और उसे वर्तमान जीवन की विपत्तियों को सहन करने की शक्ति प्रदान करता है।

8. कर्मफल सिद्वान्त–

सबका भिन्न–भिन्न कर्म हुआ करता है और अपने–अपने कर्मों के उद्‌भव के अनुसार अपने ही स्थानों में जाकर जन्म लिया करते हैं। ज्ञान से मूढ़ मनुष्य अज्ञानी होकर ही संसार में मोहित रहते हैं। अल्प काल तक ही वे रहते हैं–मासों और वर्षों में फिर जन्म लेकर होंगे और इस मूर्ति से अर्थात इसी स्वरूप में सर्वदा साथ नही रहते हैं। जिस प्राणी को यह सब न्यास और योग का ज्ञान हो गया है, वह इस योग से ही मुक्त हो जाया करता है– इसमें कुछ भी संशय नही है। यह जगत कर्म भूमि है। इसमें उत्पन्न होकर मनुष्य सदैव कर्म करता रहता है। इसके अतिरिक्त कर्म करने वाला अथवा कराने वाला अन्य कोई नही है। कर्म करने वाला स्वयं अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी होता है। जगत में उत्पन्न होने वाले मनुष्य स्वयं ही कर्म करते हैं और उनका फल उनकों स्वयं ही भोगना पड़ता है। अशुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य अपनी आत्मा का अधः पतन करता है। प्राण के अधिष्ठान रूप इस देह में स्थित अन्तःकरण की प्रेरणा से बुद्धि को संसार में दृढ़ करके प्राणी भले अथवा बुरे काम करता है। इसलिये क्या करना उचित है, इस पर विचार करके अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिये क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बंधु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु हो जाता है।

अनेक लोग कहा करते हैं कि यह जग बदलता रहता है, पर यह बात निरर्थक है। हॉं, यह कहना सत्य है कि मनुष्य कर्म करके स्वयं बदलता रहता है।

वामन पुराण–2 में कहा गया है कि मनुष्य के अशुभ कर्म जैसे–जैसे क्षय होते जाते हैं, वैसे–वैसे मनुष्य की बुद्धि भी सुधरती जाती है। जब सांसारिक दोषों से छुटकारा मिल जाता है, तो निर्मल शुभ–कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग आदि के सुख प्राप्त होते हैं। पापकर्म करने से मनुष्य को नरक में कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को सदैव कर्म–चक्र में भ्रमण करते हुए सुख–दुःख का अनुभव करना पड़ता है। कोई अन्य व्यक्ति या कोई शक्ति शुभाशुभ कर्मफल के मिलने में बाधक नही हो सकती। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जिसने आत्मा पर विजय प्राप्त की है, जो सब प्राणियों को समभाव रखकर अभेद दृष्टि से देखता है, वह तत्व ज्ञानी मनुष्य सब पापों से मुक्त होता है। अपनी देह को जिस प्रकार सुख–दुःख का अनुभव होता है, वैसा ही अनुभव अन्य देहधारियों को भी होता है। जो इस बात को सदैव समझता रहता है, वह पापों से अवश्य मुक्त होता है। किसी भी प्राणी को मन, वचन तथा कर्म से हिंसा न करने वाला, लोभ, क्रोध से रहित, सदा न्याय और नीति का पालन करने वाला पुरूष पाप से मुक्त होता है। प्राणायाम द्वारा मन और इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला पवित्र मनुष्य पापों से मुक्त होता है। जो शुभ कर्मों में संलग्न रहता है और अशुभ कर्मों से बचता है, सब प्राणियों के कल्याण की कामना करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त होता है।

9. मुक्ति का सिद्धान्त

मानवीय आत्मा की चरम् आकांक्षा इतनी ऊँची है कि वह इस परिवर्तनशील जगत् के सीमित भागों से पूर्ण नहीं हो सकती तथा उसकी स्थायी पूर्ति कर्मबन्धन से, प्रतीयमान जगत् के सुख–दुःखों से तथा सब प्रकार की सीमाओं एवं उपाधियों से सर्वथा छूटने में ही है। हिन्दुओं के विश्वास के अनुसार जगत् के नैतिक शासन से सब प्रकार

की सीमाओं को लॉघ जाना, और उसके फलस्वरूप जन्म–मृत्यु एवं आपेक्षिक सुख–दुःखों के चक्र से भी छूटकर ईश्वरीय पूर्णता– निरतिशय आनन्द की नित्य स्थिति– प्राप्त करना मानवीय आत्मा का नैसर्गिक अधिकार है। अपनी संसार यात्रा का अन्त करने के लिये तथा अपने सांसारिक जीवन के परम् उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपने को अज्ञान और अहंकार से, इच्छाओं एवं वासनाओं से, सांसारिक प्रतिष्ठा एवं समृद्धि की आसक्ति से, भौतिक दृष्टि एवं दूसरों के साथ प्रतिस्पर्द्धा भाव से मुक्त करें तथा निरतिशय ज्ञान, निःस्वार्थ प्रेम, अविचल शान्ति, कल्मषहीन पवित्रता तथा समस्त भूतों के प्रति मोह से मुक्त करे।

इसीलिए हिन्दू–संस्कृति के समस्त विभागों का धर्म द्वारा शासन एवं समन्वय होता है। धर्म का वास्तविक अर्थ है– इस शरीर में आत्मा के नित्य, शुद्ध, सुन्दर, आनन्दमय और चेतनस्वरूप का क्रमशः अनुभव करना। कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र पारिवारिक एवं सामाजिक संघटन, कानून और रिवाज, सम्पत्ति तथा शारीरिक सुविधाओं के उत्पादन एवं विभाजन की विधियाँ– हिन्दू इन सबको सामान्यतः मानवजाति की आध्यात्मिक साधना की विभिन्न शाखाएं मानता है और हिन्दुओं के जीवन में इन सबका सार्वभौम आध्यात्मिक आदर्श के द्वारा नियंत्रण होता है। एक सच्चे हिन्दू परिवार में पति–पत्नी का, माता–पिता और संतान का तथा भाइयों और बहिनों का परस्पर सम्बन्ध एक आध्यात्मिक संबंध होता है और उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से ही एक–दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना सिखाया जाता है। सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी समाज एवं राज्य के अंगों का परस्पर संबंध आध्यात्मिक होता है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए ही प्रत्येक अंग को अपने सामाजिक एवं राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। अभिमानशून्य हृदय से समाज एवं राष्ट्र के हित साधन में योग देने से, समाज रूपी महान शरीर की सेवा में लौकिक स्वार्थों की बलि देने से ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णता की योग्यता प्राप्त करता है– ऐसा माना जाता है।

जड़ प्रकृति की अपेक्षा चेतन आत्मा की, भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति की प्रधानता में हिन्दुओं का जो यह सार्वभौम विश्वास है, वही हिन्दू–समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था की आधार–शिला है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मणों एवं संन्यासियों के शीर्ष स्थान में होने का यही अर्थ है कि सभी वर्गों के हिन्दू भौतिक उत्कर्ष की अपेक्षा आध्यात्मिक श्रेष्ठता को स्वेच्छा से ऊँचा मानते हैं। हिन्दुओं की बुद्धि विभिन्न श्रेणियों के चराचर प्राणियों से युक्त इस सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिक दृष्टि से देखती है। यह जगत् चिन्मय है, यह भगवान का विराट् देह है, जगत् की सारी वस्तुएं और घटनाएं भगवान की अभिव्यक्तियां मानी जाती हैं। भगवान के वास्तविक स्वरूप के संबंध में दार्शनिकों एवं सन्तों में मतभेद हो सकता है। परन्तु जन–साधारण का हार्दिक विश्वास तो यह है कि जगत् का स्वरूप केवल वही नहीं है, जो इंद्रियों के अनुभव में आता है, किन्तु उसके पीछे एक चिन्मय आधार है।

श्रीमदभागवद् के षष्ठम स्कन्ध में वर्णन है कि जैसे पथ्य पूर्व अन्न सेवन करने वाले को व्याधियां नही लगती, वैसे ही नियम और आचार वाले मनुष्य को शनैः–शनैः मोक्ष मिल सकती है। धर्मज्ञ और धीरजवान पुरूष तन, मन और वचन द्वारा किये गये पापों को शम, दम, दान, अहिंसा, त्याग, सत्य, शौच, यम–नियम आदि के द्वारा 'भस्म' कर देता है, जैसे थोडी सी अग्नि भी बाँसों के ढ़ेर को जला देती है।

10. भगवान का सर्वग्राही स्वरूप

ईश्वर एवं मुक्ति के संबंध में हिन्दुओं की ऐसी मान्यता है कि जिसमें सभी मतों का समावेश हो जाता है। हिंदूधर्म अधिकारपूर्वक यह कभी नहीं कहता कि ईश्वर का स्वरूप बस, यही है– इससे भिन्न नहीं; वह इस बात की घोषणा नहीं करता कि अमुक संत अथवा पैगम्बर की अन्तर्दृष्टि अथवा प्रज्ञा ने परात्पर वस्तु के स्वरूप का पूर्ण रूप से आकलन किया है, वह यह भी नहीं कहता कि परमोपास्य रूप से साकार भगवान की सत्ता में विश्वास करना मानवीय आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

अवश्य ही ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर के स्वरूप के संबंध में तीन मुख्य सिद्धान्त है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रभाव में जन्में एवं पले हुए प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री के हृदय में– चाहे वह विद्वान हो या अनपढ़– काम करते हैं। पहली मान्यता है निर्विशेष ब्रह्मपरक। इस रूप में वे ही सब कुछ–एकमात्र तत्त्व माने जाते हैं। एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा परमात्मा नहीं, केवल इतनी ही बात नहीं, अपितु एक परमात्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं है। सारी सोपाधिक सत्ताएं उस एक निरुपाधिक स्वतः सत्ता के आभास मात्र हैं। भीतर–बाहर, सर्वत्र जो कुछ प्रतीत होता है, उनमें एक मात्र उन्हीं को देखना– यही सच्चा ज्ञान है।

दूसरी मान्यता है परमेश्वर के विषय में। इस रूप में वे समस्त एवं इंद्रियगोचर पदार्थों के तथा अनन्त भेदों से युक्त अखिल विश्व के अधीश्वर हैं। इस सापेक्ष रूप में वे जगत् की सम्पूर्ण परिच्छिन्न वस्तुओं के उत्पादक, नियन्ता एवं संहारक हैं। वे अनन्त शक्ति, ज्ञान, सौम्यता तथा अनन्त प्रकार के उत्तम गुणों से सदा सम्पन्न हैं, जिनके सभी सत्पुरुष गाढ़ भक्ति एवं श्रद्धा से उनकी वन्दना करते हैं। परन्तु कोई निश्चित नाम अथवा रूप नहीं है। वे समस्त नाम–रूपात्मक हैं। नाम और रूप की सहायता के बिना मनुष्य के लिए चिन्तन संभव नहीं है। अतः उनका चिन्तन एवं उपासना करने के लिए मनुष्य किसी भी नाम का, रूप का उपयोग कर सकता है।

तीसरे, सभी हिन्दुओं का यह नैसर्गिक विश्वास है कि एक ही परमेश्वर इस जगत् में अपने अनेक देवताओं के रूप में अपने को अभिव्यक्त किए रहते है। इनमें से प्रत्येकं देवता के संबंध में यह माना जाता है कि साक्षात परमेश्वर ही एक विशिष्ट शरीर धारण करके उस रूप में प्रकट हैं और उसी शरीर मे उनके ऐश्वर्य, ज्ञान, सौम्यता, श्री, सौन्दर्य एवं तेज की विशिष्ट कलाएं प्रकट रहती हैं। इन देवताओं के विभिन्न नाम एवं विभिन्न रूप हो सकते हैं और इनके द्वारा विभिन्न शक्तियों एवं गुणों का प्रकाश हो सकता है। परन्तु स्वरूपतः वे एक–दूसरे से अभिन्न हैं; क्योंकि उन सबमे एक ही परमात्मा का निवास है तथा एक ही परमात्मा उनमें तथा उनके द्वारा भिन्न–भिन्न लीला करते हैं।

इसलिए धर्मोन्माद, जो बहुधा नीचातिनीच पाशविक विकारों की अपेक्षा अधिक गिराने वाला एवं भयावह होता है, हिन्दू के चित्त में कभी जड़ नहीं पकड़ सकता।

वामन पुराण–1 के पुष्कर द्वीप वर्णन में राक्षस श्रेष्ठ सुकेशी को ऋषियों ने 12 योनियों के निम्न धर्म व उनके लक्षण बताये हैं, जिससे हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषताओं का बोध होता है। उनके अनुसार धर्म वह है जिससे– यहाँ पर जो जो श्रेय हो और जो परलोक में अक्षय श्रेय होता है, इसी से प्राणी सत्पुरूषों में पूज्य होता है और सुख प्राप्त करता है।

देवगणों का धर्म है– सदा यज्ञ आदि क्रियायें करना, वेदों का नित्य स्वाध्याय, तत्व ज्ञान को प्राप्त करना, भगवान विष्णु की पूजा। दैत्यों के धर्म के विषय में बताया गया है कि सदैव बाहुशालिता रखें, सदैव युद्ध की क्रियायें करते रहें, नीति शास्त्रों की वन्दना तथा श्रीहरि की भक्ति करें। सिद्धों का धर्म है कि परम श्रेय योग सिद्धि करें, स्वाध्याय, ब्रह्म विज्ञान तथा विष्णु या हरि में भक्ति भाव रखें।

गन्धर्व धर्म के अन्तर्गत उत्कृष्ट कोटि की उपासना, नृत्य तथा वाद्यों का ज्ञान प्राप्त करना, सरस्वती में स्थिर भक्ति करना आता है। विद्याधरों का धर्म अनुपम विद्याओं को धारण करना, विज्ञान व पौरूष करने में मति रखना, भवानी में भक्ति भावना रखना है। किम्पुरूषों का धर्म गन्धर्व विद्या का ज्ञान, समस्त शिल्पों में कौशल, भानुदेव में स्थिर भक्ति रखना बताया गया है।

ब्रह्मचर्य का पालन, निराभिमानी होना, योगाभ्यास, इच्छापूर्वक सब जगह भ्रमणशीलता पैतृक धर्म है। आर्ष धर्म के बारे में ब्रह्मचर्य का पालन, सदा सत्य जाप, ज्ञान–नियमों का रक्षण और धर्म का ज्ञान हौना बताया गया है। इनके अतिरिक्त धन का स्वामी होकर रहना, भोगों का उपभोग, स्वाध्याय, शंकर–भक्ति, अहं भाव रखना, गृहस्थ धर्म के लक्षण कहे गये हैं।

सामान्य धर्म के विषय में बताया गया है कि किसी भी भॉति प्राणी की हिंसा न करना अर्थात किसी भॉति से न सताना, सत्य एवं सुप्रिय वाणी बोलना, सत्य व्यवहार मन वचन और कर्म से करना, पवित्रता रखना, क्षमा रखना, सब पर दया भाव रखना– ये सब वर्णों के लोगों का और समस्त आश्रमों में रहने वालों का सामान्य धर्म है, जो सामान्यतया सभी में होना चाहिये।

सर्वधर्म समभाव पर भी पुराणों में बल दिया गया है। पुराणों में कहा गया है कि आत्म–धर्म का पालन करें तथा दूसरे धर्मों के लोगों से अनावश्यक ही परिवाद न करें। वराह पुराण में कहा गया है कि लोभ–मोह–क्रोध–अहिंसा से मुक्त अपनी ही आत्मा में आत्मा के धर्म का पालन करें।

> आत्मनात्मनि धर्मेण ये नरा निश्चित व्रताः।
> स्वयं पालयते धर्म स्वमते नैव भाषितम।।
> परिवाद न कुर्वीत सर्वधर्म निश्चितम्।
> न निन्देद्धर्म कार्याणि आत्मधर्म पथे स्थितः।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षाति, दम–शम, अकार्ण्य, शौच व तप यह धर्म का ऐसा स्वरूप है, जो सभी वर्णों में रहने वाला है। धर्मानुशासनवर्णन, 175.

इस प्रकार हिन्दू धर्म की आत्मा अपने आपको सार्वभौम धार्मिक दृष्टि के रूप में तथा ईश्वर संबंधी सभी विवेकपूर्ण मान्यताओं तथा सब प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं के समादर के रूप में अभिव्यक्त करती है। वर्तमान हिन्दूधर्म का यही स्वरूप है। यह स्वरूप पुराणों के ऊपर ही आश्रित है। अतः इसे पौराणिक धर्म का रूप मानना सर्वथा उचित है।

पुराणों द्वारा धार्मिक सहिष्णुता विकसित करने हेतु भी समुचित प्रयास किया गया है। शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के मध्य उत्पन्न विवाद को शिव तथा विष्णु को एक ही ईश्वर के दो रूप मानते हुए सुलझाने का प्रयास किया गया है। बौद्ध धर्म के अष्टांग मार्ग तथा जैन धर्म के पंच महाव्रत के सिद्धान्तों पर भी पुराणों में अपने ढ़ंग से बल

दिया गया है। विष्णु पुराण में ऋषभदेव की अतिशय प्रशंसा की है। गौतम बुद्ध को अवतार रूप में ही माना गया है। कुछ स्थानों में अन्य धर्मों के विषय में संकीर्णतापूर्ण दृष्टिकोण भी दृष्टिगोचर होता है। यथा– विष्णु पुराण में जैन धर्म का सीधा–सीधा नाम न लेते हुए 'मायामोह' के नाम का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसने युक्तियुक्त बोधात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा दैत्यों को धर्म छोड़ने को प्रेरित किया। यज्ञ, बलि, ब्राह्मणों, वेदों, यज्ञानुष्ठान आदि की आलोचना मायामोह ने की थी। पुराण में इन नग्न पुरूषों व अन्य पाखंडियों से सावधान रहने की चेतावनी भी दी गयी है। परिव्राजक की प्रतिमा तथा नग्न मूर्ति हो या बौद्ध प्रतिमा हो, वहाँ पर प्रवेश को पूर्णतया निषिद्ध किया गया है। नारद–1 में एक स्थान पर कहा गया है–

महान आपदा में ग्रस्त हो जाने पर भी जो द्विज बौद्धों के मंदिर में प्रवेश करता है, उसकी शतशः प्रायश्चितों से भी शुद्धि नही हो सकती। इसका कारण यही है कि बौद्ध लोग वेद–निन्दक होते हैं। वे पाखण्डी हैं और धर्म से बहिष्कृत होते हैं, अतः द्विज को तो उनकी ओर अपनी दृष्टि भी नही डालनी चाहिये।

लिंग पुराण–2 में चार्वाक दर्शन को पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन तथा वैदिक दर्शन के विपरीत मानते हुए उसकी आलोचना की गई है। इसे दृष्ट प्रत्यय से संयुक्त सबको मोहन करने वाला शास्त्र बताया गया है। इस शास्त्र का अपने अंग से समुत्पन्न पुरूष को माया से भरा हुआ वह सोलह लक्ष वाला ग्रन्थ का उपदेश किया था, जिसमें प्रतिपादन किया गया था कि यहाँ पर ही स्वर्ग और नरक है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रत्यय नही है। पुराणकार की दृष्टि में यह शास्त्र श्रौत तथा स्मार्त्त धर्म के बिल्कुल विपरीत था और वर्ण एवं आश्रम के नियमों से रहित था। 25–27/460.

परिवार, समाज एवं सामाजिक जीवन

परिवार, समुदाय राज्य व धार्मिक संस्थाएं आदि शिक्षा के अनौपचारिक साधन हैं। ये सभी बालक के व्यक्तित्व के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। शिक्षा के इन अनौपचारिक साधनों का महत्व शिक्षा के औपचारिक साधनों की तुलना में कदापि कम करके नहीं आँका जा सकता। परिवार में बालक जन्म लेता है। उसके जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में पारिवारिक वातावरण के उसके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभाव अमिट होते हैं। परिवार समाज की इकाई है। बालक परिवार से निकल कर बाहरी वृहत्तर समाज में प्रवेश करता है। उसका आस–पड़ौस, मित्र–मंडली तथा समाज की अन्य संस्थाएं अर्थात सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश उस पर प्रभाव डालता है। व्यक्ति और उसके पर्यावरण के मध्य होने वाली इस अन्तःक्रिया की प्रकृति से ही उसके भावी विकास की दिशा निर्धारित होती है। अग्रलिखित पंक्तियों में पुराणों में परिवार, समाज व उनके अन्तर्सम्बन्धों से संबंधित विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है–

परिवार

प्राचीन भारत में संयुक्त परिवार प्रथा थी। परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का प्रमुख होता था। परिवार के सदस्य परस्पर प्रेम की बंधनों से संयुक्त रहते थे। परिवार के प्रत्येक सदस्य का परिवार की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण व अभिन्न स्थान होता था। परिवार के विभिन्न सदस्यों के कर्तव्य व उत्तरदायित्व सुनिश्चित होते थे। संरक्षक, माता–पिता, पुत्र–पुत्री, पत्नी सभी की भूमिकाएं विशिष्ट रूप लिए थी।

माता–पिता संतान द्वारा अत्यन्त पूज्य माने जाते थे। विभिन्न पुराणों में माता–पिता के विषय में पुत्र के कर्तव्यों को इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है–

जो श्रेष्ठ नर अपने माता–पिता की सेवा किया करता है, वह वहाँ पर (स्वर्ग में) परम् संतुष्ट होकर पहुँचा करता है। ऐसे मानव का स्वर्ग में निवास करने पर देवगण भी अत्यधिक सत्कार किया करते हैं। नारद 2, 25/45.

जो दोनों कानों को ब्रह्म के द्वारा सत्य को आवृत करता है, वह माता और पिता को जानना चाहिये और इनसे किसी भी भाँति द्रोह नही करना चाहिये। दस उपाध्यायों के समान एक आचार्य और सौ आचार्यों के तुल्य एक पिता तथा एक सहस्त्र पिताओं के समान माता गौरव में होती है। उत्पादक अर्थात उत्पन्न करने वाला और ब्राह्मण का ब्रह्म जन्म यहाँ और मरकर शाश्वत रहा करता है। माता और पिता परस्पर काम से इनको उत्पन्न किया करते हैं। उसकी संभूति अर्थात उत्पत्ति जो कि योनि में होती है, वेद का पारगामी आचार्य उसकी विधिपूर्वक इस जाति को उत्पन्न किया करता है जो कि सावित्री के द्वारा की जाती है। वह जाति सत्य है और अजर तथा अमर होती है। भविष्य, 77–83/86.

शरीरधारियों के जीवन की सफलता भी गुरू, देवता, ब्राह्मण और माता–पिता के पूजन करते रहने से होती है। माता–पिता की सेवा किये बिना व्यतीत हुआ आयु भाग असाधुत्व को प्राप्त करता व्यर्थ ही चला जाता है। विष्णु 1, 3–4/248.

पुत्र पिता का एक स्वरूप होता है और जो पिता होता है वही पुत्र है।

पितुः स्वरूपं पुत्रः स्याद्यः पिता पुत्र एव सः। – ब्रह्म 2, 14/141.

जिसके पुत्र नही होता है, वह सुव्रत के प्रभाव से स्वर्ग के द्वार तक ही पहुँच सकता है और फिर पुत्रहीन के लिये देवगण स्वर्ग के द्वार नही खोला करते हैं। पुन्नाम वाले नरक से त्राण करता है, इसलिये उसको पुत्र कहते हैं। उससे भी शेष जो पाप हो, उस पाप को शिष्य हरण किया करता है, इसलिये वह शिष्य कहा जाता है। वामन 2, 76/108.

बहुत अधिक पुत्र हुआ करते हैं किन्तु वे अधिक पुत्र कुल के तन्तु नहीं हुआ करते हैं। एक ही कोई ऐसा पुत्र हुआ करता है, जिससे कुल की रक्षा हो जाया करती है, जो कुल का आधारभूत हुआ करता है और माता–पिता का प्रिय कर्म करने वाला होता है तथा अपने पूर्वजों का उद्धार किया करता है, वही वस्तुतः पुत्र है और जो ऐसा नही है, वह पुत्र नही अपितु गद ही हुआ करता है। ब्रह्म 2, 41–42/146.

जो पिता के अत्यन्त भक्त होकर पितृ–यज्ञ किया करते हैं और जो दीन पुरूषों की सेवा किया करते हैं, उन्हें वैष्णव जन समझना चाहिये। पद्म 2, 95/440.

पुत्र का कर्तव्य होता है कि वह माता–पिता के जो मित्र होते हैं अथवा शत्रु होते हैं, उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया करता है। ब्रह्म 1, 85/480.

वही पुत्र लोक में प्रशंसा का पात्र माना जाया करता है और पित्रादि के द्वारा भी अभिनन्दित किया जाता है, जो वचनों के द्वारा भी पिता के अर्जित धन की अभिलाषा नही किया करता है। जो पुत्र अपनी भुजाओं के बल का आश्रय ग्रहण करके धन का अर्जन किया करता है, वह ही लोक में कृतार्थ (सफल) हुआ करता है तथा जो पिता के कमाये हुए धन को स्पर्श भी नही किया करता है, वही प्रशंसनीय पुत्र होता है। जो धन का स्वयं अर्जन करके पिता तथा अन्य बंधुओं के लिये दिया करता है, उसी को वास्तव में पुत्र जानना चाहिये। जो ऐसा नही करता है, वह तो एक कीट के समान होता है। ब्रह्म 2, 11–13/155–156.

अपने माता–पिता को पूर्ण संतुष्ट रखने वाला पुत्र अपने इस कर्म से सम्पूर्ण धर्म की प्राप्ति कर लेता है। माता के समान इस संसार में अन्य कोई भी देवता नही है और पिता के तुल्य अन्य कोई गुरू भी नही है। उनका कोई भी प्रत्युपकार होना ही नही है। अतएव उनका नित्य ही मन, वाणी और कर्म के द्वारा सर्वदा प्रिय ही करना चाहिये। उनके द्वारा आज्ञा न पाये जाने पर अन्य धर्म का आचरण कभी नही करना चाहिये, चाहे वह कर्म नित्य हो या नैमित्तिक हो। जो पिता के समान बड़े भाई का अपमान किया

करता है, वह महामूर्ख है। इसी दोष से वह मरने के पीछे परम घोर नरक में जाया करता है। पुरूषों के मार्ग में पूज्य भर्ता सर्वदा स्थित रहा करता है। कूर्म 2, 40–41/124.

पुत्र सुपुत्र ही होना चाहिये। कुपत्र तो माँ–बाप को क्लेश ही प्रदान करता है तथा कुल–गौरव को नष्ट ही करता है, क्योंकि कुपुत्र सदा ही माता–पिता के ह्रदय को पीडित करता रहता है और स्वर्गवासी पितरों को भी वहाँ से पतित करता है।

"कुपुत्रोह्रदयासासं सर्वदा कुरुतेपितुः।
मातुञ्स्वगंसंस्थाश्चस्वपितृ पातयत्यधः।। मार्कण्डेय 2, 33/102

माता के चर्म धौंकनी के समान होने के कारण पुत्र पर पिता का ही अधिकार होता है। पुत्र जिसके द्वारा जन्म पाता है, उसी पिता का रूप होता है। विष्णु 1, 12/96.

परिवार में माता की केन्द्रीय भूमिका है तथा उसका स्थान अति उच्च। पुराणों में माता के संबंध में निम्न उल्लेख हैं–

जो पुत्र अपनी माता से हीन हो जाया करते हैं, वे तो मृत के ही समान होते हैं। भले ही पास में गौ, पशु, वृक्ष सभी कुछ हो, परन्तु यदि माता नही है तो ये सब मातृ–सुख को किसी भी प्रकार से प्राप्त नही करा सकते हैं। चाहे कोई अति दरिद्र हो, रोगयुक्त हो, परदेश में रहता हो, परन्तु माता कभी भी विमुख नही होती है।

भगवान नारायण की भक्ति से शून्य धर्म, सद्भोग से रहित धन का वैभव, भार्या और पुत्रों (पुत्री का उल्लेख नही) से रिक्त घर जिस तरह से आनन्द से सूना होता है वैसे ही माता से रहित मनुष्य का जीवन निरान्दमय हुआ करता है। नारद 1, 41–47/203–4.

पतित और दण्ड के पात्र बन्धुओं को त्यागकर उत्तम साहस का प्रदर्शन करना चाहिये। पतित पुत्र को पिता भले ही त्याग देवे, किन्तु माता को उसका त्याग नही करना चाहिये। नारद 1, 18/293.

माता के समान कोई उच्च गुरू नही है। जो बच्चे केवल अपनी माता के ही दूध पर जीवित रहा करते हैं, उन बालकों का माता के समान अन्य कोई भी बन्धु नही होता है। बच्चों का माता के सदृश अन्य कोई भी नाथ नही होता है और माता के तुल्य अन्य कोई भी गति नही है। माता के जैसा स्नेह किसी भी अन्य का कभी नही होता। इस लोक में और परलोक में दोनों ही जगह माता के तुल्य कोई दूसरा देव नही है। जो पुत्र सर्वदा माता के पास रहते हैं, वे परम गति को प्राप्त हुआ करते हैं। पद्म 1, 88–90 / 184.

पुराणो में पिता के स्थान, कर्तव्य व महत्व को इस प्रकार इंगित किया गया है–

इस संसार में जो पितृहीन है, वे जीवित रहते हुए भी मृत के समान ही है। जिसका पिता अत्यन्त दरिद्र भी है तो भी उसको कुबेर के समान समझना चाहिये। जिसके माता और पिता दोनों ही न हों, उसको संसार में कभी भी सुख नही मिल सकता है। वह पुरूष धर्मविहीन एवं मूर्ख के समान इस लोक और परलोक में निन्दा ही पाया करता है। इस जगत में माता–पिता से हीन का, अज्ञानी का, अविवेकी का, अपुत्र व ऋणग्रस्त का जन्म व्यर्थ है। बिना चन्द्रोदय के रात्रि–कमलों के विकास से रहित सरोवर, पतिहीन नारी और पिता से हीन बालक– ये सब एक से ही होते हैं। नारद 1, 18–21 / 145.

जिस प्रकार धर्म से हीन प्राणी, कर्म से हीन प्राणी, कर्महीन ग्रहस्थ और पशुहीन वैश्य हो, उसी प्रकार से पितृहीन बालक होता है। जिस रीति से सत्यता से रहित वचन, सत् साधुओं से हीन सभा या परिषद, दया से हीन तपश्चर्या व्यर्थ है, वैसे ही जनकहीन बालक होता है। जैसे वृक्ष–लतादि से ही वन, सलिल शून्य नदी, वेग–विहीन अश्व केवल नाम–मात्र से ही हुआ करते हैं, उसी भॉति पिता से हीन बालक हुआ करता है। जैसे याचना करने वाला मनुष्य इस जगत में बहुत तुच्छ या ओछा माना जाया करता है, उसी

तरह पिता से रहित अनाथ बालक भी बहुत ही तुच्छ माना जाया करता है और अनेक प्रकार के कष्ट भोगा करता है। नारद 1, 22—25/146.

पिता के द्वारा जो कुछ भी पूछा गया हो, उसे अधम सुत ही गोपित रखा करते हैं अर्थात छिपाया करते हैं। नारद 1, 93/80.

पिताजी परम् गुरू और पूजनीय हैं। यह भी निःसंदेह सत्य है।

पिता गुरूर्न संदेह पूजनीयः प्रयत्नतः। – विष्णु 2, 17/204.

जन्म दाता पिता के उपकार का बदला कोई नही चुका सकता। उसकी कृपा हो तो मोक्ष भी सहज में ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये पिता की आज्ञा मानने वाला पुत्र ही श्रेष्ठ है।

"को नु लोके मनुष्येन्द पितुरात्मकृतः पुमानः"

अपने और दूसरे के पुत्र में जो समता का बरताव रखता है, उसको कभी भी पुत्र का शोक नही हुआ करता है। यही सनातन धर्म है। नारद 1, 48/214.

यदि पराया पुत्र भी अपना हितकारी हो तो उसे अपना समझें और अपना पुत्र होकर भी जो पराया हित—चिंतन करे तो उसे शत्रु ही समझना चाहिये। नारद 1, 3/313

पत्नी के विषय में पुराण कहता है—

पत्नी ऐसी होनी चाहिये जो अपने ही अनुकूल समानता रखने वाली हो और परम शुभ हो अर्थात सुलक्षण हो। ऐसी पत्नी का ग्रहण शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ही करने का विधान है। जिसके पास में माता न हो और प्रतिप्राणा, धर्मपरायणा, परम् साध्वी पत्नी भी न हो तो उस घर का त्याग कर वन में ही चले जाना चाहिये, क्योंकि ऐसे शून्य घर में कुछ भी आनन्द नही रहा करता है। पद्म 2, 8/88.

बड़ों की सेवा और सम्मान

परिवार के छोटे सदस्यों को सदैव बड़ों के प्रति विनम्र तथा आज्ञाकारी होना चाहिए। इस संबंध में पुराणों का कथन है–

नारद पुराण में कहा गया है– जो सर्वदा अपने से बड़ों की सेवा किया करते हैं, वे निश्चय ही परम् पद को प्राप्त किया करते हैं। (38) जो लोग पहले से दुरुक्त भी वृद्धों के वाक्यों के अनुसार समाचरण किया करते हैं अर्थात श्रवण से कटु एवं बुरे लगने वाले वचनों का परिपालन करते हैं, वे पीछे परम् स्निग्ध हो जाते हैं और उनसे नवनीत के समान शुद्ध होकर वे परम् प्रसन्न होते हैं। इस विषय में कुछ भी विचारणीय बात नही है। (48) आपत्ति रूपी सर्प के काटे हुए और सर्वथा मन्त्रहीन पुरूष के लिये वृद्ध के वचन औषध हैं, जो उनको विष से रहित कर दिया करते हैं। (79) वृद्ध वाक्य रूपी अमृत का पान करके और उनके कथनों का सम्मान करके जो तृप्ति समुत्पन्न होती है, वह मनुष्यों को सोमपान में भी कहॉ हो सकती है? (80)

मनुष्य के समुत्पन्न होने में उसके माता–पिता जन्म से ही पूर्ण क्लेश को सहा करते हैं। उस क्लेश की निष्कृति मनुष्य सौ वर्षों में भी नही कर सकता। अतएव मनुष्य का यह परम कर्तव्य होता है कि उनका नित्य ही उसे प्रिय करना चाहिये तथा जो आचार्य हों, उसका भी सर्वदा प्रिय करें। इन तीनों के तुष्ट होने पर ही मनुष्य का सभी प्रकार का तप समाग्र हो जाया करता है। वे तीनों ही उसके तीन लोक हैं। ये तीनों उसके तीन आश्रम हैं, वे तीनों ही तीन वेद हैं तथा ये तीन मनुष्य के तीन अग्नियां हैं। पिता गाहपत्य अग्नि माता दक्षिणाग्नि और गुरू आह्वानीय अग्नि है। ये ही सबसे बड़ी तीन अग्नियों वाला वह माना जाता है। इन तीनों के विषय में कभी भी प्रमाद नही करना चाहिये। जो इस कर्तव्य का पालन करता है, वह ग्रही तीनों लोकों को जीत लिया करता है और अपने शरीर की कांति से वह दीप्यमान होता हुआ देव के ही समान दिवलोक में आनन्द अनुभव किया करता है। 22–28/234.

जो भी मनुष्य वृद्धों के वचनों को समादर सहित सुनता है और उनके अनुरूप कार्य भी करता है, वह बहुत ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाता है। वामन 2, 84/465.

जो नित्य ही अपने से बड़ो के लिये अभिवादन करने के स्वभाव रखने वाला होता है और बड़ों की सेवा–सुश्रुषा करने वाला है, उसकी आयु, प्रज्ञा, यश और बल– ये चार बढ़ा करते हैं। मातृष्वसा (मौसी), मातुला (मामी), श्वश्रु (सास), पितृष्वसा (बुआ)– ये सब गुरू की भार्या के समान ही पूज्य होती हैं। अपने भाई की भार्या और जो सवर्ण भार्या हो, उसका प्रतिदिन पूजन करने वाला विप्र विष्णु लोक को जाया करता है। 62–63, सावित्री महात्म्य, भविष्य पुराण।

पिता की भगिनी, माता की भगिनी और बड़ी बहिन का भी माता के समान ही आदर करना चाहिये। किन्तु माता वस्तुतः इन सबमें गौरवयुक्त होती है। कूर्म 2, 20–21/138.

जब कोई प्रवास से वापस आये तो उसे जाति से संबंध रखने वाली स्त्रियों का पूजन करना चाहिए। जो पिता की भगिनी हो, उसका और माता का भी पूजन करे। अपनी बड़ी बहिन के साथ माता के तुल्य व्यवहार करे। उन सबसे बड़ी माता को जाने। पुत्र, मित्र और भागिनेयों को सदा अपनी ही आत्मा के समान देखे।

आत्मनो भगिनी या च ज्येष्ठा कुरुकुलौद्वह।
सदा स्वमातृबद्धत्तिष्ठेद्भारतोत्तम।
गरीयसी ततस्ताभ्यो माता ज्ञेया नराधिप।
पुत्रमित्रभोगिनेया दृष्टव्या ह्यात्मना समाः।। –भविष्य, 65–66/84.

संरक्षण

परिवार के मुखिया अर्थात गृहस्थ के दायित्वों का विभिन्न पुराणों में इस प्रकार वर्णन किया गया है–

जो मनुष्य अपने ही शरीर के पोषण में परायण रहता हुआ अपने पुत्र, भृत्य, कलत्र, बन्धु वर्ग को अकिंचनावस्था में होने पर परित्याग कर देता है, अकाल में, संग्राम में त्याग करता है या शरणागत का त्याग करता है, नरकगामी होता है। वामन 2, 26–28 / 160.

आपत्तियों में पड़े हुए जिन लोगों के वृद्ध पुरूष शासन करने वाले नही होते हैं, वे बन्धुओं में शोचने के योग्य नही होते हैं और जीवित रहते हुए भी मृतकों के समान ही हुआ करते हैं। तुम प्रत्येक पर्व दिन में ब्राह्मणों की तृप्ति करो, बंधु जनों का इच्छित करो और परहित साधन की इव्छा करते हुए परनारी में मन मत लगाओ। सदा भगवान का ध्यान करते हुए कामादि छैः शत्रुओं को वश में करो, ज्ञान के द्वारा माया को दूर करो और विश्व की अनित्यता का सदा ध्यान रखो। अर्थ प्राप्त करते हुए पांच वस्तुओं जीतो और यश के लिये व्यय करो, परनिन्दा से डरो, लोगों को विपत्ति सागर से उबारो। बाल्यकाल में बान्धवों का, कौमारावस्था में आज्ञा–पालन द्वारा माता–पिता का, युवावस्था में स्त्री का और वृद्धावस्था में वनवासपूर्वक वनचरों का उपकार करो। वामन 2, 81 / 465.

समाज

प्राचीन भारतीय समाज वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरूप विभाजित था। वर्णाश्रम व्यवस्था– पुराणों में तत्कालीन समाज के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था का प्राविधान किये जाने का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है। समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके गुणों व कर्तव्यों के विषय में भी पुराणों में चर्चा की गई है।

ब्राह्मण–

नारद–1 में कहा गया है कि ब्रह्मा के मुखकमल से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरूओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्रों का उद्‌भव हुआ है।

यन्मुखाद्ब्राह्मण जाता य द्वाहीरभवान्नृपाः।
वैश्या यस्योसतो जाताः पदम्द्यांशूद्रोज्यजायत्।।

मदालसा द्वारा राजधर्म वर्णाश्रम की शिक्षा कथन (मार्कण्डेय पुराण, खंड 1) में बताया गया है– वत्स ! दान अध्ययन और यज्ञ यह तीनों ब्राह्मण के धर्म हैं। शुद्धतापूर्वक यज्ञ कराना और अध्यापन और पवित्र भाव से प्रतिग्रह– यह तीन कर्म ही ब्राह्मणों की आजीविका के साधन हैं। दान, यज्ञ और अध्ययन यह् तीन कर्म क्षत्रियों के कर्तव्य रूप हैं तथा पृथ्वी पालन और शास्त्राभ्यास उनकी जीविका के साधन हैं। दान, अध्ययन और यज्ञ– यह तीन धर्म वैश्यों के हैं तथा पशुपालन, वाणिज्य और खेती यह उसकी आजीविका के साधन हैं। शूद्र के कर्म दान, यज्ञ और तीनों जाति की सेवा करना– यह तीन हैं तथा कारूकर्म, उपनयन संस्कार के सम्पन्न होने के पश्चात ब्रह्मचर्य–पालन पूर्वक गुरू के पास रहे। स्वाध्याय, अग्नि–शुश्रूषा स्नान, भिक्षाटन करके पहले गुरू को भोजन करावें। फिर उनकी आज्ञा से स्वयं भोजन करें। गुरू के कार्य में सदैव तत्पर रहना तथा उनके संतोष और आदेश के अनुसार कार्य करना तथा अनन्य चित्त से अध्ययन करना ब्रह्मचारी का परम कर्तव्य है।

मनुष्य की चार इंद्रियां बहुत ही प्रबल हैं– दोनों हाथ, उपस्य, उदर और चौथी वाणी। जिसकी ये चारों सुसंयत होती हैं, वही बुद्ध वस्तुतः विप्र कहा जाया करता है। नारद 1, 6/178.

भविष्य पुराण कहता है कि जन्म से वर्ण भेद नही होता है और ब्राह्मणत्व सभी प्राणियों में होता है।

ब्राह्मण चन्द्रमा की किरणों के समान शुभ्र नही होते हैं और क्षत्रिय ढ़ाक के पुष्प के तुल्य लाल वर्ण वाले नही होते हैं। इस संसार में वैश्य हरिताल की भॉंति पीतवर्ण के नही हैं और शूद्र अंगार के समान रंग वाले नही हुआ करते हैं। पादों के प्रचार, शरीर का वर्ण, केश, सुख तथा रक्त, त्वचा, मांस–भेद और अस्थि के द्वारा ये चारों ब्राह्मण,

वैश्य और शूद्र समान ही होते हैं। फिर ये चार प्रभेद कैसे होते हैं? वर्ग प्रमाण, आकृति, गर्भवास, वाणी, बुद्धि, कर्म, इंद्रिय और जीवित में बल तथा त्रिवर्ग, आभय, भैषज में इन चारों में जाति के द्वारा किया हुआ कोई विशेष नही होता है। इस संसार में समस्त प्रजाओं का वह एक ही स्वामी है। फिर किस प्रकार से जाति के द्वारा किया गया यह प्रभेद होता है? पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के परिणामों में कोई भी विशेषता का भाव न होने से समस्त प्राणियों का देह में ब्राह्मणत्व का प्रसंग होता है। इस कारण से देहात्मक से वह ब्राह्मण नही होता है और न कर्मो से उत्पन्न होने वाला ब्राह्मण हुआ करता है। भविष्य 1, 41–53/136.

यजन–याजन अर्थात यज्ञादि का कराना या दान देना, ब्राह्मण का प्रतिग्रह (दान लेना)– अध्यापन और अध्ययन ये छै कर्म बतलाये गये हैं। दान देना– अध्ययन करना और यज्ञ आदि का कराना ये धर्म वैश्य और क्षत्रिय के कहे गये हैं। कूर्म 1, 38–39/59.

विष्णु पुराण के अनुसार चारों वर्णो के कर्म व लक्षण (षड़कर्म) निम्न प्रकार हैं–

ब्राह्मण के छै कर्म कहे गये हैं– विद्या पढ़ना, विद्या पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना। नीति के अनुसार तो क्षत्रिय राजा की आजीविका प्रजा से कर अथवा दण्ड वसूल करना ही है, जिसके प्रति दान स्वरूप प्रजा–पालन उसका कर्तव्य है तथा ब्राह्मणों से कर लेना निषिद्ध है।

वैश्यों की आजीविका का साधन व्यापार वृत्ति है। उसे सदैव ब्राह्मणों की सेवा करनी चाहिये। शूद्रों का कर्तव्य तीनों वर्णो की सेवा और अपने स्वामी से प्राप्त आजीविका से निर्वाह करना है। ब्राह्मण की चार वृत्तियां और कही गई हैं– कृषि–कर्म, बिना प्रयास जो प्राप्त हो जाये, उसी में संतोष रखना, भिक्षा तथा खेत के स्वामी द्वारा खेत में छोडे हुए अथवा मार्ग में बिखरे हुए अन्न को एकत्र करके लाना।

शम, दम, तप, दया, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, प्रभु–भक्ति और सत्य– यह ब्राह्मण के लक्षण हैं। शौर्य बल, धैर्य, तेज, दान, प्रजा का पालन करना– यह क्षत्रिय के

लक्षण हैं। देवता, गुरू और ईश्वर की भक्ति, कर्म कार्य में निष्ठा, आस्तिकता, निपुणता और निरन्तर उद्योग– यह लक्षण वैश्य के हैं। उच्च वर्णों से विनम्र व्यवहार, पवित्रता, स्वामी की कपट–रहित सेवा, मंत्र रहित पंच यज्ञ, चोरी न करना, सत्य बोलना और गौ, ब्राह्मण की सेवा करना– यह शूद्र के लक्षण हैं।

पुराणों के अनुसार ब्राह्मण को चरित्रवान भी अवश्य होना चाहिये। चारों वेदों का अध्ययन करके भी यदि ब्राह्मण चरित्रवान नही रहता है तो उसके द्वारा कोई कर्म नही किया जाना चाहिये। जैसे स्त्री रत्न के समान है किन्तु उससे कोई नपुंसक कुछ भी कार्य सम्पादन नही किया करता है। शिखा, प्रणव संस्कार, सन्ध्योपासना, मेखला, धारण, दण्ड, अजिन और पवित्रा आदि शूद्रों में बिना किसी अंकुश के हुआ करते हैं। शूद्रों का प्रसंग भी निवारित नही किया जा सकता है। दुर्वचन बोलने वाले का वंचन सभी मनुष्यों द्वारा किया जाता है। इसलिये शूद्र और ब्राह्मण में कोई किसी प्रकार का भेद नही रह जाता है। शाप देना या अनुग्रह करना, यह शक्ति का भेद नही होता। जबकि मनुष्य में चोर चार आदि क्षत्रियों दुर्जनों के द्वारा कुछ कह दिया जाता है। आत्म दुःख के उदय का उपाय और अपने जीवों में रक्षक करना इस कार्य में शूद्र समर्थ नही होता है। उसी प्रकार से ब्राह्मण भी असमर्थ हुआ करता है। भविष्य 1, 9–17/130.

ब्राह्मण– वहॉं लोक में गर्भाधान से आदि लेकर जिसके अडतालीस संस्कार शास्त्र के अनुसार पूर्ण किये गये हों, वह ही ब्रह्मा के स्थान को प्राप्त करता है और ब्राह्मणत्व से संयुक्त भी होता है।

ब्राह्मण को उचित है कि वह दान करे। यजन, स्वाध्याय, नित्य स्नान, तर्पण, अग्न्याधानादि कर्मों को करे। अपनी वृत्ति के लिये यज्ञ कराने, शिक्षा देने तथा न्याय से उपार्जित धन में ही न्याय के अनुकूल द्रव्य का संचय करे। कभी किसी का अहित चिन्तन न करे और सदा सब जीवों के हित में तत्पर रहे। सब प्राणियों से मैत्री भाव व न्याय रखना ब्राह्मण का परम धर्म कहा गया है। पराये धन और पाषाण में समान बुद्धि रखे।

क्षत्रिय– क्षत्रिय का कर्तव्य है कि ब्राह्मणों को उनकी इच्छानुसार धन दान दे, नाना प्रकार के यज्ञों को करें, अध्ययनशील रहे, शस्त्र धारण कर पृथ्वी की रक्षा करना ही क्षत्रिय की श्रेष्ठ आजीविका है, इनमें भी पृथ्वी का पारिपालन तो सर्वोत्कृष्ट ही है। राजा से दुष्ट को दण्ड़ देना और साधुजन का पालन करना चाहिये।

वैश्य– वैश्य के लिये अध्ययन, यज्ञ, दान और नित्य नौमित्तिक करना आवश्यक है।

शूद्र– शूद्र को द्विजातियों के प्रयोगानुकूल कर्म करना चाहिये, वही उसकी आजीविका है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं का क्रय–विक्रय या कारीगरी के काम में जीवन–यापन कर नम्रता, शौच, सेवा मंत्ररहित यज्ञ, स्वामीभक्ति, अस्तेय, सत्संग, ब्राह्मण–रक्षा शूद्र के प्रमुख कर्तव्य हैं। दान देना, नमस्कार और अल्प–यज्ञों का अनुष्ठान, अपने आश्रितों के परिपालनार्थ सब वर्गों से धर्म–ग्रहण करना चाहिये। सभी वर्णों के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उन्हें इन बातों का पालन अवश्य करना चाहिये– सब जीवों पर दया, तितिक्षा, अमानिता, सत्य, शौच, मंगलाचरण, प्रियवादिता, मित्रता, अकृपणता पर–दोष दर्शन, क्षुद्रता आदि गुण तो सभी वर्णों के द्वारा समान रूप से पालनीय हैं। विष्णु 1, 36–37/406.

तीनों वर्णों में पंचों के बहुत से गुण वाले होते हैं। जिसको भी ये होते हैं, वह यहाँ लोक में मान के योग्य होता है। दशमी को प्राप्त हुआ शूद्र भी मान के योग्य है। ब्राह्मण दस वर्ष की अवस्था वाला हो और क्षत्रिय राजा चाहे सौ वर्ष की उम्र वाला ही क्यों न हो, ये दोनों पिता और पुत्र के समान जानने चाहियें। उन दोनों में ब्राह्मण पिता के तुल्य होता है। इसी प्रकार से क्षत्रिय वैश्य का पति के समान होता है। मनीषियों ने विप्र को शूद्र का पितामह और प्रपितामह बताया है। धन, बन्धुता, अवस्था, कर्म और पाँचवी विद्या– ये मान्यता के स्थान हुआ करते हैं। इनमें जो उत्तर है, वही अधिक मान्यता का स्थान माना जाता है।

वर्णों की नमनीयता

पुराणों से ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था संकुचित व कठोर न थी। वर्ण परिवर्तन संभव था। वर्णोचित कर्मों के न करने पर व्यक्ति निम्न वर्ण को तथा उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को प्राप्त होते थे। शूद्र भी ऋषि व तपस्वी थे।

नाभागारिष्ट के दो पुत्र जो वैश्य थे, ब्राह्मणता को प्राप्त हो गये। पृषथ ने अपने गुरू देव की गाय की हिंसा की, अतः वह शूद्रत्व को प्राप्त हो गया। ब्रह्म 1, 42–43/79

धनदथा का शिष्य अर्णोदर अत्यन्त वीर्यवान व महान तपस्वी था, शूद्र था। वामन 1, 91/96.

विश्वामित्र क्षत्रिय थे किन्तु तप करके वे राजर्षि पद को प्राप्त हुए।

पद्म पुराण में शूद्र वीर विक्रम व तुलाधार की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है।

चार आश्रम

श्रुति दर्शन से चार आश्रम हैं– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। किन्तु इन चारों का मूल गृहस्थ का एक ही आश्रम है। इसलिये केवल एक ही गृहस्थ को धर्म–साधन मानना चाहिये। जो अर्थ तथा काम धर्म से वर्जित हों, उनका त्याग कर देना चाहिये। जो धर्म का विधान भी ऐसा हो कि सम्पूर्ण लोक के विरुद्ध हो, उसका भी त्याग कर देना चाहिये अर्थात उसका समाचरण न करें। धर्म से ही अर्थ होता है और धर्म से ही काम होता है। धर्म ही अपवर्ग की अभिज्ञात करने वाला है, अतएव धर्म का समाश्रय ही करना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम– यह त्रिवर्ग त्रिगुण माना गया है। धर्म की प्राप्ति कर्म के द्वारा होती है और ज्ञान से भी होती है– इसमें कुछ भी संशय नही है। इसलिये ज्ञान के सहित कर्म योग का समाश्रय करना चाहिये। वैदिक कर्म दो प्रकार के होते हैं– एक प्रवृत्ति मार्ग के कर्म होते हैं और दूसरे निवृत्ति मार्ग के कर्म हुआ करते हैं।

जो कर्म ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं, वे निवृत्त कर्म होते हैं और ज्ञान से रहित होते हुए ही किये जाया करते हैं, वे प्रवृत्त कर्म हुआ करते हैं। जो पुरूष निवृत्त कर्मों का सेवन किया करते हैं, वे परम पद को प्राप्त होतें है। इसलिये नित्य विशेष करके ब्राह्मणों का अर्चन– अहिंसा–प्रियवादिता–पिशुनता का न होना और अकल्पता यही मनु महर्षि ने संक्षेप में चारों वर्णों के धर्म बताये हैं। ब्रह्म 2, 52–68/63–64.

भली–भॉति ज्ञान का अर्जन करना– समस्त सांसारिक पदार्थों में वैराग्य, यही भिक्षुक में परम धर्म माना गया है। भिक्षा का करना, गुरू का शुश्रुषा, स्वाध्याय, सन्ध्योपासना तथा अग्नि कार्य, यह ब्रह्मचारियों का धर्म है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक– इन तीन आश्रमों में स्थित लोगों का साधारण धर्म है। अग्नि 1, 45–46/60.

ब्रह्मचर्य

जो कोई भी पुरूष अपनी इंद्रियों के समूह को पांचों भूत ग्रामों को निग्रहीत करके ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण पालन किया करता है, फिर इससे अधिक अन्य क्या तप हो सकता है? यही सबसे परम श्रेष्ठ तप होता है। मत्स्य 2, 40/80.

ब्रह्मचारी को उनके घरों में भिक्षा की याचना करनी चाहिये जो अपने कर्मों में रति रखने वाले तथा वेदों में जो रत रहा करते हैं। जो यज्ञादि करने में प्रेम रखने वाले पुरुष हैं तथा जो श्रद्धा से समन्वित होते हैं, उन्हीं के घरोंत्त कर्म का ही संसेवन करना चाहिये, अन्यथा इसी संसार में भ्रमण करना पडता है और प्रवृत्त कर्म से पुनः जन्म धारण करना ही होता है। क्षमा–दमन–दया–दान–लोभ का अभाव–त्याग–आर्जव असूया का न करना–तीर्थों का अनुसरण–सत्य–संतोष–आस्तिकता–श्रद्धा–इंद्रियों का निग्रह–देवगण का अभ्यर्चन–पूजा में प्रतिदिन ब्रह्मचारी को प्रयत होकर भैक्ष करना करना चाहिये। गुरू के कुल में तथा अपनी जाति कुल और बन्धुओं में भिक्षाचरण करना चाहिए। जब अन्य गौत्र वालों के यहॉ से इनका लाभ न हो तो क्रम–क्रम से पूर्व का वर्णन करना चाहिए। ऊपर बताये गये व्यक्तियों के संभव न होने पर सम्पूर्ण ग्राम में भिक्षाचरण करें किन्तु ग्राम में

जो अन्त्यज हों, उनका त्याग कर देना चाहिए। वाणी का नियमन करके प्रयत होते हुए अग्नि और शस्त्र को त्याग देवें। जब लाभ न हो तो चारों वर्णों के यहाँ भैक्ष कर लेना चाहिए। समीप से समिधाएं लाकर गृह के ऊपर रख देवें फिर उन समिधाओं से तन्द्रारहित होकर सांयकाल और प्रातःकाल हवन करना चाहिए। भिक्षाचरण और उस अग्नि का हवन न करके स्वस्थता की दशा में सात रात्रि तक अवकीर्णि व्रत करना चाहिए। रुग्णावस्था में कोई प्रायश्चित नहीं होता है। मनीषिगण शिक्षा से इस ब्रह्मचारी के वर्त्तन के विषय में कहते हैं कि भैक्ष से एक ही अन्न को खाने वाला व्रती होता है। भिक्षा के द्वारा जो व्रती की वृत्ति होती है, वह उपवास के तुल्य ही कही गयी है। यैवत्य कर्म में और पित्र्य कर्म से व्रत की भाँति तथा ऋषि की तरह यदि अभ्यर्थना द्वारा बुलाया गया हो तो इच्छापूर्वक भोजन करें। यह भी व्रत के ही तुल्य माना जाता है। इससे ब्रह्मचारी के व्रत का लोप नहीं होता है। भविष्य, सावित्री महात्म्य, 84–91/89.

दण्ड, जनेऊ– चारों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिये अलग–अलग प्रकार के हैं। भिक्षाटन के समय ब्राह्मण ब्रह्मचारी को 'भवति भिक्षा देहि', क्षत्रिय को 'भिक्षा भवति देहि' तथा वैश्य को भिक्षा देहि भवति' बोलना चाहिये।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में अकेला प्रवेश नहीं करता। वह ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देह के अन्त तक गुरू के पास रहता है।

गृहस्थ

गृहस्थ को बंधन नहीं, योग की संज्ञा दी गई है। अज्ञानियों के लिए तो वह बंधन ही है, क्योंकि इसमें सैंकड़ों तरह के झंझट पग–पग पर अवस्थित होते रहते हैं। परन्तु विवेकी पुरुष इस संघर्षमय जीवन को ही अपने उत्थान का माध्यम मानते हैं। इसमें जो दुःख आते हैं, वह विकास के भविष्य की आशा लेकर आते हैं। गृहस्थ में क्रियाशीलता, चेतना और जागरूकता बनी रहती है, जो आत्मिक साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थ किसी पर निर्भर नहीं रहता, अन्य आश्रमों का यह आश्रय स्थल है, यह किसी की

सहायता नहीं चाहता, यह औरों की सहायता करता है। इसलिये इस आश्रम में आत्म विकास की काफी संभावना निहित है। तभी विष्णु पुराण में (2।1।9।11) गृहस्थ के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा है। पितरों को पिण्ड दानादि से, देवताओं की यज्ञादि के अनुष्ठान से, अतिथियों की अन्नदान से, ऋषियों की स्वाध्याय से, प्रजापति की पुत्रोत्पादन से, भूतों की बलि से और सम्पूर्ण विश्व की वात्सल्य भाव से संतुष्टि करे। अपने इन कर्मों से वह पुरुष श्रेष्ठ लोक को प्राप्त कर लेता है। भिक्षा वृत्ति पर निर्भर रहने वाले परिव्राजकों और ब्रह्मचारियों आदि का आश्रय भी यह गृहस्थाश्रम ही है, इसलिये इसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

गृहस्थ को प्रेरणा देते हुए कहा गया है (3–12–7) कि 'वह प्रतिदिन देवता, गौ, ब्राह्मण, सिद्धगण, गुरूजन और आचार्य का पूजन करे तथा दोनों समय सन्ध्योपासना और अग्निहोत्र करे। संयम पूर्वक रहे। किसी के किंचित मात्र भी धन का अपहरण न करे, अप्रिय–भाषण न करे, पर नारी में प्रीति न करे, दुष्टों के साथ कभी मित्रता न करे।' आज इन आदर्शों और कर्त्तव्यों पर ध्यान नहीं दिया जाता, इसलिये इस परम् पवित्र गृहस्थ आश्रम को बोझ अनुभव किया जाता है।

गृहस्थ के द्वारा तीनों वर्ग (वर्गत्रयी– धर्म अर्थ, काम) के साधन में यत्न करना चाहिये। गृहस्थों को चाहिये कि वे असत्प्रलाप न करें, न सत्य से रहित वार्तालाप करें, निष्ठुर वचन न कहें, ऐसा वचन भी न कहें जिसके कहने पर साधुजनों के निन्दा के योग्य हो जायें। सभी अन्य योनियों, परायी स्त्री में रति न करें। वृथा धन, वृथा दान, वृथा पशुओं का मरण, दाराओं का परिग्रह ग्रहस्थ को नही करना चाहिये। पराया धन व परायी स्त्री मे बुद्धि न करें। परायी स्त्री को नग्न न देखें। तस्कर वृत्ति वालों से सम्भाषण न करें। सौतेली माँ, पुत्री, सगी बहिन या परायी स्त्री के साथ एक आसन व शैया पर न बैठें। नग्न स्नान व शयन न करें। बिल्कुल दिगम्बर होकर परिभ्रमण भी अभीष्ट नही माना जाता है। वामन 1, धर्मानुशासन वर्णन.

गृहस्थरमी पुरूष को भी नित्य स्वाध्याय करने के स्वभाव वाला होना चाहिये और सर्वदा यज्ञोपवीत के धारण करने वाला रहना चाहिये। पद्म 2, 20/91.

वानप्रस्थ

जो गृहस्थाश्रम में रहता है, उसको अपने पुत्र के पुत्र को देखकर अर्थात नाती उत्पन्न हो जाने पर वन में जाकर आश्रम बना लेना चाहिये। अपनी आयु के तीसरे भाग में अकेला अथवा अपनी भार्या के साथ रहना चाहिये। अर्थात वानप्रस्थी वन में आश्रम में अपनी भार्या के साथ रह सकता है। उग्र तपश्चर्या करनी चाहिए। जटा–धारण, भूमि–शयन, अल्पाहार, ब्रह्मचर्य–पालन, अतिथि व देव पूजा आदि नियमों का पालन करें। अग्नि 1, वानप्रस्थाश्रम, पृ0 303–4.

संन्यासी

वामन पुराण–1 के धर्मानुशासन वर्णन के अन्तर्गत कहा गया है कि संन्यासी को अपनी प्राण यात्रा के लिये प्रशस्त वर्णो के घर में उस काल में जाना चाहिये, जब चूल्हों की अग्नि बुझ जाये और घर के लोग भोजन कर लें। यदि भिक्षा न मिले तो ह्रदय में विषाद करने वाला न बने, भिक्षा मिलने पर हर्षित भी न हो। केवल प्राण यात्रा के निमित्त जितना आवश्यक हो, उतना ही ग्रहण करे तथा मात्रा के संग से विनिर्गत होना चाहिये। सभी ओर से अति पूजित होकर प्राप्त होने वाले लाभों को तथा जुगुप्सा को भी त्याग कर देना चाहिये। समाज में अत्यधिक पूजा पाने वाले संन्यासी मुक्त होकर भी बद्व हो जाया करते हैं। तात्पर्य यह है कि संन्यासी को अधिक सम्मान तथा पूजा कभी प्राप्त नही करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से बन्धन ही होता है। संन्यासी अथवा यति (परिव्राजक) को काम, क्रोध, दर्द, लोभ, मोह ओर मात्सर्य आदि जो महान मानसिक दोष शत्रु के स्वरूप में रहते हैं, उनका सबका त्याग कर देना चाहिये और पूर्णतया ममता से रहित होकर जीवन–यापन करना चाहिये।

संस्कार

प्राचीन भारतीय समाज में गर्भाधान से लेकर मृत्यु के पश्चात भी विशेष प्रकार के संस्कार सम्पन्न किए जाने निश्चित किए गए थें। ये संस्कार क्रम से यें होते हैं– सबसे प्रथम गर्भाधान संस्कार होता है। फिर पुंसवन होता है, सीमन्तोनयन, जात–धर्म और प्राशन, चूड़ोपनयन, चार ब्रह्म–व्रत और उसके अनन्तर स्नान, सुहृदधर्मचारियों के साथ भोग अर्थात विवाह, पांच यज्ञों के कर्म का कार्य है। ये समस्त संस्कार आत्मा के श्रेय के लिये ही होते हैं। देव, पितृगण और मनुष्यों के भूतों के और ब्रह्म के कल्याण के लिये होत हैं। भविष्य 1, 124–126/61.

सबसे प्रथम संस्कार गर्भाधान होता है जिससे गर्भ की स्थिति की जाती है। इसके अनन्तर 'पुंसवन' नामक संस्कार गर्भावस्था में स्थित बालक का किया जाता है, फिर 'सीमन्तोनयन संस्कार' होता है। यह भी माता के उदरस्थ बालक का ही किया जाता है। अब चतुर्थ संस्कार 'जात–कर्म' नाम वाला है जो कि जन्म ग्रहण करने पर होता है। उसके अनन्तर 'नामकरण संस्कार' है, जिसमें नवजात बालक का शास्त्र की विधि से नाम रखा जाता है। इसके अनन्तर नवजात जब कुछ बड़ा होता है तो 'चूडाकर्म संस्कार' होता है, जिसमें मुंडन कराकर चोटी रखी जाती है। फिर व्रत बन्ध होता है जिसमें सम्पूर्ण वेदाध्यान आदि वेद के व्रतों का पालन आरम्भ करता है और उपनयन होता है। फिर वेद–व्रत' को समाप्त करने के पश्चात समावर्तन संस्कार तथा पत्नी के साथ योग विवाह संस्कार होता है। भविष्य 1, 33–34/88.

उपनयन संस्कार से सम्पन्न होकर वेदों का अध्ययन करना चाहिये। गर्भ से आठवे वर्ष में अथवा जन्म से आठवें वर्ष में अपने सूत्र में कथित विद्वान के अनुसार ही उपनयन संस्कार सम्पन्न होना चाहिये। कूर्म 2, 4/119.

ब्राह्मण का उपनयन गर्भ से आठवे या जन्म से आठवे वर्ष, क्षत्रिय का यज्ञोपवीत 11वे वर्ष, वैश्य का उपनयन 12वे वर्ष (गर्भ से) होना चाहिए किन्तु सोलह वर्ष के बाद नही किया जाना चाहिये।

उपनयन संस्कार के पश्चात बालक 'अन्तेवासी' कहलाता था तथा 24–25 वर्ष की आयु तक गुरूकुल में रहकर अध्ययन करता था। ब्राह्मण का उपनयन सदा बसन्त में ही प्रशस्त होता है। मनु महर्षि ने क्षत्रिय का उपनयन ग्रीष्म में अच्छा बताया है। शरद् ऋतु के प्राप्त होने पर वैश्य का उपनयन संस्कार श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार से यह व्रत के योजन में तीन प्रकार का काल कहा गया है। भविष्य, 108–109/91.

सदोपनयनशस्तं बसते ब्राह्मणस्य तु।
क्षत्रियस्य ततो ग्रीष्मे प्रशस्त मनुरब्रवीत्।। 108
प्राप्ते शरदि वैश्यस्य सदोपनयनं परम्।
इत्येष त्रिविधः कालः कथितो व्रतयोजने।। 109

विद्यारम्भ

जब बालक का पांचवा वर्ष आरम्भ हो जावे तभी उसका विद्यारम्भ संस्कार कराना चाहिये। इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि षष्ठी और प्रतिपदा तिथि न हो। विद्यारम्भ में इन दोनों तिथियों को त्याग देना चाहिये। भविष्य, 2–5, पेज 251.

तत्कालीन समाज के गुण–दोष

पुराणों में तत्कालीन समाज के गुण–दोषों की महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। प्रत्येक कालखंड में समाज में अच्छी–बुरी, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं। राष्ट्र का हित इसी में होता है कि जनता के समक्ष देश में फैल रहे सामाजिक दोषों व कुरीतियों को स्पष्ट किया जाए और बताया जाये कि किस प्रकार राष्ट्र को विकास की ओर ले जाया जा सकता है। इस दायित्व का निर्वहन पुराणकारों ने भली प्रकार किया है। पुराणों में ऐतिहासिक वर्णनों के साथ–साथ उस समय की सामाजिक दुर्दशा का

स्पष्ट उल्लेख किया गया है। तत्कालीन सामाजिक दशाओं के कतिपय उदाहरण ही यहाँ दिए जा रहे हैं।

दोष–

राजाओं का अन्याय और अत्याचार– राजा वेन के राज्यकाल का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में कहा गया है कि जब वह (वेन) राजपद पर अभिषिक्त हुआ था, तभी उसने विश्व भर में यह घोषित कर दिया था कि मैं भगवान हूँ, यज्ञ पुरुष और यज्ञ का भोक्ता एवं स्वामी मैं ही हूँ। इसलिये अब कभी कोई भी मनुष्य दान और यज्ञादि न करे। इससे उस समय में राजाओं की नादिरशाही का परिचय मिलता है। प्रह्लाद का पिता द्वारा उत्पीड़ित होने तथा ब्राह्मणों द्वारा राजा के दुष्कृत्यों का समर्थन किये जाने का प्रसंग पुराण में है। कंस के अत्याचारों का भी विशद् वर्णन इस पुराण में है। कंस को निरन्तर यही आशंका रहती थी कि उसे कोई अज्ञात शक्ति अवश्य नष्ट कर देगी। कंस ने अपनी बहिन देवकी व बहनोई को कारागार में डालकर उनकी नवजात संतानों का वध कर दिया।

युद्ध व हत्यायें– छोटी–छोटी बातों पर हत्याएं अब भी होती हैं और पहले भी होती थीं। हत्या से मानव मन की क्रूरता का पता चलता है। उस मूल्यवान शरीर को, जो आत्म–विकास के लिए प्राप्त हुआ है, उसे क्षण भर में नष्ट कर देना महान पाप है। विष्णु पुराण के चतुर्थ अंश के 13 वे अध्याय में स्यमन्तक मणि के कारण अनेकों हत्याएं होने का वर्णन है। इस मणि के कारण ही सत्यजीत की शतधन्वा द्वारा हत्या की गई तथा सत्यभाभा द्वारा श्री कृष्ण को शतधन्वा की हत्या हेतु प्रेरित किया गया।

भरत की 3 पत्नियों द्वारा अपनी संतानों को पिता के अनुरूप न मानते हुए हत्या कर दी गई। भरत के अपने तीन पत्नियों से नौ पुत्र थे। भरत ने जब उन्हें अपने अनुरूप न बताया तो उनकी माताओं ने अपने परित्याग किए जाने की आशंका से उन पुत्रों की हत्या कर दी।

नरमाँस भक्षण।

विष्णु पुराण में सौदास यज्ञ में एक छदम्वेशी रसोइये राक्षस द्वारा वशिष्ठ को नरमाँस खिला दिये जाने का वर्णन है। राक्षसत्व प्राप्त राजा भी एक मुनि को मार कर खा जाता है।

मांस–मदिरा, जुए की कुप्रवृत्ति

राजवंशों में मांस का सेवन होता था। विष्णु पुराण में पुराणकार ने लिखा है– राजा इक्ष्वाकु ने अष्टका श्राद्ध का आरम्भ किया और अपने पुत्र विकुक्षि को श्राद्ध योग्य मांस लाने की आज्ञा दी। वह वन में आकर मृगों को मारने लगा। अत्यन्त क्षुधार्त्त होने के कारण विकुक्ष ने उनमें से एक खरगोश का भक्षण कर लिया और शेष मांस पिता के समक्ष लाकर रखा।

मदिरापान के भी अनेकों उदाहरण पुराणों में दिए गए हैं। जिनसे विदित है कि उस समय मदिरा का प्रचलन था और उसे राजवंश में बुरा नहीं माना जाता था। बलराम जी मद्यपान के आदी थे। यादव भी मद्यपान करते थे।

यज्ञ में हिंसा

पुराणों में यह प्रमाण भी मिलते हैं कि यज्ञ में प्राणियों की बलि दी जाती थी। भविष्य पुराण में उल्लेख है कि–

ये सब हिंसा यज्ञों के परायण थे और सभी यहाँ से स्वर्गलोक में चले गये थे, जो पुत्र बुद्ध उत्पन्न हुए, वे सब वर्णसंकर थे। भविष्य 1, 39/292.

अवैध संतान

पुराणों से काम के वशीभूत होकर अवैध संतानों को उत्पन्न करने की घटनाओं का पता चलता है। पुरूरवा–उर्वशी द्वारा बिना विवाह के संतान उत्पन्न हुई तथा चन्द्रमा द्वारा देवगुरू ब्रह्मचारी पत्नी तारा के अपहरण के पश्चात बुद्ध का जन्म होने पर तारा ने

उसे सींकों की झाडी में फेंका। गुरूपत्नी शिष्य के लिए पूज्य होती है, उस पर आसक्त होना घोर पतित अवस्था का परिचायक है। इन्द्र ने छल से अहिल्या को दूषित किया।

कामासक्ति व भोग–लिप्सा

कामासक्ति और भोग की कुछ विचित्र घटनायें विष्णु पुराण में दी गई हैं। यथा– 'एक बार अहिल्या के परपौत्र सत्य धृति ने अप्सरा उर्वशी को देखा तो उसके प्रति कामासक्त होने से उसका वीर्य स्खलित हो गया और सरकण्डे पर जा गिरा।' 4/10–65

विश्वामित्र की तरह कण्डु नामक ऋषि का एक अप्सरा के जाल में लम्बे समय तक भोगासक्त होने का वर्णन है।

भोगों में लिप्त होने का राजा ययाति का उदाहरण अपने ढ़ंग का एक ही है। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भी उसने 1000 वर्ष तक भोग करने की इच्छा की। दो पुत्रों ने उसे अपना यौवन देने से इंकार कर दिया, परन्तु पुरु ने ययाति की वृद्धावस्था लेकर अपनी युवावस्था दे दी। यौवन प्राप्त करके ययाति ने एक हजार वर्ष तक विश्वाची और देवयाणी नाम की अपनी पत्नियों के साथ अनेक प्रकार के सुखों का उपयोग किया।

बहुपत्नी व बहुपति प्रथा

आज तो किसी की एक से अधिक पत्नी नहीं होती है। यदि कोई विरला उदाहरण मिल भी जाए तो उसे असम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, परन्तु प्राचीन भारत में बहुपत्नी व बहुपति विवाह मान्य था। उदाहरण के लिए ब्रह्माजी ने अपनी दस कन्याएं धर्म के और तेरह कश्यप के साथ ब्याह दीं। फिर काल परिवर्तन में नियुक्त हुई अश्विनी आदि 28 कन्याएं चन्द्रमा को दी। 'महर्षि सौभरि ने राजा मान्धाता की पचास कन्याओं से विवाह किया। (अंश 4, अध्याय–2)'

'राजा शिशिविन्दु के एक लाख स्त्रियां थी जिनके दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए।'

भागवत में उल्लेख है कि- 'इस मृत्यु लोक में प्रकट हुए भगवान वासुदेव की सोलह हजार एक सौ एक रानियां हुई। इन सब रानियों के उदर से भगवान के एक लाख अस्सी हजार पुत्र उत्पन्न हुए।' ''कालिय की सैंकड़ों नाग पत्नियां थी।'' स्मरण रहे कि कालिय नाग जाति के नेता थे। 'रुक्मणि के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की सात रानियां थी। इनके अतिरिक्त उनकी 16000 रानियां और थी।

संभव है कि उस समय स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या न्यून हो और एक से अधिक रखने की स्वतंत्रता हो।

द्रोपदी के पॉच पति थे। जबकि सभी पतियों की अन्य पत्नियां भी थी। प्राचीन भारत में नियोग प्रथा भी मान्य थी। सामाजिक व धार्मिक स्वीकृति से ही ऐसा किया जाता था।

बहुसंतान प्रवृत्ति

आज देश की आबादी तेज गति से बढ़ती जा रही है। आबादी का तीव्र गति से बढ़ना राष्ट्र की सबसे गम्भीर समस्या हो गई है। आज अधिक संतान अभिशाप सिद्ध हो रही है क्योंकि इस महंगाई के युग में अधिक बच्चों का ठीक तरह से पालन-पोषण संभव नही।

प्राचीन काल में स्थिति इसके विपरीत थी। मृत्यु दर अधिक थी और आबादी कम थी। कृषि प्रधान देश होने के कारण खाद्य सामग्री आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होती थी, इसलिए लोग अधिक संतान उत्पन्न करने के आकांक्षी रहते थे। यह विष्णु पुराण के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा-

''दक्ष प्रजापति के प्रसूति से 24 कन्याएं उत्पन्न हुई। सुना जाता है कि फिर दक्ष प्रजापति ने 60 कन्याएं उत्पन्न की।' 'रैवत पुत्र रैवत ककुदमी हुआ जो अत्यन्त धार्मिक और अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ था।' 'शतबिन्दु की पुत्री बिन्दुमति से उस मान्धाता ने विवाह किया जिसमें पुरुत्कुस, अम्बरीष और मुचुकुन्द नामक तीन पुत्र और पचास कन्याएं

उत्पन्न हुई।' 'कालान्तर में उन राजकुमारियों के द्वारा सौभरि ने डेढ़ सौ पुत्र उत्पन्न किए।' 'सगर पत्नियों से एक से एक पुत्र और दूसरी से साठ हजार पुत्रों की उत्पत्ति हुई।'

''रजि के अत्यन्त बली और पराक्रमी पॉच सौ पुत्र उत्पन्न हुए।' 'राजा शशिबिन्दु के एक लाख स्त्रियां थी, जिनसे दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए।' भगवान वसुदेव के एक लाख अस्सी हजार पुत्र थे।' 'महर्षि च्यवन के वंशज के सौ पुत्र उत्पन्न हुए।' धृतराष्ट्र द्वारा गान्धारी के दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए। 'श्रीकृष्ण ने पुर के सहस्त्र पुत्रों को अपने चक्र की धार रूप ज्वाला में पतंग के समान जला दिया।' 'नरकासुर के अन्तःपुर में सोलह हजार पत्नियां थी।' 'इस प्रकार भगवान की अन्य पत्नियों से भी अठाइस हजार आठ सौ पुत्रों का जन्म हुआ।'

संख्या के संबंध में इनमें अतिशयोक्तियॉ अवश्य हैं, परन्तु अधिक संतान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का इससे पता चलता ही है। अधिक संतान भी उस समय गौरव का कारण मानी जाती होंगी।

विवाह संबंधी अनियमिततायें

विवाह संबन्धों में विकृतियॉ आधुनिक समय में ही पनपी हों, ऐसी बात नहीं। युग की परिस्थितियों के अनुसार उनका रूप भले ही बदल गया हो।, किन्तु पहले भी ये विद्यमान थी।

अनमेल विवाह की भी ऐसी घटनाएं विष्णु पुराण में दी गयी हैं, जिनकी पुनरावृत्ति आज के कलियुग मे भी संभव नहीं। राजा ज्यामघ की रानी शैव्या से कोई संतान नहीं थी, परन्तु वह उसके भय से दूसरा विवाह भी नहीं कर सकता था। एक बार युद्ध में उसे एक सुन्दर राजकुमारी मिली। वह उस पर आसक्त हो गया और उससे विवाह की योजना बनाई ताकि उसको कोई संतान हो जाये। इसी दृष्टि से राजा ने उसको अपने रथ में बिठा लिया और सोचा कि शैव्या की अनुमति से इससे विवाह कर लूंगा। जब राजधानी

पहुँचा तो राजा ने भय से कहा कि यह मेरी पुत्रवधु है। इस पर शैव्या ने कहा कि मेरा तो कोई पुत्र नहीं है, फिर यह आपकी पुत्रवधु कैसे हुई? राजा ने डरते हुए कहा–'मैनें तुम्हारे होने वाले पुत्र के लिए अभी से यह पत्नी निश्चित कर दी है।' रानी इस पर सहमत हो गई। कुछ कालोपरान्त शैव्या के गर्भ से एक पुत्र हुआ, और उसी से उस राजकन्या का विवाह हुआ।

हिन्दू संस्कृति में सपिण्ड विवाह का निषेध है परन्तु कृष्ण की आज्ञा से वह सम्पन्न हुए हैं। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने रुक्मी की कन्या की कामना की और उस कन्या ने भी प्रद्युम्न का स्वयंवर में वरण कर लिया। रुक्मी, कृष्ण की पत्नी रुक्मणि का भाई था। इसका अर्थ हुआ कि प्रद्युम्न ने अपने मामा की कन्या से विवाह किया, जो आज कहीं भी प्रचलन में नहीं है। प्रद्युम्न ने उस रुक्मी सुता से अनिरुद्ध नामक पुत्र उत्पन्न किया। श्रीकृष्ण ने रुक्मी की पौत्री के साथ उसका विवाह किया।

इस प्रकार सपिण्ड विवाह, कम आयु की पत्नी अथवा बहुत बड़ी आयु की पत्नी रखने के उदाहरण मिलते हैं।

ऊँच–नीच का भेदभाव

ऊँच और नीच के भेदभाव मानव के अपने बनाए हुए हैं। भगवान ने तो सबको समान अधिकार देकर पृथ्वी पर अवतरित किया है। ईश्वर द्वारा बनाई हुई जितनी वस्तुएं हैं, सभी प्राणी उनका समान रूप से उपयोग करते हैं। सूर्य की किरणें, वायु, जल आदि किसी जाति या प्राणी विशेष के साथ किसी बात का भी पक्षपात नहीं करते। प्राकृतिक वस्तुओं का समवितरण प्रेषित करता है कि हमें हर प्राणी के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये। जातियों और वर्णों के भेदभाव आपसी संघर्षों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। हिन्दू संस्कृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र– चार वर्ण सुविधा की दृष्टि से बनाए गए हैं, छोटे–बड़े की दृष्टि से नहीं। शास्त्र भी इसका अनुमोदन करते हैं। महाभारतकार का कहना है कि पहले यहाँ केवल एक ब्राह्मण वर्ण ही था। शान्ति पर्व अ0

118 के श्लोक 10 में भृगु ने कहा है," वर्णों की कोई विशेषता नहीं। इस समस्त संसार को ब्रह्माजी ने ब्राह्मणमय ही बनाया है। पश्चात कर्मों के अनुसार वर्ण बनें।" भागवतकार का यही कथन है–"सर्वप्रथम एक ही सर्वांगमय प्रणव, एक ही अद्वैत नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था।" (9 |14 |) भगवान ने चार वर्ण उत्पन्न किए हैं। हर वर्ण को अपने धर्म और कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। यही भगवान ने आदेश किया।

जिन जातियों ने समानता के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया, यह तीव्र गति से बढ़ती गई और अब भी बढ़ रही हैं। परन्तु जहाँ ऊँच–नीच के रोग ने जन्म लिया, उनका ह्रास होता चला गया। दुर्भाग्य से हिन्दू जाति का यह विशेष अवगुण रहा है। कुछ कुन्ठित बुद्धि के शास्त्रकारों ने भी इसका समर्थन किया और उसके आधार पर यह रोग व्यापक रूप से फैला। शूद्रों को छोटा व घृणित समझकर उनकी घोर उपेक्षा की गई, उनसे अधिकार छीन लिए गए, समाज में उनको अपने साथ बैठने तक नहीं दिया गया, जहाँ तक हो सका उन्हें दबाया गया। अन्य सम्प्रदायों ने इस कमजोरी का फायदा उठाया। उन्हें गले लगाया और सभी प्रकार की सुविधाएं दी।

वर्णों में भेद होने के कारण खानपान में भी भेद हो गया। दूसरे वर्णों की तो बात ही क्या, एक ही वर्ण में विभिन्न प्रकार के भेदों ने जन्म लिया और खानपान के नियम बन गए। इन विषयों का उल्लेख होने पर विवाद उत्पन्न होते हैं। विष्णु पुराण के अनुसार यादवों में भी मतभेद थे और उनका नाश इसी कारण से हुआ। पुराणकार ने कहा है– "मेरा पदार्थ शुद्ध है, तेरा भोजन ठीक नहीं। इसी प्रकार विवाद करते हुए उन यादवों में संघर्ष होने लगा। तब वह दैवी प्रेरणा से परस्पर शस्त्र प्रहार करने लगे और जब शस्त्र भी समाप्त हो गये तो उन्होंने निकटवर्ती क्षेत्र से सरकण्डे ग्रहण किए। सरकण्डे वज्र जैसे लग रहे थे, उन्हीं के द्वारा वे परस्पर आघात–प्रतिघात करने लगे।"

यह कुप्रवृत्ति आज भी विद्यमान है। हिन्दू संस्कृति के उत्थान के लिए इसका जड़ से उन्मूलन होना आवश्यक है। जाति को बहुत बड़ा माना गया है। पुराण कहता है कि–

अठारह विद्याओं में मीमांसा विद्या अत्यन्त बड़ी है। इससे भी अधिक गुरू तर्क शास्त्र है। उनसे भी अधिक धर्म शास्त्र होते हैं और उनसे भी अधिक गुरू जाति है। स्कन्द 2, 4/47.

गुण—

बुरे शासक की अपदस्थता

राजा का स्थान सामाजिक व्यवस्था में अति उच्च था। उसमें अनेक उत्तम गुणों की अपेक्षा की जाती थी। प्रजावत्सलता व प्रजा की रक्षा करना उसके लिए अत्यावश्यक था। बुरे शासकों को हटाकर उसके स्थान पर योग्य शासक नियुक्त करने के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं।

"जब राजा वेन के शासन में घोर अव्यवस्था फैली और दीन मनुष्यों ने धनवानों को लूटना आरम्भ कर दिया तो महर्षियों ने परामर्श किया और वेन के स्थान पर योग्य शासक नियुक्त किया।"

अत्याचारी कंस का वध श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया, हिरण्यकश्यप का वध भगवान नरसिंह द्वारा तथा रावण का वध श्रीराम द्वारा किया गया और उचित पात्रों को उत्तराधिकारी बनाया गया।

धार्मिक उदारता

कुछ पुराणकारों ने महात्मा बुद्ध को 'माया–मोह' कहा जबकि भागवतपुराण में कहा गया है कि हिंसा की बहुत प्रबलता होने पर भगवान बुद्ध के रूप में प्रकट हुए। स्कन्द पुराण में भी बुद्ध की बहुत प्रशंसा की गई है। ऋषभ देव और महावीर स्वामी को पुराणों में अत्यन्त सम्मान दिया गया है।

विष्णु पुराण में कहा गया है– "वहाँ वंग, मागध, मानस और मंदग नामक चार वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। उस शाक द्वीप में शास्त्र सम्मत कर्म करने वाले चतुर्वर्ण द्वारा सूर्य रूपी भगवान विष्णु की आराधना की जाती है।"

इस धार्मिक उदारता के कारण वैष्णव धर्म का देश–विदेश में विस्तार हुआ सभी वर्ण समान रूपों से यज्ञों में सम्मिलित होते थे।

वर्ण व्यवस्था के विषय में भागवत पुराण कहता है–

सर्वप्रथम एक ही सर्वागमद प्रणव, एक ही अदैत नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था।

वर्णो की कोई विशेषता नही, इस समस्त संसार को ब्रह्मज्ञानी ने ब्राह्मणरूप ही बनाया है, पश्चात कर्मों के अनुसार वर्ण बने। (शांति पर्व, अ0 118, श्लोक 10, महाभारत) बाद में ऊँच–नीच फैल गया।

सर्वधर्म समभाव

पुराणों में तत्कालीन समाज में धार्मिक सहिष्णुता व सद्भावना होने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

एक सच्चे धार्मिक व्यक्ति के लक्षण पुराण में इस प्रकार बताए गए हैं–

वे स्वयं ही धर्म को पालते हैं और अपने मत से ही भाषण किया करते हैं। वे परिवाद को नही किया करते हैं, वे सभी धर्मों में सुनिश्चित हुआ करते हैं। अन्य धर्म के मार्ग में स्थित होकर भी कभी भी धर्म के कार्यों की निन्दा नही किया करता है। जिस धर्म के द्वारा पुरूष गर्भ के संसार रूपी सागर से तर जाया करते है, वे पुरूष अपनी इंद्रियों को जीत लेने वाले, क्रोध पर विजय पाने वाले तथा लोभ से रहित होते हैं। वे नित्य ही आत्मा के उपकारक अर्थात अपने आप का उद्धार करने वाले और देव, अतिथि

और गुरू के प्रिय होते हैं। वे हिंसा आदि को कभी नही किया करते हैं तथा मधु और मांस से रहित ही रहते हैं। विष्णु 2, 20–23/17.

पुराण में ईसा मसीह का भी उल्लेख है। ईसा मसीह का उपदेश इस पुराण में इस प्रकार दिया गया है–

अपने मन को निर्मल करके तथा देह में शुभाशुभ मन को हटाकर नैगम अर्थात नियमोक्त जप में आस्थित होकर परम निर्मल का जप करना चाहिये। मानव को न्याय, सत्य वचन और मन की एकाग्रता से इसे करना चाहिये। सूर्य मंडल में संस्थित करने वाले ईश को ध्यान से पूजना चाहिये। यह साक्षात अर्थात प्रभु अचल एवं स्थिर है।

श्रद्धा, कृतज्ञता और विश्वत्व की उच्चतम भावना

श्रद्धा भारतीय संस्कृति का प्राण है। इसे निकाल देने पर वह प्राण–हीन सी हो जायेगी। भगवत्प्राप्ति की सीढ़ियॉ चढ़ने के लिए भी यह आवश्यक है। इसीलिए इसे जाग्रत रखने और बढ़ाने के लिए अनेकों विधि–विधान और उपाय बताये गये, ताकि इनके सहारे साधक निरन्तर आगे बढ़ता जाये। विष्णु पुराण में कहा है कि जल तर्पण करते समय यह कहा जाना चाहिए–

"जो मेरे बन्धु हैं अथवा अबन्धु हैं या पहले किसी जन्म में बन्धु थे, या जो मुझसे जल प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, वे सभी मेरे द्वारा दिए गए इस जल से तृप्त हों। क्षुधा–पिपासा से व्याकुल कोई प्राणी जहॉ कहीं भी हो, वे मेरे द्वारा दिए गए इस तिल जल से तृप्त हो जायें।"

बड़ों का सम्मान करना हिन्दू संस्कृति की एक महान विशेषता है। यह सामान्य शिष्टाचार में सम्मिलित है। माता–पिता, गुरू व वृद्धजनों की आज्ञा पालन का यहॉ साधारण नियम था जिसका हर कोई पालन करता था। इस नियम में इतनी दृढ़ता आ गई कि वृद्धजनों की मृत्यु हो जाने पर भी उसके प्रति सम्मान बना रहता था। उस सम्मान के प्रतीक के रूप में उन्हें जल से तर्पण किया जाने लगा। जिन पूर्वजों के

कारण आज हमारा इतना उत्थान हो पाया, उनकी उस कृपा के प्रदर्शन के लिए यह विधान बनाए गए हैं। कृतज्ञता का गुण मानवता का लक्षण है। जो इससे हीन है, उसमें मानवता का अभाव समझना चाहिए।

जिससे ज्ञान की प्राप्ति हो उसे पहले अभिवादन अर्थात प्रणाम करना चाहिये। केवल सावित्री के सार को जानने वाला, सुगन्धित रहने वाला विप्र श्रेष्ठ होता है। शय्या और आसन पर श्रेष्ठ पुरूष के साथ कभी नही बैठना चाहिये। शय्या और आसन पर स्थित हों तो भी उससे तुरन्त उठकर ऐसे श्रेष्ठ पुरूष को अभिवादन करना चाहिये। जो नित्य ही अपने से बड़ों के लिये अभिवादन करने के स्वभाव को रखने वाला होता है और बड़ों की सेवा–शुश्रुषा करने वाला होता है, उसके आयु, प्रज्ञा, यश और बल– ये चार बढ़ा करते हैं। जो विप्र अभिवादन करने में परायण हो, उसे अपने से बड़ों का अभिवादन करना चाहिये और अभिवादन करने के समय में 'अमुक नाम वाला मैं हूँ, जो कि आपको प्रणाम कर रहा हूँ' इस तरह से अपने नाम का उच्चारण करना चाहिये। जो कोई अभिवादन करने वाले के नाम को नही जानते हैं, उनके आगे 'मैं प्राज्ञ हूँ' ऐसा ही बोलना चाहिये। जो ब्राह्मण अभिवादन का प्रत्याभिवादन करना नही जानता है, ऐसे के लिये विद्वान पुरूष को कभी भी अभिवादन नही करना चाहिये। क्योंकि वह तो जैसा एक शूद्र होता है, वैसा ही हुआ करता है। अभिवादन करने पर जो अभिवादन ही किया करता है, अथवा आशीर्वाद के वचन नही कहता है, वह पुरूष निश्चय ही परम नरक में जाया करता है। भविष्य 1, 43–56 / 82.

यह कृतज्ञता, श्रद्धा और सहयोग की भावना केवल अपने संबंधियों तक ही सीमित नहीं है। इसमें सभी प्राणियों का श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। विश्व के सभी अभावग्रस्तों और दुखियों के प्रति सद्भावना व्यक्त की गई है, शत्रुओं के प्रति भी सहानुभूति प्रकट की गई है। इससे विश्व–बन्धुत्व की भावना जाग्रत होती है और हम समस्त विश्व के प्राणियों को अपना संबंधी मानने लगते हैं। माता–पिता, बहन–भाई, पुत्र–पुत्री आदि के सीमित पारिवारिक संबंधों से ऊँचा उठकर हमें अपने दृष्टिकोण को विस्तृत करने की

प्रेरणा मिलती है और हम सारे संसार को अपना परिवार मानने की ओर प्रेरित होने लगते हैं। यह भावना जब परिपक्व हो जाती है, उस उन्नत अवस्था को ही आत्म–विस्तार, आत्म–कल्याण और आत्मोन्नति आदि कहा जाता है।

राम–राज्य आदर्श दर्शन

विष्णु पुराण में अनेक राजाओं के आदर्श शासन के उदाहरण भी मिलते हैं। यथा– ''शाक द्वीप में राम राज्य की सी स्थिति का वर्णन है। उन सातों वर्णों में कहीं भी धर्म का क्षय, पारस्परिक कलह अथवा मर्यादा का नाश कभी नहीं होता।'' वहाँ के निवासी रोग, शोक, राग–द्वेषादि से परे रहकर दस हजार वर्ष तक जीवन धारण करते हैं। उनमें ऊँच–नीच, मरने–मारने आदि जैसे भाव नहीं हैं और ईर्ष्या–असूया, भय, द्वेष तथा लोभादि का भी अभाव है।

वेन पुत्र पृथु की प्रजा इतनी सुखी और समृद्ध थी कि उसके राज्य काल के संबंध में कहा गया है–''पृथ्वी जोते–बोए बिना ही धान्य उत्पन्न करती और पकाती थी।''

राजा कार्तवीर्य के राज्यशासन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि– ''उसने बल, पराक्रम, आरोग्य, सुरक्षा और व्यवस्थापूर्वक पिचासी हजार वर्षों तक पृथ्वी पर राज्य किया था।''

सती–प्रथा निषेध

यद्यपि पुराणों में अनेक स्थानों पर सती प्रथा का उल्लेख है, परन्तु उसका निषेध भी दृष्टिगोचर होता है। संभवतः समय के साथ–साथ इस प्रथा को बुरा माना जाने लगा था।

जमदग्नि ऋषि का वध हो जाने पर उनकी पत्नी रेणुका द्वारा अग्नि–प्रवेश करने की चेष्टा पर हुई आकाशवाणी–

'हे भद्रे ! तुम साहस मत करो। अपनी आत्मा के हित की अभिलाषा रखने वाले किसी को भी साहस कभी नही करना चाहिये। आपको मरना नही चाहिये, क्योंकि जो प्राणी जीवित रहता है, वह शुभ कर्मो को देखा करता है। इसलिये आप धैर्य के धन वाली होकर काल की प्रतीक्षा की आशंका वाली होओ।'

अतिथि सत्कार व प्रेम विकास की भावना

प्राचीन काल में अतिथि सत्कार को गृहस्थ का एक आवश्यक गुण माना जाता था। 'अतिथि देवो भव' की भावना के साथ उसका आदर–सत्कार किया जाता था। उत्तम गृहस्थ अतिथि को खिलाकर ही स्वयं भोजन करते थे। भोजन का समय होने पर वह अपने द्वार पर जाकर अतिथि की प्रतीक्षा करते थे। विष्णु पुराण में निदाध का वर्णन है कि– ''वह बलिवैश्वदेव के पश्चात उसे दिखाई दिये और वह उन्हें अर्ध्य देकर अपने घर में ले गया।'

अतिथि का सत्कार न करने वाले की भर्त्सना की गई है। 'जिसके घर पर आया हुआ अतिथि निराश होकर लौटता है, वह अपने सर्वपापकर्म उस गृहस्थ को देकर उसके सभी पुण्य कर्मो को साथ ले जाता है। अतिथि का अपमान उसके प्रति गर्व और दम्भ का व्यवहार, उसे कोई वस्तु देकर उसका पश्चाताप, कटु भाषण अथवा उस पर प्रहार करना नितान्त अनुचित है।

पशुबलि विरोध

वेद शास्त्रों की घोषणा है कि पशुओं में भी उसी आत्मा का निवास है जिसका मनुष्यों में है। तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में दोनों समान है। मानव ने अपने बुद्धि बल से पशुओं पर नियंत्रण स्थापित कर लिया है और स्वार्थ की पूर्ति के लिये उसका मनमाना उपयोग करता है। जिह्वा के स्वाद के लिए मांसाहार का सेवन जो पाप है ही, धर्म के नाम पर तो यह महापाप हो जाता है। यज्ञ पवित्रतम कार्य है। इससे विश्व के प्राणियों का कल्याण होता है। इसके साथ पशुबलि जैसे जघन्य कार्य को मिलाना पशुता से भी

गिरने के समान है। विष्णु पुराण में इस बात का विरोध करते हुए कहा गया है–"यदि यज्ञ में बलि होने वाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का बलिदान करके उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त करा देता? भागवत, 3–18/27.

बाल हत्या व भ्रूण हत्या निषेध

शिशु हत्या को अत्यन्त बुरा कर्म माना जाता था। वामन–2 में कहा गया है– बाल–हत्या, शिशु–वध करना पापकर्म है।

इन्द्र ने उदिति के उदर मे गर्भ को नष्ट करने का दुष्कृत्य किया था। इस पापकर्म के परिणामस्वरूप वह अपरा राज्य दैत्यराज बलि के हाथों खो बैठा। (अदिति वर प्रदान वर्णन, वामन 2)

मद्यनिषेध

मद्यपान को भी बुराई माना जाता था। सोमपान यज्ञों में किया जाता था किन्तु सुरा–पान सर्वत्र वर्जित था।

मदिरापान करने वाला महापातकी होता है। नारद 2, 5/21.

चारों वर्णों के पुरूषों और स्त्रियों को मदिरा–पान कभी नही करना चाहिये। नारद 2, 24/25.

जो मद्य से निवृत्त हो जाता है, वह जीवात्मा और पूर्व बुद्धि वाला होता है और वह शारीरिक एवं मानसिक विकारों से क्लेशित नही होता है। नारद 2, 17/248.

विधवा पुनर्विवाह का समर्थन

अग्नि पुराण–2 विधवा विवाह को शास्त्र सम्मत बताता है। 'पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, संन्यास ग्रहण कर लेने, नपुंसक हो जाने और पतित हो जाने पर– इन पॉच आपत्ति की अवस्थाओं में अन्य पति बनाने का विधान है। पति के मृत हो जाने पर स्त्री

का विवाह देवर के साथ कर देना चाहिए और अगर देवर न हो तो जैसी इच्छा हो, वैसा कर देना चाहिये।

आधुनिक समाज

अनेक पुराणों में कलियुग के समाजों की चर्चा की गई है। वस्तुतः भावी समाज की कुरीतियों व दुर्गुणों के लक्षण बीज रूप में उस समय भी दिखाई देने लगे थे। उन्हीं के आधार पर पुराणकारों ने ये भविष्य कथन किए हैं। समाज के विभिन्न अंगों में उत्पन्न होने वाले दोषों के विषय में पुराणों में कहा गया है–

कलियुग वर्णन में कहा गया है कि शक्तिशाली व भगवान राजा बनेंगे तथा अशक्त पुरूष श्रेष्ठ होकर भी सेवक ही बनेंगे। अधम लोग पाखण्ड़ की वृद्धि करेंगे। भोजन व रोजगार के लिये स्थानान्तरण होगा। यौन–परिपक्वता बहुत कम उम्र में होगी, उम्र घटेगी तथा लोग व्यर्थ के चिह्न धारण करेंगे।

जैसे नवीन ऐश्वर्य को प्राप्त हुए दुष्ट उच्छृंखल हो जाते हैं, वैसे ही नदियों का जल वृद्धि को प्राप्त होकर सर्वत्र प्रवाहित होने लगता है। विष्णु 2, 38/159.

वर्षा न्यून होगी। खेती थोड़ा अन्न उत्पन्न करेगी। धान्य बहुत छोटे होंगे। सास–ससुर, गुरूजन तथा पत्नी और साले ही सुहृदजन होंगे। सास–ससुर के वश में पड़े हुए लोग माता–पिता को कुछ नही मानेंगे। विष्णु 1, 55–56/356.

बलवान ही सर्वेश्वर होता है। विवाह धर्म नही माने जाते, विलासिता की ही एक उपभोग सामग्री माने जाते हैं। शिष्य लोग गुरू की आज्ञा से संस्थित नही होते। पुत्रगण धर्म के मार्ग में रहने वाले नही हैं। थोड़े ही धन से मद हो जाता है। जो भी अधिक दिया करता है, वह ही मनुष्यों का स्वामी होता है। द्रव्य के संघात ग्रही का अन्त कर देने वाले होंगे तथा मति द्रव्यों को समाप्त कर देने वाली हो जायेगी।

मनुष्य अत्यधिक स्वार्थी होगा। गौवों की धार्मिक मान्यता नही रहेगी। वर्षा घटेगी। अतिथि–पूजन नही होगा। राजा कर्तव्य विमुख होंगे। बलहीन मनुष्य भृत्य अर्थात परिचर्या करने वाला हो जायेगा। गेहूँ व अन्य अन्न निर्यात होगा। बाल्यावस्था में मृत्यु होगी। 5–6 वर्ष में सन्तति प्रसव होगा। मनुष्य की आयु 9–10 वर्ष हो जायेगी। मनुष्य निरर्थक चिह्न धारण करेंगे। दूषित अन्तःकरण वाले हो जायेंगे। पाखण्ड़ में वृद्धि होगी। सत्पुरूषों की हानि होगी। सभी वर्णो में शूद्रता भाव हो जायेंगे। ससुराल पक्ष की प्रधानता होगी। मनुष्य कर्मात्मक होकर कहेंगे– कौन किसकी माता है और कौन किसका पिता? अर्थात माँ–बाप कुछ नही हैं। पाप कर्म बढ़ेंगे।

बुरे मनोरथ– असद् विषयों का अध्ययन, बुरे पाप कर्म– बुरे शास्त्र और प्रजाओं के कुत्सित कर्मो के दोष से ही भय उत्पन्न हो जाया करता है। राजाओं में शूद्र वर्ण की अधिकता होती है। हिंसा, माया, ईर्ष्या, क्रोध, निन्दा, अक्षमा, राग, लोभ आदि बढ़ते हैं।

राजा अपनी ही रक्षा में तत्पर होंगे। प्रजा का संरक्षण नही करेंगे। राजा दूसरों के रत्नों का हरण व दूसरों की स्त्रियों से विमर्श करने वाले हो जायेंगे।

विप्रगण शूद्रों से उपजीविका चलाने वाले हो जायेंगे और युग के अन्त में श्रेष्ठ द्विजगण भी शूद्रों को अभिवादन करने वाले हो जायेंगे। ब्रह्मांड 1, 48–49/111.

नारद पुराण–2 में कहा गया है कि कलियुग में वर्षा अनियमित हो जायेगी, सभी मानव वाणिज्य–व्यवसाय करने वाले हो जायेंगे। व्यापार भी अनुचित तरीकों से होगा। लोग काम वासना से परिपूर्ण, दुष्ट भावों वाले, बहुत अशुभ और दुस्साहस से प्रेम करने वाले, नष्ट चेष्टा वाले तथा धूर्त होंगे। पाखण्ड़ी साधु होंगे व रोग बढ़ेंगे।

युगान्त के उपस्थित होने पर शूद्र लोग धर्म का आचरण करेंगे।

मनुष्य, स्त्री, गौवों, निरीह बालकों का परस्पर वध करेंगे। बैर के कारण भ्रूण हत्यायें होंगी।

अत्यल्प आयु होने से लोग पूर्ण विद्या को प्राप्त नहीं कर पायेंगे। ज्ञान के अभाव में अधर्म की वृद्धि होगी। अत्युत्तम वर्णों के लोगों का अत्यधिक पतन होगा और नीच वर्णों के लोग उत्तम बनकर समाज में आगे बढ़ने को प्रयत्नशील होंगे। पुत्र पिता से व पत्नी पति से द्वेषभाव रखेंगी। गृहस्थ स्त्रियां वेश्याओं के समान रूप–लावण्य व शील स्वभाव की इच्छाएं करेंगी; अर्थात वेश्याओं के जैसा रहन–सहन व वेशभूषा पसन्द किया करेंगी।
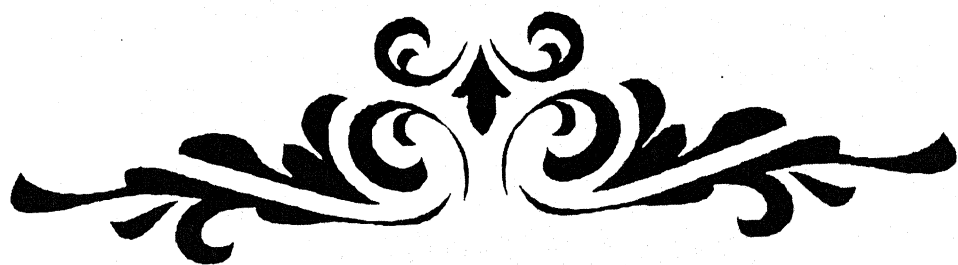
पुराणों में शिक्षा दर्शन

अध्याय–4

पुराणों में शिक्षा–दर्शन

पुराणों में शिक्षा दर्शन की आधार–भूमि का अध्ययन करने के उद्देश्य से अध्याय तीन के अन्तर्गत पुराणों के दार्शनिक अभिमत का तत्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा व मूल्य मीमांसापरक दृष्टि से वर्णन किया गया है। पुराणों में प्रतिपादित धर्म के स्वरूप के साथ–साथ परिवार, समाज एवं सामाजिक जीवन के विषय में उल्लिखित विचारों से पुराणों में प्रतिपादित शिक्षा–दर्शन के संबंध में महत्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में शिक्षा के विभिन्न अंगों पर पुराणों में उल्लिखित विषय–वस्तु के सन्दर्भ में प्रकाश डाला जा रहा है।

4.1 शिक्षा की अवधारणा

वैदिक साहित्य में शिक्षा के लिए कंई शब्दों का प्रयोग हुआ है यथा– विद्या, ज्ञान, प्रबोध, विनय आदि। आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों की भाँति प्राचीन भारतीयों ने भी 'शिक्षा' शब्द का व्यापक तथा संकुचित दोनों अर्थों में किया है। व्यापक अर्थ में अपने को उन्नत व सभ्य बनाना ही शिक्षा है और शिक्षा की यह प्रक्रिया जीवन–पर्यन्त चलती रहती है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति जीवन पर्यन्त विद्यार्थी रहता है। किन्तु जब हम शिक्षा के उद्देश्य और आदर्श पर विचार करते हैं तो यह शिक्षा शब्द संकुचित अर्थ में प्रयोग है। इस अर्थ में शिक्षा शब्द से तात्पर्य उस औपचारिक शिक्षा से होता है जो प्रत्येक बालक अपने प्रारम्भिक जीवन के कतिपय वर्षों तक गुरूकुल में रहकर विद्यार्थी जीवन व्यतीत करता हुआ अपने गुरू से प्राप्त करता है। प्राचीन भारत में केवल पुस्तकीय ज्ञान को शिक्षा का पर्यायवाची नहीं माना गया था और न ही जीविकोपार्जन का साधन मात्र। प्राचीन भारत में शिक्षा का तात्पर्य उस उस आलोक से था जिससे मनुष्य का

सर्वांगीण विकास हो सके और वह धर्म के मार्ग पर चलकर मनुष्य जीवन के चरम् लक्ष्य 'मोक्ष' की ओर अग्रसर हो सके।

बन्धन का कारण न हो, वही कर्म है और जो मोक्ष को सिद्ध करने वाली हो, वही विद्या है। इससे भिन्न कर्म व्यर्थ परिश्रम रूप और भिन्न विद्यायें केवल कला–कौशल रूप ही हैं। विष्णु 2, 41/215.

विष्णु पुराण में विद्या को दो प्रकार का बतायां गया है– परा और अपरा।

परा– से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति संभव है। अपरा– ऋगादि वेदात्मिक है।

पुराण तर्क, कर्मकाण्ड, दण्डनीति, वार्ता को 'विद्या चतुष्ट्य' के अन्तर्गत रखता है। पुराण का यह भी मत है कि व्यक्ति को अपनी शिक्षा के प्रति पूर्ण आस्थाभाव होना चाहिये। जो व्यक्ति जिस विद्या की वृत्ति करता है, उसकी ईष्ट देवता वही विद्या है। उसे अपनी उस परम् उपकारिणी विद्या का ही पूजन करना चाहिये। विष्णु 1, 27–30/184.

4.2 शिक्षा की आवश्यकता

समस्त देश काल परिस्थितियों में शिक्षा की आवश्यकता की अनुभूति अवश्य ही की जाती रही है। व्यक्तिगत व सामाजिक स्तरों पर शिक्षा के महत्व के विषय में कभी भी संदेह नहीं रहा है। यह अवश्य है कि शिक्षा के उद्देश्यों तथा तदानुरूप उसके स्वरूप में समय–समय पर परिवर्तन होते रहे हैं।

प्राचीन भारत में व्यक्ति के जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण प्राप्ति था। भौतिक सम्पदाएं हेय थीं। आध्यात्मिक पूर्णता ही मानव के लिए अभीष्ट थी। 'सा विद्या या विमुक्तये' के लक्ष्य को सम्मुख रखते हुए ही शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण किया गया था। विद्या या ज्ञान वही वास्तविक माना जाता था जो व्यक्ति को आत्म ज्ञान या ब्रह्म ज्ञान देने वाला हो। अतः शिक्षा एक आध्यात्मिक आवश्यकता थी जो जीव को

उसकी अज्ञानता या अविद्या के तम से मुक्त कर ईश्वर या ब्रह्म से सारूप्य होने, सायुज्य होने या एकाकार होने की अनुभूति करने के लिए आवश्यक थी।

दिव्य ज्ञान को प्राप्त करके ही व्यक्ति आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने में सक्षम होता है, जो उसके जीवन का उच्चतम ध्येय है। शिक्षा व्यक्ति के चारित्रिक व नैतिक गुणों के विकास के लिये भी आवश्यक मानी गई थी। 'पुरूषार्थ चतुष्ट्य' अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के द्वारा ही जीवन परिपूर्णता को प्राप्त होता है, यह धारणा थी। गृहस्थाश्रम को भी महत्वपूर्ण माना गया। व्यक्ति सामाजिकता के गुणों व कौशलों से सम्पन्न हों, इस हेतु सद्गुणों, सदाचार, जीविकोपार्जन की शिक्षा के साथ उसमें प्राणी मात्र को ईश्वर का रूप मानने की भावना उत्पन्न करने हेतु भी समुचित प्रयास किया जाता था। इस विषय में विभिन्न विद्वानों का मत है कि–

'प्राचीनतम वैदिक काल के जन्म से ही हम भारतीय साहित्य को पूर्णरूपेण धर्म से प्रभावित देखते हैं। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष शिक्षा के प्रमुख आधार थे तथा मोक्ष प्राप्ति प्रमुख उद्देश्य।' – आर के मुखर्जी

'विद्या के अभाव में व्यक्ति पशुवत रह जाता है।' – भर्तृहरि।

'भारत में शिक्षा कोई नयी बात नही है। संसार में कोई देश ऐसा नही है जहां पर ज्ञान के प्रेम की परम्परा भारत से अधिक प्राचीन एवं शक्तिशाली हो।'– डा0 एफ डबलू थामस।

शिक्षा के द्वारा मानव–जीवन सुख और शॉति से परिपूर्ण होता है। साथ ही व्यक्ति आत्म परिपूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ बनता है।

विधिपूर्वक सुख और शान्ति के लिये यहाँ ज्ञान का एक महान वृक्ष भी उत्पन्न हो गया है। वह पापमूल महावृक्ष विद्या रूपी कुठार से छिन्न हो जाता है। फिर वे मनुष्य रजोगुण से रहित अकारक पीत ब्रह्म रस को प्राप्त करके ईश्वर में लय को प्राप्त हो गए है। कूर्म 2, 4–5/162.

4.3 शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है। उद्देश्य व्यक्ति के प्रयासों को दिशा प्रदान करते हैं। इनके निर्धारण से समय व ऊर्जा की बचत होती है। उद्देश्यों को व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं पर आधारित होना चाहिये। उद्देश्य प्राप्ति के लिये व्यक्ति का उस दिशा में पूर्णरूपेण इच्छावान तथा सक्रिय होना आवश्यक है। पद्म पुराण कहता है–

जिसके पुत्र नही होता है, वह पुत्र–प्राप्ति की इच्छा किया करता है और धन की इच्छा वाला पुरूष धन का लाभ प्राप्त करता है। विद्या का अभिलाषी विद्या पाता है और सांसारिक जन्म–मरण रूपी आगमन से छुटकारा प्राप्त करने की लालसा वाला अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति किया करता है। पद्म 2, 30/142.

1. शारीरिक विकास

प्राचीन भारतीय शिक्षा में आत्मा के उत्कर्ष को जीवन का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य माना जाता था। शरीर को समस्त पापों का मूल घोषित किया गया था। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि यह शरीर ही आत्मा या ब्रह्म का निवास है। साधना, योग जैसी क्रियाएं व धर्म कार्यों का सम्पादन आदि शरीर के माध्यम से ही संभव है। अतः इसका संरक्षण परमावश्यक है। गुरूकुलों में दिनचर्या, खान–पान आदि से संबंधित निश्चित नियम थे ताकि छात्रों में स्वस्थ आदतों का निर्माण हो और उनका स्वास्थ्य उत्तम रहे।

जो कोई धर्म की साधना में संलग्न रहना चाहता है, उसे अपने शरीर के संरक्षण का भली–भॉंति ध्यान रखना परम आवश्यक होता है। जो अपने शरीर की पुण्य साधना के कार्यों की उपेक्षा किया करते हैं, वे तो पुण्यात्मा न होकर आत्मघाती ही कहे जाया करते हैं। नारद 1, 42/202.

2. आत्मानुभूति

आत्मानुभूति का अर्थ स्वयं से परिचित होना है। आत्मा या स्व व्यक्ति का शरीर नहीं है, वरन् व्यक्तित्व है। स्व या आत्म को पहचानने का एक क्रम होता है। व्यक्ति पहले शरीर से स्व या आत्म का संबंध जोड़ता है, बाद में वह समाज में अपने स्व या आत्म को पहचानता है और अन्त में उसे आध्यात्मिक स्व का ज्ञान होता है। जब तक व्यक्ति शारीरिक स्व से लेकर आध्यात्मिक स्व का बोध प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे आत्मानुभूति नहीं होती। वह मुक्ति अर्थात ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता। वह आत्मानुभूति होने पर सृष्टि के सभी अंशों में ब्रह्म के दर्शन करता है। अनेकता में एकता का आभास पाते हुए उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। वह सभी प्राणियों को आत्मवत् मानता है। सब कुछ उसे ब्रह्ममय लगता है।

जीव ब्रह्मरूप ही है। अविद्या या माया आवरण में वह स्वयं को पहचान नहीं पाता है। ज्ञान के आलोक में ही वह 'आत्म' को, ब्रह्म की अनुभूति करता है। आत्म ज्ञान प्राप्त करना सर्वोपरि होता है, अतएव प्रयत्नपूर्वक आत्मा का श्रवण करना चाहिये। स्कन्द 2, 5/113,

'आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना सर्वोत्तम कर्म होता है। वह सम्पूर्ण विधाओं में शिरोमणि व श्रेष्ठतम होता है। इससे अमरत्व का लाभ किया जाता है।'

3. उच्चतर मानसिक शक्तियों का विकास

पुराणों में वर्णित शैक्षिक तत्वों में सांसारिक ज्ञान के साथ–साथ व्यक्ति में उच्चतर मानसिक शक्तियों के विकास पर बल दिया गया है। ज्ञान द्वारा अविद्या के नष्ट होने से अभेदमयी विद्या उत्पन्न होती है तथा 'स्व' तथा 'पर' के मध्य अन्तर समाप्त होने से व्यक्ति प्राणी–मात्र में ब्रह्मांड मे उसी परम ब्रह्म की अनुभूति करता है।

'जिस समय ज्ञाता और ज्ञेय की उपाधि विनष्ट हो जाती है और फिर सबको एक विचारों की बुद्धि उत्पन्न हो जाया करती है, वही अभेदमयी विद्या कही जाती है। नारद 1, 3/8.

चिन्तन–मनन, पूर्व विचारणा, तर्क, विवेक, संशयहीनता,, स्थिर मति, स्थितप्रज्ञता आदि गुणों का विकास भी व्यक्ति में आवश्यक माना गया था।

4. आत्मगुणों का विकास

पुराणों के अनुसार आठ आत्मगुण होते हैं– अनुसूया, दया, शान्ति, अनायास मंगल, अक्रार्पण्य, शौच और स्पृहा– ये आठ हैं जिन्हें स्वयं ही आत्मा अपने साथ आरम्भ से ही लेकर संसार में देह धारण करता है। ये आठ गुण मनीषियों के कहे जाया करते हैं। गुणियों के गुणों का जो हनन नही करता है और अपने गुणों की प्रशंसा नही किया करता है तथा अन्य के दोषों से प्रसन्न नही होता है, वह धर्म अनुसूया कहा जाता है। दूसरे के विषय में बन्धु वर्ग में, मित्र में और द्वेष रखने वाले से भी जो सदा अपने समान ही व्यवहार किया जाता है, वह दया कही गई है। मन, वचन और शरीर में उत्पादित दुख से जो क्रोध नही किया करता है, उसे क्षमा कहा गया है। जो भक्षण करने के योग्य नही है, उसका परिहार रखना तथा जो सत्पुरूष है, उनके साथ संसर्ग रखना तथा आचार से व्यवस्थित रहना, इसी को शौच कहा गया है। जिस शुभ कर्म से भी शरीर को पीड़ा होती है, उस कर्म को अत्यन्त रूप से नही करना ही 'अनायास' कहा गया है। प्रशस्त कार्यों का करना और नित्य ही प्रशस्त कर्मों का त्याग कर देना, इसी को मंगल कहा गया है। अपनी स्वल्प वस्तु में से भी अन्तरात्मा को दीन न करते हुए जो प्रदान कर देता है और ऐसा दिन–प्रतिदिन थोडा–बहुत किया जाता है, उसे ही 'अकार्पण्य' कहा गया है। जो कुछ भी उत्पन्न हो, उसी में संतुष्ट रहते हुए, चाहे वह बहुत ही थोडा भी क्यों न हो, पराये धन में हिंसा भाव का न रखना ही 'अस्पृहा' कही जाती है। इन

संस्कारों से जिसका शरीर संस्कृत किया जाता है, वह द्विज यहाँ ब्रह्मत्व को प्राप्त करके निश्चय ही ब्रह्मलोक में जाया करता है। भविष्य 1, 132–144/63.

नारद पुराण खंड–1 में पुराणकार कहता है कि "चाहे कोई कैसा भी मनुष्य हो, यदि वह गुणों से सुसम्पन्न होता है तो सभी उसकी प्रशंसा किया करते हैं। भले ही उसके पास कुछ न हो। गुणहीन व दुर्गुणों से युक्त व्यक्ति की सभी निन्दा किया करते हैं, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो। 38–39/134.

शिक्षा के द्वारा उपर्युक्त वर्णित गुणों का विकास व्यक्ति में अवश्य ही किया जाना चाहिये।

5. ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता का विकास

प्राचीन भारत में धर्म का जीवन में प्रमुख स्थान था। इसलिये धार्मिक भावना का विकास करना शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता था। जीवन का चरम् लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति था। भागवत पुराण में कहा गया है– "अस्थि, मांस और रुधिर से बने इस शरीर को अपना मानने का अहंकार छोडकर भगवान की भक्ति में मन लगाइये और सदा धर्म–पालन कीजिए।"

पुराण के अनुसार धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग त्रिगुणी होता है। अतः धर्म का ही समाश्रयण करना चाहिये। धर्म से ही अर्थ होता है और धर्म से ही काम होता है। सत्व, रज और तम इसी क्रम से यह त्रिवर्ग त्रिगुणी होता है। कूर्म 1, 53–55/62.

'शौचं तपो दया सत्यनित धर्मपदानि च।'

स्कन्द पुराण–2 के अनुसार धर्म के चार पाद या चरण माने गये हैं– शौच, जप, दया और सत्य। मानव जीवन में इन चारों चरणों को पूरा करने का प्रयास किया जाना चाहिये।

6. चरित्र–निर्माण

वैदिक व उत्तर वैदिक काल में चरित्र का जीवन में बहुत ऊँचा स्थान था। भारतीय तत्ववेत्ता चरित्र को पांडित्य से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। गुरूकुलों में ब्रह्मचर्य के पालन, सदाचार के उपदेशों, गुरू द्वारा स्वयं आदर्श उदाहरणों के द्वारा तथा महान पुरुषों की जीवन–गाथाओं, शिक्षा–प्रद कथाओं के माध्यम से छात्रों का चारित्रिक विकास किया जाता था।

7. राष्ट्र–प्रेम

इस भारत वर्ष में मनुष्य नित्य नैमित्तिक और काम्य (कामना से युक्त) इन तीनों प्रकार के कर्मो को किया करता है क्योंकि यही कर्म–क्षेत्र या कर्मो के करने की भूमि है। वे सभी भोग–भूमि तथा धन के स्वरूप में उन कर्मो के फल का भी उपभोग किया करते हैं। नारद 1, 47/69,

भारतवर्ष की महिमा का गुणगान भी पुराणों में प्रचुरता से है। पुराणों के अनुसार देवगण भी इस भारत–भूमि में जन्म लेने को लालायित रहते हैं।

8. नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन

तत्कालीन शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य छात्रों में नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन की भावना विकसित करना था। व्यक्ति का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह समाज में रहकर अपना जीवन सफलतापूर्वक चलाए और अपने नागरिक धर्म का पालन करता हुआ समाज का उपयोगी सदस्य बने। अतिथि सत्कार तथा दीन दुखियों की सहायता, समाज सेवा, परोपकार, दयालुता तथा दानशीलता जैसे समत्व वाले गुणों के विकास पर बल दिया जाता था।

9. सांस्कृतिक उन्नति को प्राप्त करना

सांस्कृतिक निधि ही किसी जाति, वर्ग या समूह की वर्तमान और भावी सन्तति को उच्चतम आदर्शों की प्राप्ति में सहायक होती है। जब व्यक्ति इन उच्चतम आदर्शों को प्राप्त कर लेता है तो उसकी आध्यात्मिक जगत् की सीमाओं का विकास होता है। वस्तुतः आध्यात्मिक सीमाओं का विकास होने पर ही व्यक्ति आत्मानुभूति की उच्चतम सीमाओं को प्राप्त कर पाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के उपरान्त ही उसमें सच्ची मानवता जाग्रत होती है और वह अपनी जाति, वर्ग समूह और राष्ट्र की सीमाओं से उठकर सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करने की दिशा में अग्रसर होता है।

10. शाश्वत आदर्शों एवं मूल्यों की प्राप्ति

आध्यात्मिक सुख एवं अंतिम वास्तविकता को प्राप्त करने के लिए सत्यं शिव व सुन्दरम् के शाश्वत मूल्यों को प्राप्त किया जाना आवश्यक है। इन्हीं मूल्यों के बल पर असत्य से दूर रहकर सत्य को जानना, असुन्दरता से दूर रहकर सुन्दरता का अनुभव करना तथा बुराई से दूर रहकर अच्छाइयों को प्राप्त करना संभव होता है।

4.4 पाठ्यक्रम

मानव–विकास और सभ्यता तथा सभी मानव–अनुभवों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किए जाने पर ही व्यक्तित्व का चहुँमुखी विकास संभव होता है। मानवीय प्रयासों के द्वारा ही इस सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण का सृजन किया गया है। व्यक्ति को इस वातावरण से भली प्रकार परिचित होना चाहिये। इस दृष्टि से शिक्षा–शास्त्रियों व अध्यापकों का दायित्व होता है कि वे समाज और शिक्षार्थी दोनों की आवश्यकताओं का पता लगायें। बालक की क्षमता, रूचि तथा स्वभाव आदि के अनुकूल इन्हें पाठ्यक्रम में संजोया जाये। इसी प्रकार पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय समाज की आवश्यकताओं को भी ध्यान रखा जाये।

बालक का व्यक्तित्व संज्ञानात्मक, भावात्मक तथा प्रकार्यात्मक, तीनों पक्षों से समन्वित होता है, इसके विकास के लिए पाठ्यक्रम में समुचित प्रावधान किए जाने भी आवश्यक हैं।

पुराणों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उस समय निम्न विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था–

एक परा विद्या है और दूसरी अपरा विद्या है। ऋग्वेद, साम, यजु और अर्थव के नाम वाले चार वेद हैं और इनके छे अंग होते हैं। षटवेदों के अंगों के नाम– शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द–मीमांसा, धर्म–शास्त्र, पुराण, न्याय, आयुर्वेद, गन्धर्व, धनुर्वेद और अर्थशास्त्र – यह अपरा विद्या है। परा विद्या वह है, जिसके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, अर्थात जिससे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्म 1, 16–17/43

पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया गया है– परा और अपरा। परा में वेद वेदांग, पुराण, दर्शन, उपनिषद आदि आते हैं। अपरा में इतिहास, तर्कशास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, भौतिक शास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्कविज्ञान, नृत्य, कला, संगीत अभिनय एवं स्वास्थ्य शिक्षा।

उपर्युक्त वर्णित परा और अपरा विद्या में परा विद्या को श्रेष्ठ माना गया था, क्योंकि इसके माध्यम से व्यक्ति को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति अर्थात मोक्ष–प्राप्ति संभव थी। व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति दक्षतापूर्वक अपने दायित्वों को वहन कर सके, इस दृष्टि से उसमें कुछ विशेष प्रकार के ज्ञान और कौशलों का होना भी आवश्यक माना गया था। इस हेतु अपरा विद्या के अन्तर्गत रखे गए विषयों की शिक्षा व्यक्ति के लिए आवश्यक मानी जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य परिवारों के बालकों को उनकी आजीविका को दृष्टिगत रखते हुए उनके लिये एक सामान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रकार के पाठ्यक्रम का भी प्रावधान था।

धर्म, अर्थ और काम यही त्रिवर्ग मनुष्य जन्म का परम फल होता है। जो धर्म से हीन पुरूष हैं उनके काम और अर्थवन्ध्या के सूत्रों के ही समान हुआ करते हैं। राजा को अपने पुत्र को धर्म, काम और अर्थशास्त्रों की तथा धनुर्वेद की शिक्षा दिलानी चाहिये। रथ में तथा कुंजर में भी दीक्षित करावे और सदा अपने इस पुत्र से व्यायाम करवाना चाहिये। इस पुत्र को अनेक शिल्पों की शिक्षा दिलावे। मत्स्य 2, 3–5/296,

भविष्य पुराण के अनुसार तत्कालीन समय में अठारह प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है।

चार वेद, उन वेदों के छन्द, शिक्षादि छैं अंग– मीमांसा, न्याय का विस्तार, पुराण और धर्म–शास्त्र ये कुल चौदह विद्यायें होती हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्व ये तीन हैं और चौथा अर्थशास्त्र है। इन चारों को मिलाकर अठारह विद्यायें हो जाती हैं। भविष्य 1, 4–7/42.

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के अध्याय दो में "पुराणों के वर्ण्य विषय" शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न विषयों से संबंधित विषय सामग्री का उल्लेख किया जा चुका है। इस अध्याय में यह चर्चा की गई है कि पुराणों में भूगोल, इतिहास, चिकित्सा विज्ञान, ज्योतिष, व्याकरण, गणित, नक्षत्र विज्ञान आदि के विषय में प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। इनमें से कुछ विशेष विषयों पर इस अध्याय में विस्तृत वर्णन भी किया जा चुका है। शेष विषयों का यहॉं संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

जीव विज्ञान

जीव विज्ञान से संबंधित अत्यल्प सामग्री एकमात्र पुराण– भविष्य पुराण में प्राप्त होती है। इसमें जीवन की उत्पत्ति तथा प्राणियों के वर्गीकरण से संबंधित निम्न चर्चा की गई है–

गज, व्याल, मृग और पृथक प्रकार के पशु–पक्षी, पिशाच, मानुष, राक्षस– ये सब जरायुज होते हैं। पक्षी, सर्प, नक्र, मत्स्य और कच्छप ये सब अण्डज होते हैं। तेज में

उत्पन्न होने वाले जरायुज और अण्डों से उत्पत्ति रखने वाले जीव अण्डज कहे जाते हैं। इन उक्त प्रकार के जीवों में कुछ तो यहां स्थल भाग में उत्पन्न होते हैं और कुछ इनमें ऐसे प्राणी हैं जो जल भाग में जन्म धारण किया करते हैं। देश, मशक, यूका, लिक्षा और मत्कुण ये सब स्वेदज कहे जाते हैं क्योंकि ये सब ऊष्मा से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। अन्य कुछ इस प्रकार के भी प्राणी हुआ करते हैं जो उदिभज कहे जाते हैं। ये सब स्थावर सृष्टि वाले हैं और बीज काण्ड से प्ररोहण प्राप्त किया करते हैं। भविष्य 1, 71–72/52.

भविष्य पुराण में लिंग निर्धारण सम्बन्धी कुछ बातें भी बताई गई हैं, जो पूर्णतः अवैज्ञानिक हैं। स्त्रियों के मासिक धर्म से संबंधित निम्न चर्चा भी पूर्णतः अवैज्ञानिक तथा अनुचित है–

इसलिये पूर्णतया प्रयत्न के साथ रजस्वला जो स्त्रियां हों, उनसे सम्भाषण नही करना चाहिये। जिस दिन रजोदर्शन होता है, उस प्रथम दिन में तो वह एक चाण्डालिनी के ही समान वर्जित होने के योग्य होती है। दूसरे दिन में ब्रह्मघातिनी के तुल्य उसे वर्जित कर देना चाहिये। भविष्य 1, 100/62.

वामन पुराण–1 में विभिन्न विषयों से संबंधित विषय सामग्री का निम्न पंक्तियों में केवल सन्दर्भ दिया जा रहा है–

नक्षत्र विज्ञान– पृष्ठ 74–78.

वास्तुशास्त्र– वास्तुप्रतिष्ठाविधिः श्लोक 1–12, पेज 207 व 208

छन्दसार 1 – इसमें छन्दों का सार बताया गया है। श्लोक 1 से 8 तक, पेज 346–347

छन्दसार 2– श्लोक 1 से 23, पेज 348 से 351

छन्दोजातिनिरुपणम्– इराके अन्तर्गत छन्दों की जातियों का निरुपण किया गया है। श्लोक 1 से 18 तक, पेज 351 से 353.

समवृत्तनिरुपणम्– श्लोक 1 से 35 तक, पेज 356 से 362.

काव्यादिलक्षणम्– इसके अन्तर्गत काव्य, नाटक आदि तथा अलंकारों का वर्णन है। श्लोक 1 से 39, पेज 363 से 369.

नाटकनिरुपणम्– इसमें नाटकों के विषय का निरुपण किया गया है। श्लोक 1 से 27, पेज 369 से 373.

श्रंगारादिरसनिरूपणम्– इसमें श्रंगार व रसों का निरुपण किया गया है। श्लोक 1 से 54, पेज 373 से 382.

रीतिनिरूपणम्– इसके अन्तर्गत रीति का निरुपण किया गया है। श्लोक 1 से 11, पेज 382 से 384.

नृत्यादावृंकर्मनिरूपणम्– इसमें नृत्यादि में अंगों के कर्मों का निरूपण किया गया है। श्लोक 1 से 100, पेज 384 से 387.

योग वर्णन

यम–नियम– इसके अन्तर्गत संसार के तापों की मुक्ति के लिये वर्णन किया गया है। श्लोक 1 से 36, पेज 412 से 418.

आसन प्राणायामप्रत्याहार– इसके अन्तर्गत कमल आदि आसन कहे गये हैं अर्थात पदमासन। श्लोक 1 से 21, पेज 418 से 421.

ध्यानम्– इसमें ध्यान की विधि का वर्णन किया गया है। श्लोक 1 से 35, पेज 421–427.

धारणा– ध्येय में अर्थात ध्यान के योग्य इष्ट देव में जो मन की संस्थिति है, वह धारणा कही जाती है। इसके विषय में बताया गया है। श्लोक 1 से 22, पेज 427 से 430.

समाधि– 1–44, पेज 430–437.

ब्रह्मज्ञानम् (1–3) – इसके अन्तर्गत संसार के अज्ञान से छुटकारा पाने के लिये ब्रह्मज्ञान को बताया गया है। श्लोक 1 से 24, पेज 437–450.

गीतासार– इसके अन्तर्गत समस्त गीता से उत्तमोत्तम गीता के सार को बताया गया है। श्लोक 1 से 57, पेज 461 से 471.

शब्दालंकार– इसके अन्तर्गत शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। श्लोक 1 से 65, पेज 491– 500.

काव्यगुणविवेक– इसमें काव्यगुणों का विवेचन किया गया है। श्लोक 1 से 25, पेज 500 से 504.

यमगीता– इसके अन्तर्गत यमगीता को बताया गया है, जो कि नचिकेता के लिये कही गयी है। श्लोक 1 से 37, पेज 471–477, अग्नि पुराण 2

व्याकरण कथन– यहाँ पर व्याकरण का वर्णन किया गया है। श्लोक 1 से 25, पेज 111 से 115, गरुड पुराण–2

महापुरूषों की जीवन–गाथायें

पुराणों में अनेक महापुरूषों के जीवन–चरित्र का भी उल्लेख मिलता है। भावी पीढ़ी को प्रेरणा देने के लिए इन आदर्श पुरूषों की जीवन–गाथाओं को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जा सकता है।

लोहे की नौका से पानी में तैरने वाला भी डूब जाया करता है। इसी प्रकार जिसने कभी कोई पुण्य कर्म नही किया है, वह दूसरों को कैसे तार सकता है? जिस

तरह से चन्द्रमा सबको आनन्द प्रदान किया करता है, वैसे ही महान व्यक्तियों का चरित्र भी सब लोगों को सुख प्रदान किया करता है। नारद 1, 122–123/190.

शिक्षाप्रद कथायें

पुराणों में ऐसी अनेकानेक कथाएं हैं, जिनसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा व्यक्ति को प्राप्त होती है। ये कथाएं सत्य हैं या असत्य, यह निष्कर्ष निकालना तो इतिहासकारों का दायित्व है, परन्तु नैतिक व मूल्य शिक्षा की दृष्टि से ये कथाएं निश्चित ही बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी हो सकती हैं।

बालक ध्रुव की कथा – विष्णु पुराण 2

प्रह्लाद की कथा – विष्णु पुराण 2

मातंग कथा– गीतिशास्त्र का विद्वान जो चाण्डाल था, वचन बद्धता, सत्य का पालन– विष्णु पुराण

ययाति कथा– पुत्र द्वारा पिता को अपना यौवन देना, ब्रह्म पुराण

दधिचि कथा– देवों को अस्थियों का दान, ब्रह्म पुराण

कपोत कथा – परोपकारिता भाव– बह्म पुराण

कल्याण पाद की शाप मुक्ति – नारद 1

बुद्धिसागर राजा की कथा – नारद 1.

4.5 शिक्षण विधियां

पुराणों में यह विशेष आग्रह है कि योगाभ्यास, ब्रह्मचर्य व नियमित दिनचर्या आदि के द्वारा छात्र अपनी इंद्रियों को नियंत्रित करते हुए तथा मानसिक एकाग्रता को विकसित करते हुए विद्या–प्राप्ति हेतु तत्पर हों। मन, वाणी, शरीर तथा वातावरण को शुद्ध करके शिक्षण कार्य आरम्भ किया जाना चाहिए। प्राचीन भारत में शिक्षण विधि कागज तथा मुद्रण कला के अभाव में मुख्य रूप से मौखिक थी। मौखिक अध्यापन ही शिक्षण का मुख्य ढ़ंग था। विद्यार्थी श्रद्धापूर्वक गुरू के वचनों का श्रवण करता तथा गुरू के उच्चारण

को सुनकर तदनुसार उच्चारण करता था। उच्चारण की शुद्धता को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। तत्पश्चात गुरू मन्त्रों की व्याख्या करता था। इसके पश्चात विद्यार्थी एकांत में पाठ्यवस्तु का चिन्तन–मनन, स्वाध्याय तथा पुनरावृत्ति करता था। पुराणों में निम्नलिखित शिक्षण विधियों की चर्चा यत्र–तत्र मिलती है।

1. उपदेश व व्याख्यान विधि

गुरू शिष्यों को विभिन्न विषयों को स्पष्ट करने हेतु तथा छात्रों की जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए उपदेशात्मक विधि का प्रयोग करते थे। यह वर्तमान समय की व्याख्या विधि का ही एक रूप है। उपदेश के माध्यम से गुरू द्वारा छात्रो के चिन्तन को एक सुविचारित दिशा की ओर अग्रसर किया जाता था।

2. प्रश्नोत्तर विधि

इस विधि मे एक पक्ष की ओर से शंका रूप में एक प्रश्न होता है और दूसरे पक्ष से समाधान के रूप में उत्तर प्रदान किया जाता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि उत्तर देने वाला अन्त में एक प्रश्न उठा देता है जिसे उत्तर पाने वाले व्यक्ति को हल करना पड़ता है। प्राचीन भारतीय गुरूओं द्वारा इस विधि का बहुतायत से प्रयोग किया जाता था। लगभग सभी पुराणों में एक या अनेक विषयों द्वारा दूसरे विद्वानों से प्रश्न पूछने की विधि को अपनाया गया है। ये प्रश्न बड़े ही सटीक तथा इस प्रकार से किए गए है जो कि पुराण की कथा को अग्रसर करने वाले हैं। प्रश्नो के उत्तर भी प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा शान्त करने वाले तथा संदेह को पूर्ण रूप से दूर करने वाले हों। अनावश्यक व्याख्या, अप्रासंगिक व अवांछनीय विवरण से बचकर सारगर्भित उत्तरों के द्वारा प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा शान्त की जाये। प्रश्नोत्तर विधि के इन गुणों को पुराणों में सरलता से देखा जा सकता है।

3. कहानी विधि

कथा या कहानी कहना–सुनना प्रत्येक देश में आदिकाल से चला आ रहा है। कहानी सुनाने का मुख्य उद्देश्य श्रोता को परोक्ष रूप से ज्ञान देना ही होता है। कहानी सुनना बालकों को ही नहीं बड़ों को भी रूचिकर लगता है। कहानी श्रोता की रूचि को बनाए रखते हुए उसकी ज्ञान–वृद्धि तथा स्मरण व कल्पना शक्ति के विकास का साधन होती है। पुराणों में कहानी विधि का बहुतायत से प्रयोग किया गया है। पुराण वस्तुतः थे ही साधारण जन के लिए। ऐसे श्रोताओं को सरल भाषा में आध्यात्मिक रहस्यों से परिपूर्ण गूढ़ तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए कहानी विधि से अधिक उपयुक्त कोई अन्य विधि हो ही नहीं सकती थी। पुराण वर्णित कथायें अत्यन्त रोचक व सरल ढ़ंग से प्रस्तुत की गई हैं। ये कथाएं किसी सत्य को उद्घाटित करतीं, श्रोताओं को दिशा–बोध प्रदान करती तथा उनकी जिज्ञासाओं व सन्देहों का निवारण करने में पूर्णतः सक्षम प्रतीत होतीं हैं।

4. निरीक्षण विधि

पुराणों की शिक्षण योजना में निरीक्षण विधि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है जिसका आज के सभी शिक्षा शास्त्री समर्थन करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में प्रकृति के निरीक्षण से सीखने का एक सुन्दर उदाहरण निम्न प्रकार है–

बुद्धि से ही ग्रहण किये हुए मेरे अनेक गुरू हैं। जिनकी शिक्षा से शिक्षित हुआ 'मैं' उन्मुक्त रूप से विचरण करता हूँ। पृथ्वी, पवन, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतंग, मधुमक्षिका, हाथी, मधु ले जाने वाला, मृग, मीन, पिंगला नाम की वेश्या, करर पक्षी, बालक कुमारी, बाण बनाने वाला, सर्प, मकड़ी और भँवरी इन चौबीसों के आचरण से शिक्षा लेने के कारण मैनें इन्हें गुरू बना लिया है। जैसे प्राणियों द्वारा रौंदी जाने पर भी पृथ्वी अपने नियम से नही हटती, वैसे ही किसी से दुख प्राप्त होने पर अपना नियम न छोडें। पर्वत, वृक्ष, तृण, झरने आदि सब परोपकार के लिये हैं,

वैसे ही परोपकार–रत रहना चाहिये। पवन रूप प्राण भोगों की इच्छा न कर केवल आहार से ही तृप्त हो जाता है। वैसे ही यथा प्राप्त आहार से संतुष्ट रहें। जैसे वायु वन में प्रसन्न और अग्नि में अप्रसन्न नही रहता, वैसे ही शीत या गर्मी की प्रतिकूलता से अप्रसन्न न रहें। जैसे जल स्वच्छ, सरस, मधुर और पवित्रताप्रद है, योगी को वैसा ही स्वच्छ सरस आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। जैसे अग्नि तेजस्वी, प्रदीप्त, दु:सह और सर्वभक्षी होती है, वैसे ही योगी भी स्वाद–अस्वाद पर ध्यान न दे। जैसे सूर्य जल को खींचकर वर्षाकाल में छोड़ देता है, वैसे ही अपेक्षित पदार्थ लेकर मांगने वाले को दे दें।

"सतिं में गुरवों राजन्वसवो बुद्धयुपाश्रिता।" 554, श्रीमद0

परिवेश में स्थित प्रत्येक वस्तु जिससे कोई पाठ या सबक ग्रहण किया जा सकता है, वस्तुतः गुरू की भूमिका में होती है तथा वह स्थान जहाँ से कोई शिक्षा प्राप्त की जा सकती है, शिक्षा का साधन होता है। गुरूकुलों में छात्र प्रकृति के निकट सम्पर्क में रहते थे तथा बहुत कुछ प्रकृति के माध्यम से सीखते थे। साथ ही गुरू के आदर्श व्यक्तित्व व गुणों को अनुकरण के द्वारा आत्मसात करते थे। इस प्रकार निरीक्षणात्मक अधिगम् का उनके व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता था।

5. प्रदर्शन विधि

छात्रों में अधिगम् को प्रेरित करने, विषय–वस्तु को स्पष्ट करने तथा ज्ञान के स्थायीकरण हेतु प्रदर्शन विधि अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होती है। प्राचीन गुरूओं द्वारा इस विधि का उपयोग भी बहुतायत से किया जाता था, पुराणों से ऐसा ज्ञात होता है। ऋषि आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु को 'प्राण जल–मय् हैं और मन अन्नमय' यह समझाने के लिए पन्द्रह दिनों तक मात्र जल पर ही निर्वाह करना पड़ा।

6. वाद–विवाद विधि

वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल में ज्ञान की परीक्षा के लिए शास्त्रार्थ की परम्परा थी। यह तर्क विधि पर आधारित थी। इस विधि किसी समस्या या प्रश्न को लेकर दो विद्वान पक्ष अथवा गुरू के शिष्य तर्कयुक्त ढ़ंग से अर्थात आगमन–निगमन विधियों के आधार पर परस्पर विचार–विमर्श करते थे।

पाठ्यवस्तु के अधिगम् के विषय में पुराणों में दिए गए कुछ अन्य निर्देश निम्न प्रकार हैं–

अभ्यास का महत्व – गान बन्धु उलूक को प्रवचन देते हुए नारद कहते हैं–

हे तपोधन! तप से गान विद्या प्राप्त नही की जा सकती है। क्योंकि इसकी शिक्षा में एक मात्र अभ्यास की कारण होता है। तुम श्रुत से संयुक्त हो, अब मुझसे इस गान विद्या को प्राप्त करो। इस प्रकार से कहे गये नारद मुनि ने उस गान बन्धु को प्रणाम करके तब गान किया था। लिंग, 56–57/162

तत्कालीन समय में गुरूकुलों में छात्रों द्वारा सीखी गई विषय वस्तु की निरन्तर पुनरावृत्ति तथा अभ्यास पर बहुत बल दिया जाता था ताकि वह उन्हें पूर्णतः कंठस्थ हो सके। कौशलों के विकास के लिए भी अभ्यास पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

विद्या ग्रहण में संकोच का परित्याग

शिक्षा या विद्या प्राप्त करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए, चूँकि यह एक उत्तम कर्म है।

गान बन्धु उस समय नारद से बोले– इस समय अर्थात गान विद्या सीखने के समय में तुमको लज्जा का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये। उलूक ने कहा– जो कार्य विद्या–प्राप्ति में बाधक हों, उन्हें कार्य सिद्धि की इच्छा रखने वाले पुरूष को त्याग ही कर देना चाहिये। जिन–जिन कार्यों में लज्जा का त्याग करना चाहिये, उन्हें बताते

हैं– स्त्री के साथ संगम करने में, गान करने के समय में, द्यूत क्रीड़ा करने के समय में, व्याख्यान करने में, प्रसंग में, व्यवहार करने में, भोजन करने में, अर्थ सम्बन्धी समागम में, आयु मे व्यय करने के समय में मनुष्य को लज्जा का त्याग कर देने वाला होना चाहिये। लिंग, 59/163.

विमर्श

'विद्वान पुरुष को विमर्श अवश्य ही करना चाहिये। विमर्श करने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होगा। स्कन्द 2, 88/134.

अधिगम गति तथा निरन्तरता

सीखने में अधिगम् गति का मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में अपना महत्व है। छात्र को अपनी क्षमता के अनुसार ही अधिगम् गति का निर्धारण करना चाहिये। सीखने में निरन्तरता भी आवश्यक है। अत्यधिक समयान्तराल से सीखी हुई विषय वस्तु का विस्मरण हो जाता है। इस बात पर देते हुए नारद पुराण में कहा गया है–

'विद्या को शनैः–शनैः और अर्थों को भी शनैः–शनैः पर्वत के समान आरोहण करें। मार्गों में धीरे से वर्तन करना चाहिये और योजन से अधिक गमन नहीं करना चाहिये। चींटी धीरे–धीरे सैंकड़ों योजनों तक गमन कर जाया करती है। न गमन करने वाला गरुड़ एक कदम भी नहीं जा सकता, चाहे उसकी गमन शक्ति कितनी ही बड़ी है।' नारद 2, 12/255.

पुराणों में छात्र के लिए अध्ययन हेतु कुछ समय विशेषों का भी निषेध किया गया है। यथा–

असमय मेघ गर्जन हो, पर्व दिन, ग्रहण काल व अशोक काल में अध्ययन न हो।

शासन करने के समय में, मार्ग में और भोजन करते समय स्वाध्याय कभी न करें। ब्रह्म 2, 70/288.

4.6 छात्र

बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात वेदाध्ययन परायण होकर ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरू ग्रह में निवास करना चाहिये। वहाँ रहकर वह शौच और आचार व्रत का पालन तथा खूब सेवा करें एवं व्रत आदि के पालनपूर्वक स्थिर चित्त से वेदाध्ययन करें। गुरू का पूर्णरूपेजण अनुगमन करें। गुरू विरुद्ध आचरण न करें, गुरू सेवा के प्रति समर्पित रहें तथा आज्ञा पालन करें।

छात्र या ब्रह्मचारी के लिए मन, वचन और कर्म से शुद्ध तथा पवित्र होना आवश्यक है। वह संयमी तथा जितेन्द्रिय हो, जिज्ञासु व ज्ञान–पिपासु हो। ब्रह्मचर्य जीवन में व्यक्ति के लिए क्या कर्तव्य है तथा उनका व्यवहार व आचरण कैसा हो, इस विषय में पूर्व अध्याय में भी चर्चा की जा चुकी है, अतः यहाँ संक्षेप में ही इनका उल्लेख किया जा रहा है।

भविष्य पुराण–1 में छात्र की योग्यता का उल्लेख करते हुए कहा गया है– तुम जिसे परम पवित्र, नियत और ब्रह्मचर्य धारण करने वाला जानों, उसी पुरूष को मुझे बताना। ऐसे ही विप्र को विद्या कहती है मुझे उसे देना चाहिये जो मुझ निधि की रक्षा करने वाला और प्रमाद से रहित हो।

जब उपनयन संस्कार हो जाये, तब भली–भांति ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करते हुए गुरू के समीप में ही निवास करना चाहिये। वेदों का स्वाध्याय करें। अग्निहोत स्नान, भिक्षाटन करके उसे सर्वप्रथम गुरू की सेवा में समर्पित करना, उनकी आज्ञा प्राप्त करके ही उसे उपयोग में लायें। गुरू का जो भी प्रण हो उसे पूर्ण करने में सर्वदा उद्योग वाला रहे। गुरू के चरणों में अच्छी तरह से प्रीति की नीति रखने का प्रतिज्ञा पालन करें। जिस समय में अध्ययन करने को गुरू का आवाह्न हो, तभी उपस्थित होकर पढ़ें और आनन्दमन वाला और तत्परतापूर्ण रहें।

ब्रह्म मुहुर्त में निद्रा त्याग, प्रभात का मंगल पाठ करें। नैत्यिक कर्मों से निवृत्त हों।

समस्त तीर्थों से भी परमोत्तम अपनी माता के चरणों का स्मरण करके फिर पिता तथा श्रीगुरूदेव का हृदय में ध्यान करके प्रसन्न बुद्धि वाला होवे। इसके अनन्तर आवश्यक शारीरिक कृत्य करने के लिये नैऋत्य दिशा में गमन करना चाहिये। ग्राम से सौ धनुष दूर जाना चाहिये और यदि नगर हो तो इससे चौगुने फासले तक गमन करें। स्कन्द 1, 36/458.

नारद पुराण में वर्णित है कि ब्रह्मचारी को अत्यन्त सादगी से रहना चाहिए। मधु, स्त्री, मांस, लवण, उच्छिष्ट भोजन, दिन में शयन का परित्याग करें। छाता, खडाऊँ, माल्य, अनुलेपन, जल–विहार, नृत्य–गान, वाद्य, निन्दा, बकवाद, अन्जन का त्याग कर देना चाहिये। अपने से बड़ों का अभिवादन करें। वृद्ध तीन प्रकार के छोटे हैं– ज्ञान वृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्ध। जो वेद और शास्त्र का उपदेश देकर आध्यात्मिक व भौतिक दुखों को दूर करने वाले हैं, उनको सर्वप्रथम प्रणाम करें।

जो अपने माता–पिता की सदा सेवा भक्ति भाव से किया करता है, जो गुरू का परम् भक्त है, वह ईश्वर को धारण करने योग्य होता है। नारद 1, 60/216.

'पंच विद्या न गृहणन्ति चंड़ास्तब्धाश्च ये नराः।
अलशास्च सरोगाश्च येषां च विसृतं मनः ।।'

ये पांच विद्या का ग्रहण नहीं किया करते हैं– जो नरचण्ड है, स्तब्ध है, आलसी और रोगों से युक्त है तथा जिनका मन विसृत होता है। शिक्षा निरूपणं, नारद–2

कोई भी दुष्कृत हो जाये जो उसको गुरू वर्ग के आगे नही बोलें तथा यदि गुरू क्रुद्ध भी हो जाये तो उसको प्रसन्न करें। ब्रह्म 2, 38/283.

गुरू वर्ग जब कभी समागम होवें, तब उनको आसन देवें और उनके समागमन होने पर खड़े होकर उनका सत्कार आदि करें। (30) गुरू गणों के साथ अनुकूल आलाप

बुद्धिमान पुरूष को करना चाहिये, वे लोग जब गमन करें तो उनके पीछे–पीछे चलें और कभी भी उनके प्रतिकूल आचरण न करें। गुरू का परिवाद, निन्दा आदि नही करें, इनके साथ परिहास न करें। ब्रह्म 2, 31/283.

अपने गुरू सेवा में रति रखने वाले संसार चक्र से मुक्त हो जाते हैं। जो अपने गुरू वर्गों की निन्दा करते हैं, नरकगामी होते हैं। गुरू निन्दा करना व श्रवण करना पापकर्म है। जो अपने उपाध्याय को अधः करके अर्थात अपमानित करके अधम द्विज अध्यापन किया करते हैं, उनका जो अध्यापक होता है, वह सिर पर शिला का वहन किया करता है। गुरू त्याग और माता–पिता का त्याग करना पापकर्म है। नारद 1, 118–123/283–86

4.7 गुरू

पुराणों में इस तथ्य के स्पष्ट साक्ष्य हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था मे गुरू का स्थान उच्चतम था। इस संबंध में विभिन्न पुराणों में निम्न उल्लेख मिलते हैं।

प्राणियों में जो बुद्धिजीवी प्राणी होते हैं वे श्रेष्ठ होते हैं। बुद्धि से अपना जीवन–यापन करने वाले प्राणी बुद्धिजीवी कहे जाते हैं। बुद्धिमानों में भी नर श्रेष्ठ हैं और नरों में भी ब्राह्मण परम श्रेष्ठ माने जाया करते हैं। ब्राह्मणों में भी जो विद्वान होते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं। विद्वानों में कृत बुद्धि अर्थात प्रतिभा वाले श्रेष्ठ हैं। कृति बुद्धियों में भी कर्ता अर्थात करने वाले श्रेष्ठ हैं और कर्ताओं में ब्रह्म के ज्ञाता श्रेष्ठ होते हैं। 113–114 पेज 59 भविष्य पुराण 1

शिक्षक विद्या का दान करता है। विद्या का दान सभी दानों से उत्तम दान होता है। नारद 1, 100/280.

कूर्म पुराण में कहा गया है कि विद्या का दान करने वाला ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

गुरू के समान कोई तत्व नही है। नारद 1, 58/124.

चारों प्रकार के भूतों में प्राणी होते हैं, वे अतीव उत्तम हुआ करते हैं। इन प्राणियों में भी श्रेष्ठ मुनिगण होते हैं। ये सभी बुद्धि के उपजीवी हुआ करते हैं। विप्र को सदा आचारशील होना चाहिये। विद्वेष और राग से रहित होते हुए जो अनुष्ठित किया करते हैं बन्धुगण! उसको ही धर्म का मूल सदाचार होता है। स्कन्द 2, 6–7/453.

गुरूओं की श्रेणियां या प्रकार

इस संसार में अनेक प्रकार के गुरू हुआ करते हैं, उन सभी की बहुत ही समादर के साथ अर्चना एवं वन्दना करनी चाहिये। इनके विषय में मैं आपकों वर्णन करके बतलाता हूँ। वेदों का अध्यापन करने वाला, शास्त्रों की विशद् व्याख्या करने वाला, धर्मोपदेशक, नीतिशास्त्र बताने वाला, मन्त्रोपदेश करने वाला तथा मन्त्रों के अर्थ समझाने वाला, वेदों में समुत्थित, संदेहों को दूर करने वाला, व्रतों का उपदेशक, भय से बचाने वाला, अन्न दान करने वाला, श्वसुर, मामा, बड़ा भाई, पिता, उपनयन संस्कार करने वाला, जिसने गर्भादानादि संस्कार कराये हों, ये सब गुरू ही माने जाते हैं। इन सभी का सादर पूजन एवं वन्दना करनी चाहिये। 85–89 पेज 183, नारद 1

जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन संस्कार करके रहस्य और कल्प के सहित वेद का अध्यापन किया करते हैं, हे महाबाहो! मनीषि लोग उसे आचार्य कहा करते हैं। जो वेद का एक भाग अथवा वेद के एक अंग को वृत्ति के प्राप्त करने के लिए पढ़ाया करता है, वह उपाध्याय नाम से कहा जाता है। हे नृपोत्तम! जो नियेक आदि कार्यों को किया करता है, और जो किसी अन्य के द्वारा अध्यापन कराता है, वह गुरू कहा जाता है। अग्नाधेय पाक यज्ञ और अग्निहोम आदि मखों का जिसका वृत्त होकर जो किया करता है वह उसका यहॉ पर ऋत्विक कहा जाया करता है। 77, सावित्री महात्म्य, भविष्य पुराण।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृत्तौ यस्य स तस्यत्विग्रिहोच्यते।।

इस लोक में तीन गुरू हैं– प्रथम जन्म देने वाला, दूसरा उपनयन संस्कार करके वेद–ज्ञान देने वाला और तीसरा ब्रह्म ज्ञान देने वाला। इनमें से प्रथम गुरू पूजनीय है, द्वितीय मेरे समान है और तृतीय तो साक्षात मेरा ही स्वरूप है। इस मनुष्य देह में मेरे स्वरूप को ज्ञान देने वाले गुरू के उपदेशों से जो सहज ही संसार समुद्र से तर जाते हैं, वे अवश्य ही स्वार्थ सिद्धि में चतुर हैं। मैं गुरू सेवा से जितना प्रसन्न होता हूँ, उतना ब्रह्मचर्य, तप, यज्ञ, संन्यासी किसी भी धर्म से नही होता।

"सवै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह संभव।
आद्योऽग यत्राश्रिमिणां यथाहं ज्ञानदोगुयः।।" भविष्य/526

जो स्वयं आचरण किया करता है और अन्यों को भी आचार में स्थापित करता है तथा शास्त्र के अर्थों का सब ओर से चयन करता है, वह ही 'आचार्य'– इस नाम से कहा जाता है। आचार्य ऐसा ही होना चाहिये जो प्रतिपत्र अर्थात शरणगति में आ गये हैं उन पुरूषों को आनन्द प्रदान करने वाला हो और श्रुति तथा स्मृति के मार्ग का अनुगमन करने वाला हो। आचार्य सर्वदा अपनी विद्या के द्वारा अभय के देने वाला होता है तथा चंचलता व अस्थिरता से उसे रहित होना चाहिये। सत्पुरूषों के आचार का पूर्णतया पालन करने वाला हो तथा समयों पर अर्थात संध्या आदि के काल पर समुचित स्थानों पर स्थित रहने वाले हों। ऐसे उपयुक्त गुणों से विशिष्ट आचार्यों को प्राप्त कर ऐसे गुरूदेव की शिव की भाँति पूजा करनी चाहिये। लिंग 2, 20–23/297–98

गुरू लक्षण

गुरू अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण ही समाज में श्रेष्ठतम पद को प्राप्त करने में सक्षम होता है। अपने ज्ञान, विवेक, नैतिक स्तर व अनुभव के बल पर वह छात्रों का मार्ग–दर्शन करते हुए उन्हें सत्यान्वेषण के मार्ग में प्रवृत्त करता है।

जिस तरह से कर्णधार से रहित नौका पार जाने में असमर्थ हुआ करती है, उसी तरह से परम श्रेष्ठ विप्र भी यदि आचार से हीन है तो वह उद्धरण करने में समर्थ नही

होता है। बिना पढ़ा ब्राह्मण वर्णों की अग्नि के समान ही शीघ्र सुस्त हो जाया करता है। जहाँ पर सच्चरित्रता है और ये दोनों विद्या और तप भी विद्यमान है वह ही वस्तुतः पात्र कहा जाया करता है। स्कन्द 1, 8–9/200.

गुरू ज्ञान और भक्ति दोनों से सम्पन्न होना चाहिए। जो गुरू अपने धर्म से रहित हो और स्त्रियों के द्वारा जिसका हृदय अपहृत हो, उसे कभी भी अपना गुरू नहीं बनाना चाहिए। क्रियायोगा0 वर्णन,11–12/409.

गुरू को शिक्षा में पक्षपात नहीं करना चाहिये। जो न्याय व धर्म की शिक्षा में पक्षपात किया करते हैं, उसका एक–दो क्या दस हजार बार भी प्रायश्चित करें तो उद्धार नही हो सकता। पापों, प्रायश्चित, रोगों की चिकित्सा, ज्योतिष और धर्म के विषय में बिना शास्त्र का विचार किये बोलना महापाप है। नारद 1, 64. 119/255. 375.

विद्यादान योग्य पात्र को ही किया जाना चाहिये। जहाँ धर्म और अर्थ– ये दोनों नहीं होते हैं और उस प्रकार की शुश्रुषा भी नहीं होती है, वहाँ विद्या का वपन नहीं करना चाहिए अर्थात ऐसे व्यक्तियों को विद्या नहीं बतानी चाहिए। ऐसे पुरुष की विद्या का दान उसी प्रकार का होता है जैसे अच्छे बीज का ऊसर भूमि में बोना निष्फल हुआ करता है। (38–39) ब्रह्मवादी पुरुष को अपनी विद्या को अपने ही साथ लेकर मरना चाहिये किन्तु और आपत्ति में भी इस विद्या को अयोग्य को नहीं देवे। (40), विद्या ने ब्राह्मण से कहा था कि मैं तेरा खजाना हूँ, मेरी तू रक्षा कर, जो कोई असूया करने वाला हो, उसे मुझे मत देना, तभी मैं अधिक वीर्य वाली होकर रहूँगी।

धर्माथौ यत्र न स्यातां शूश्रूषां चापि तद्विधा।
न तत्र विद्यावप्तव्या शुभंबीजमिवोपरे ।। 39
विनयैव शमं कामं कर्तव्यं ब्रह्मवादिनां ।
आपद्यपि हि घोरायां न वेत्नांमारिणे वपेत्। 40
विद्या ब्राह्मणमित्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मा प्रादास्नथास्यां वीर्यवत्तमा ।। 41, भविष्य पुराण

4.8 गुरू शिष्य सम्बन्ध

गुरू और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों में अत्यन्त निकटता दृष्टिगोचर होती थी। डा0 अल्तेकर के अनुसार– ''छात्र तथा अध्यापक के मध्य सम्बन्ध किसी संस्था के माध्यम से नही वरन् सीधे उन्ही के बीच था। गुरू छात्रों के शिक्षा, भोजन, बर्तन, वस्त्र, चिकित्सा व उनके नैतिक बौद्धिक, शारीरिक, सामाजिक विकास के ध्यान रखते थे।''

अपने शरीर और मन से और श्रद्धा तथा वित्त के अनुसार धन के द्वारा भी शिष्य को तब तक गुरू की समाराधना करनी चाहिये, जब तक वह पूर्णतया प्रसन्नता प्राप्त कर लेवे। महाभाग गुरू के प्रसन्न हो जाने पर तुरन्त ही सम्पूर्ण पापों का क्षय हो जाया करता है। गुरू परम मान्य एवं पूजा के योग्य होते है और गुरू ही साक्षात सदा शिव हैं।

78, लिंग पुराण

वेदाध्ययन के आरम्भ में और अन्त में सदा गुरू के चरणों की पूजा करनी चाहिये। दोनों हाथों को सहत करके अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार हाथों के रखने ही को ब्रह्मजंलि कहा गया है। व्यत्सस्त हाथों वाले के द्वारा गुरू का उप संग्रहण करना चाहिये। नित्य ही प्रत्येक समय में गुरू तन्द्रा से रहित होकर अर्थात जिसको पढ़ने वाले अर्थात जिसको पढ़ाया जाये, उस शिष्य से यह कहे– 'पढ़ना आरम्भ करो। अब पढ़ना बन्द करो' निवारित करना चाहिये। वेद के अध्ययन के आरम्भ में और अन्त के सर्वदा प्रणव का उच्चारण करना चाहिये। जो आरम्भ में ओउम् कृत नही है। अर्थात जिसके आरम्भ में प्रणव का नही कहा जाता है। वह स्त्रित होता है और परस्तात में विशीर्ण हो जाता है। गुरू की सन्निधि में सर्वदा इसका अर्थात शिष्य का शय्यासन नीचा ही होना चाहिये। गुरू के चक्षु के विषय में अर्थात दृष्टि जहॉ तक जाती है, अपनी इच्छा के अनुसार आसन वाला नही हो। परीक्षा में भी गुरू के नाम का उच्चारण नही करना चाहिये। गुरू की गति, भाषण और चेष्टा का कभी अनुकरण नही करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उनकी गत्यादि की नकल नही करें। गुरू का परिवाद या निन्दा जहॉ पर कोई

भी करता हो, वहाँ उसे नही सुनें और अपने दोनों कानों को बन्द कर लें अथवा उस स्थान का त्याग करके दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिये। गुरू के परिवाद करने से गधे की योनि मिला करती है। गुरू की निन्दा करने वाला कुत्ता हुआ करता है। रुक–रुक कर गुय का अभिवादन करना चाहिये। प्रतिकूल और समान आसन पर कभी गुरू के साथ नही बैठें। जब गुरू श्रवण नहीं कर रहें हों तो कुछ भी नही कहना चाहिये। शिष्य को गुरू के प्रति सदैव विनयशील व आज्ञाकारी रहते हुए उसे पूर्ण सम्मान देना चाहिये। भविष्य 1, 8–11/75.

जो कोई भी ज्ञानपूर्वक या अज्ञान से गुरूदेव का अपमान किया करता है, उसकी विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, सन्तति, और सत्कर्माष्ठान ये सभी अत्यन्त शीघ्र ही नष्ट हो जाया करते हैं। जो अपने गुरूदेव की समादर के सहित सेवा–सत्कार किया करते हैं, उसको अतुल सम्पदा प्रदान हुआ करती है। नारद 1, 108–109/86.

गुरूजनों की निन्दा, अवज्ञा तथा तिरस्कार व्यक्ति के लिए अत्यन्त दुष्कर्म माने गए। जिन्होंने वेद, देवता ब्राह्मण और गुरूजनों की निन्दा की है, यह वज्रटुण्डी पक्षी उनकी जीभों को काटते हैं। जितनी बार यह पाप किया है, उतने ही वर्ष उन्हें ऐसी यन्त्रणा मिलती है। मार्कण्डेय 1, कर्मफल प्राप्ति, 44–45/200.

गुरू के साथ विवाद करना महापाप है। वामन 2, 22/112.

स्कन्द पुराण में उल्लेख है कि देवगुरू बृहस्पति के आगमन पर इन्द्र अप्सराओं के नृत्य देखने में ही मग्न रहा तथा उनका स्वागत नहीं किया। परिणामतः दैत्यों से पराजित हो हतश्री रहा।

गुरू को भी छात्र को पुत्रवत प्रेम व संरक्षण प्रदान करना चाहिये। व्यक्ति के स्वयं के कायिक व वाचिक पापों को तथा उसके माता–पिता, बन्धु–बान्धवों के द्वारा किए गए पाप–कर्मों का विलय भी शिष्य व पुत्र के द्वारा हो जाता है। वामन 1, 26–29/113.

4.9 मूल्यांकन

प्राचीन भारतीय शिक्षा में मूल्यांकन का भी विशेष महत्व था। गुरू व शिष्य, दोनों के लिए ही यह उचित माना जाता था कि वह एक–दूसरे की पात्रता का भली–भॉति परीक्षण करें।

परिकर्मों में दक्षता, विशेष ज्ञान और धारण करने का स्वभाव– इन तीनों गुणों की जांच करनी चाहिये। प्रगल्भता, प्रीति का भी परीक्षण करें। कथा के योगों में वाग्मिता और सत्यवादिता, उत्साह व प्रभाव का परीक्षण करें। क्लेशों के सहन करने का स्वभाव, धैर्य, अनुराग, स्थिरता– इन गुणों की जांच आपत्ति के समय में की जानी चाहिये। भक्ति, मैत्री, शौच– इनका ज्ञान और व्यवहार करें। संवासियों से बल, मन्त्र, आरोग्य, शील स्वभाव, अस्तब्धता, अचपलता, बैरों को न करना– ये सब बातें प्रत्यक्ष रूप से जान लेनी चाहिये। भद्रता और क्षुद्रता का भी ज्ञान प्राप्त करें। जो परोक्ष गुण वृत्तियां होती हैं, वे बुद्धिमानों के द्वारा अनुमान करने के योग्य हुआ करती हैं। अग्नि 1, 19–23/440.

गुरूदेव आचार्य को प्रारम्भ में तीन वर्ष तक विप्र शिष्यों को भली–भाँति परीक्षा करनी चाहिये। प्राण–द्रव्य के प्रदान के द्वारा तथा इधर–उधर के अनेकों आदेशों के देने के द्वारा जांच करें। उत्तम तथा अधम प्रकार के कार्यों में योजित करें और उत्तम तथा अधम वस्तुओं में उन्हें आकृष्ट करें। ताड़ना देने पर भी जो शिष्य विषाद को प्राप्त नही होते हैं, अर्थात गुरू के द्वारा ताड़ित होकर भी खिन्नता नही होती है, वे ही शिष्य वस्तुतः शिष्य धर्म के पालन करने के योग्य हुआ करते हैं। ऐसे शिष्य शिव धर्म में निष्ठित होते हैं और शिव धर्म में परायण भी होते हैं। सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करने वाले धीर, नित्य ही उद्युत चित्त वाले, दूसरों के उपकार में निरत रहने वाले तथा गुरू की सेवा में अनुराग करने वाले, सरल चित्त से युक्त, कोमल व्यवहार वाले, निरोग, अनुकूल, प्रिय बोलने वाले, अमानी, बुद्धिमान, स्पर्धा के भाव को छोड़ देने वाले, किसी भी प्रकार की इच्छा न रखने वाले, शौच एवं आचार के गुणों से समन्वित, दम्भ तथा

मत्सरता का त्याग करने वाले इस प्रकार से योग्य और शिव की भक्ति में जो परायण द्विज हों, वे ही शिष्यता के प्राप्त करने के अधिकारी हुआ करते हैं। इस प्रकार के आचरण से युक्त मन–वाणी और कर्म के द्वारा जो हों, ऐसे तत्वों की विशुद्धि के लिये शोधन करने के योग्य अधिकारी होते हैं। जो शुद्ध विनय से सम्पन्न, मिथ्या भाषण और कूटोक्ति करने वाला न हो तथा गुरू की आज्ञा का पूर्ण पालन करने वाला हो, वह ही शिष्य गुरू चरण की अनुकम्पानुग्रह का वास्तविक पात्र हुआ करता है और गुरू भी शास्त्रों का वेत्ता, प्रास, तपस्वी, सर्व साधारण शिष्यों पर वात्सल्य रखने वाला, लौकिक आचारों में रति रखने वाला, मोक्ष का दाता तथा तत्वों का ज्ञान रखने वाला बताया गया है। वह स्वयं अपने ऊपर ही अनुग्रह करने अर्थात अपना श्रेय सम्पादन करने में असमर्थ होता है, तो फिर दूसरे का कैसे अनुग्रह कर सकता है। जो द्विज प्रबुद्ध है और शुद्ध है, वह तो साधन भी कर सकता है, किन्तु जो तत्व–हीन है, उसमें बोध कैसे हो सकता है, और क्या उसको आत्म–परिग्रह हो सकता है? जो आत्म–परिग्रह अर्थात आत्म–ज्ञान से रहित है, वे सब पशु ही कहे गये हैं और ऐसे पशु–स्वरूप गुरूओं से जो प्रेरणा प्राप्त करने वाले हैं, वे भी पशु ही कहे गये हैं। इसलिये अपने और पराये कल्याण के लिये तत्व ज्ञान परमावश्यक है। जो पुरूष तत्व–वेत्ता है, वे स्वयं भी मुक्त हो चुकते हैं और फिर अन्य शिष्यों को भी मुक्त कर दिया करते हैं। गुरू का सामर्थ्य समन्वित कर्त्तव्य बताते हुए कहते हैं अथवा गुरूदेव योग के मार्ग के द्वारा स्वयं शिष्य के देह में प्रवेश करके उसकी शुद्धि करके योग से ही समस्त तत्वों को बोधित कर दिया करते हैं। योगियों के ज्ञान–योग से षडर्ध अर्थात गुण त्रय की शुद्धि हो जाती है। शिष्य की गुरू को परीक्षा कर लेनी चाहिये कि वह धर्म का ज्ञाता, धर्म का आचरण करने वाला, वेदों के ज्ञान का पारगामी है। जिस प्रकार से एक दीपक से दूसरा दीपक जला दिया जाता है, वैसे ही गुरू को विधि–विधान से संवरण करना चाहिये। लिंग 2, 24–38/298–302.

जहॉ धर्म और अर्थ ये दोनों नही होते हैं और उस प्रकार की सुश्रुषा भी नही होती है, वहॉ विद्या का वपन नही करना चाहिये। अर्थात ऐसे व्यक्तियों को विद्या नही

बतानी चाहिये। ऐसे पुरूष की विद्या का दान उसी प्रकार का होता है जैसे अच्छे बीज का उस पर भूमि में बोना निष्फल हुआ करता है। ब्रह्मवादी पुरूष को अपनी विद्या को अपने ही साथ लेकर मरना चाहिये किन्तु आपत्ति में भी इस विद्या को अयोग्य को नही देवें। विद्या ने ब्राह्मण से कहा था कि मैं तेरा खजाना हूँ, मेरी तू रक्षा कर, जो कोई असूया करने वाला हो, उसे मुझे मत देना, तभी मैं अधिक वीर्य वाली होकर रहूंगी। भविष्य 1, 37–41/79.

शिक्षा की प्रक्रिया का प्रत्येक अंग व्यवस्था आधारित होना चाहिये। मूल्यांकन में भी पक्षपात न हो, पूर्ण वस्तुनिष्ठता हो। शिव गणेश को निर्देश देते हुए कहते हैं–

अध्यापन, अध्ययन, व्याख्यान और कर्म– जो न्याय से हीन कोई भी करे, उसके प्राणों का हरण करो। लिंग 2, 24–25/119.

4.10 अनुशासन

•

जीवन के उच्चतम लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के जीवन में अनुशासन के महत्व को सदा–सर्वदा से स्वीकार किया जाता रहा है। अनुशासन की नींव विद्यार्थी जीवन से ही डाली जाती है, ताकि आज का बालक कल का एक अनुशासित नागरिक बन सके।

वैदिक तथा वैदिकोत्तरयुगीन शैक्षिक संस्थाओं में विद्यार्थी का जीवन पूर्ण रूप से अनुशासित था। गुरू के निर्देशानुसार अध्ययन एवं दैनन्दिन के व्यवहार की कठोर नीतियां अपनाने के कारण ही विद्यार्थी को व्रताचारी या ब्रह्मचारी की संज्ञा दी जाती थी। गुरूकुल में प्रवेश की आयु से लेकर अध्ययन की समाप्ति तक विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था।

इन्द्रिय नियंत्रण, कठोर दिनचर्या, सादगीपूर्ण रहन–सहन, सेवा कार्यों के निष्पादन आदि के माध्यम से ब्रह्मचारी में शारीरिक व मानसिक अनुशासन जाग्रत किया जाता था। शिक्षा पद्धति उसे आध्यात्मिक अनुशासन की ओर प्रवृत्त करती थी।

दण्ड आत्म सुधार के लिये आवश्यक माना जाता था। छात्र का गुरू के प्रति विनम्र व आज्ञाकारी होना आवश्यक माना जाता था।

पुराण कहता है कि उपाध्याय से आज्ञा लेकर जो भी कार्य किये जाते हैं, वे सब पूज्य होते हैं। भविष्य, 77–83/86.

हाथों को चरणों में विन्यास करके ही गुरू का उप संग्रहण करना चाहिये। सत्य कर से सत्य चरण का और दक्षिण कर से दक्षिण का स्पर्श करें। लौकिक तथा वैदिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान जिससे भी ग्रहण करें उसी को सर्वप्रथम अभिवादन करना चाहिये। गुरू को देखकर खड़ा हो जाना चाहिये और कृतांजलि होकर उनको अभिवादन करना चाहिये। उनके साथ में बराबर में कभी नही बैठना चाहिये और अर्थ के कारण से कभी इनके साथ विवाद भी नही करें। अन्य गुणों से समुदित होता हुआ भी जो गुरू का द्वेषी होता है, वह अधःपतन का अधिकारी हो जाया करता है। कूर्म 2, 22–23/122.

छात्र धर्म

अपने गुरूदेव से बिना पूछे हुए ब्रह्मचारी शिष्य को कहीं पर भी नही जाना चाहिये। गुरूदेव के प्रिय कार्य तथा हित के कार्य में रति रखने वाला होना चाहिये। गुरूदेव के सानिध्य में कभी भी पैरों को नही फैलाना चाहिये। जंभाई, हास्य तथा आदिक तथा कण्ठ का प्रावरण नित्य ही गुरू की सांनिध्य में वर्जित रखना चाहिये। यथा समय पर अध्ययन करें। जब तक गुरूदेव विमना में होवे, गुरू के कथन करने पर ही सम्मिलित होकर फलक पर बैठ जायें। आसन, शयन और यान में कभी भी एक साथ नही बैठना चाहिये। गुरूदेव धावन करते हों तो स्वयं भी उनके पीछे दौड़ लगावें। गुरूदेव गमन करते हों तो उनके पीछे स्वयं भी शिष्य ब्रह्मचारी को गमन करना चाहिये। गऊ, अश्व,

ऊँट, यान प्रासाद और प्रस्तर पर तथा कर पर एक साथ गुरू के नही बैठें। शिला के फलक पर और नाव में अपने गुरू के साथ नही बैठना चाहिये। ब्रह्मचारी को निरन्तर इंद्रियों को जीतने वाला, आत्मा को वश में रखने वाला, शुचि और क्रोध–रहित होना चाहिये। सर्वदा हित का भाषण करने वाली मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिये। गंध, माल्य, गव्य रस, प्राणियों की विशेष हिंसा, उपानव, छत्र, काम, क्रोध, लोभ, भय, निद्रा, गीत, वादित्र, नृत्य, द्यूत, जनों का परिवाद और पैशून्य इन सब का परिवर्जन ब्रह्मचारी को कर देना चाहिये। सर्वदा नृत्य देखने वाला नही होवे और ब्रह्मचारी को गीत आदि स्पर्हा नही रखनी चाहिये। एकान्त में अशुचि स्त्रियों के साथ, शूद्र और अन्त्यजों के साथ अभिभाषण नही करना चाहिये। गुरू के पुत्रों में, गुरू की स्त्री और गुरू के बंधुओं में नित्य ही गुरू के समान ही वृत्ति करनी चाहिये। यही श्रेय की बात है। कूर्म 2, 10–19–21/138.

गुरू जिस समय में उसको अध्ययन करने के लिये आहूत करें, तभी उन आचार्य वर की सन्निधि में समुपस्थित होकर अध्ययन करने वाला– गुरूजी के सम्पूर्ण कर्मों के सम्पादन करने के लिये सदा उद्यत रहने वाला गुरूचरण से पहले शय्या त्याग कर उठने वाला और उनके शयन करने के पश्चात सोने वाले परम मृदु, दमनशील, धृतिमान, अप्रमत्त एवं जो सर्वदा स्वाध्याय के शील वाला है वही ब्रह्मचारी सिद्धि प्राप्त किया करता है। मत्स्य 1, 2/179.

गुरू–निन्दा या अपमान, गुरू की अवज्ञा व द्रोह पापकर्म माने जाते थे। अत्यन्त ह्रास करना–असतों का सा आरम्भ अर्थात किसी बुरे कर्म को करना और लीला से स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति करना– इन सब कर्मों का गुरूगण की सन्निधि में यत्नपूर्वक वर्जित करना चाहिये। गुरू वर्ग के प्रतिकूल उनके वचन के विरुद्ध एवं असुक्त वचन कभी नही बोलना चाहिये। सम्पूर्ण यत्न के द्वारा कभी भी अनिष्ट का स्मरण नही करें तथा यतियों के आसन, वस्त्र, दण्ड़ आदि और पादुका तथा यज्ञ के उपकरणों का पैर आदि से कभी स्पर्श नही करना चाहिये। माल्य, शयन, स्थान, पात्र और छाया का भी स्पर्श नही करें।

साधना करने वाले मानव को देवता से द्रोह तथा गुरू से द्रोह नही करना चाहिये और ऐसा पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि द्रोह का भाव कभी भी मन में उत्पन्न न हो।

गुरू के साथ वार्तालाप में शिष्टाचार का समुचित पालन करना चाहिए। महान मूढ़ पुरूष जो होता है, वही अपने गुरू से 'तू' या 'हूँ' ऐसा कहकर बोला करता है। वह निश्चय ही निर्जन बियावान वन में ब्रह्म राक्षस हुआ करता है। (32) शास्त्रों का यह परम् निश्चित सिद्धान्त है कि जो अपनी इंद्रियों को और क्रोध को वश में रखकर गुरू की सेवा–सुश्रुषा में निरन्तर रत रहते हैं, वे ब्रह्म–लोक में गमन किया करते हैं। अपने गुरूदेव की छाया और उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। नारद 1, 33/172.

गुरू की परीक्षा लेने की दृष्टि से या उनको ऊहा–पोह मे डालने की इच्छा से प्रश्न पूछना छात्र के लिए अनुचित व्यवहार माना जाता था। प्रश्न वस्तुतः अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए ही किए जाने चाहियें।

गुरू की अवज्ञा के फलस्वरूप मिलने वाले दुष्परिणामों के विषय में पुराणों में निम्न कथन स्वयं शिष्यों के द्वारा कहे गए हैं– मैं था तो श्रद्धा से समन्वित किन्तु बाल्यकाल ही से भ्रष्ट हो गया था क्योंकि मै सुनीति में आगे समाचरण करता हुआ होकर ऊहा–पोह करने वाले प्रश्न बार–बार मैनें पूछा था और अन्याय बोलने वाले मुझको गुरूदेव नित्य ही निषेध कर दिया करते थे। जब मैनें उनके वचन की अवहेलना करके उनका परिपालन नही किया था तो उन्होंने कुपित होकर उसी समय में मुझे शाप दे दिया था। नारद 1, 36–37/383.

अपनी बुद्धि, विद्या, धन, यौवन में गर्वोन्मत्त छात्र यदि गुरू की अवज्ञा करता है, उसके प्रति उदासीनता प्रकट करता है तो वह सच्चा शिष्य नहीं है। लोकों का विरोध और अपने गुरू में उदासीनता दिखाने वाला होने के कारण से ही राक्षस शरीर पाकर दुख से अत्यन्त संतप्त होकर निवास किया करता था। नारद 1, 71/180.

हे महाभाग ! मैं विद्या के, धन और यौवन की अवस्था के मद से मत्त हो गया था। मैनें अपने गुरूदेव के चरणों में उदासीनता प्रकट की थी, इसीलिये मुझे यह दशा (राक्षसत्व) प्राप्त हुई है। नारद 1, 80/181.

गुरूजनों का अपमान मनुष्यों को राक्षसत्व प्रदान किया करता है। इसका मुझको अच्छी तरह से अनुभव हो गया है। अतः श्रीमानों को भूलकर भी ऐसा अपराध कभी नही करना चाहिये। नारद 1, 83/182.

ब्राह्मण शिष्य से क्षत्रिय व वैश्य शिष्य की तुलना में अधिक अपेक्षायें रखी जाती थी। संभवतः इसलिए कि वह भावी गुरू होगा।

हे महाबाहो! ब्राह्मण का जो कर्म कहा है, वह पंडितों ने क्षत्रिय और वैश्य को नहीं कहा है। (92) प्रेरित किया गया हो या गुरू के द्वारा प्रेरणा नहीं की गई हो, नित्य ही अध्ययन में योग करे और अपने आचार्य के हितों में योग दे। (93) ज्ञानेन्द्रियों को मन से नियंत्रित करके तथा अपने शरीर और वाणी का नियतन करके गुरू के सुख को देखता हुआ प्रांजलि होकर अवस्थित होना चाहिए। (94) नित्य की उद्धृत पाणि होकर रहे, साधु आचार वाला और संयत रहे। जब यह कहा जावे कि बैठ जाओ तो गुरू के मुख के सामने ही बैठ जाना चाहिए। (95) अपने गुरू की सन्निधि में अर्थात समीप में वस्त्र वेशों और अन्नों से हीन होकर रहना चाहिये। जब अपने गुरू उठें तो इनसे पहले ही स्वयं उठ जाना चाहिये तथा गुरू से नीचे के स्थान में सदा बैठना चाहिये। (96) गुरू की बात का प्रतिश्रवण तथा उनके साथ सम्भाषण तल्ल पर बैठे हुए कभी नहीं करना चाहिये। बैठे हुए, भोजन करते हुए और परांगमुख होकर भी गुरू की बात का श्रवण या उनके साथ भाषण न करें। जब गुरू बैठ जावे तो स्वयं भी स्थित हो जावें, वे चले तो चलना चाहिये और स्थित होवें तो स्वयं भी स्थित हो जावें। जब गुरू गमन करें तो स्वयं प्रतिगमन करने वाला हो जावें और वे दौडें तो उनके पीछे दौड़ लगानी चाहिये। (97–98) यदि गुरू परांगमुख हों तो उनके अभिमुख हो जाना चाहिये। यदि गुरू दूर में

स्थित हों तो उनके समीप आकर नमस्कार करें और शयन करते हों तो उनके निदेश में सदा रहना चाहिये। (99)

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरूसन्निधौ।
गुरोश्च चक्षुर्विषये न यथेष्ठामनो भवेद्।। 100
नाचोच्चारणमेवास्य परोक्षमपि सुव्रत।
न चैनमनु कुर्वीत गतिभाषणचेष्टितेः।। 101
परीवादस्तथा निन्दा गुरोयैत्रं प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातब्यौ गन्तव्यं वां ततीऽन्यतः।। 102
परीवादाद्रासभः स्यात्सारमेयस्तु निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी।। 103
दूरस्थोनाचयेदेनं क्रुद्धोनान्तिके स्त्रियाः।
यानासनगतो राजन्नवरुह्यभिवादयेत्।। 104
प्रतिकूले समाने तु नासीत् गुरुणा सह।
अश्रृवति गुरौ राजनन किंवचदपि कीर्तयेत्।। 105
इत्येव कथितो धर्म प्रथमं ब्रह्मचारिणः।
गृहस्थस्यापि राजेन्द्र श्रृणु धर्ममशेषतः। 106
काले प्राप्तं व्रतं विप्र ऋतुयोगेन भारत।
प्रलापयन्व्रतं याति ब्रह्मसालोक्यतां विभो। 107

अपने गुरू की सन्निधि में सर्वदा इसका अर्थात शिष्य का शय्यासन नीचा ही होना चाहिये। गुरू के चक्षु के विषय में अर्थात दृष्टि जहॉं तक जाती हो, वहॉं तक अपनी इच्छा के अनुसार आसन वाला नहीं हो। हे सुव्रत ! परीक्षा में भी गुरू के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिये। गुरू की गति, भाषण और चेष्टा का कभी अनुकरण नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उनकी गत्यादि की नकल नहीं करें। गुरू का निन्दा या परिवाद जहॉं पर कोई भी करता हो, वहॉं उसे नहीं सुनें और अपने दोनों कानों को बन्द कर लेवें अथवा उस स्थान का त्याग करके दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिये। गुरू के परिवाद करने से रासभ (गधा) की योनि मिला करती है। गुरू की निन्दा करने वाला कुत्ता होता है। गुरू के भाग का परिभोग करने वाला कृमि होता है और जो गुरू का मत्सरी होता है, वह कीट होता है। जब दूर में स्थित होवें तो गुरू का अर्चन न करें।

क्रुद्ध अवस्था में रहने वाला और स्त्री के समीप स्थित भी गुरू अर्चन न करे। किसी यान में स्थित तथा आसन पर बैठा हुआ भी गुरू का अर्चन न करे। हे राजन ! रुककर गुरू का अभिवादन करना चाहिये। प्रतिकूल और समान आसन पर कभी भी गुरू के समीप न बैठें। जब गुरू श्रवण न कर रहें हों तो कुछ भी नहीं कहना चाहिये। भविष्य, 100–105/91.

4.11 विद्यालय

प्राचीन भारत में अधिकांश शिक्षा गुरूगृहों अथवा गुरूकुलों में होती थी, जो सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे। सुदीर्घ काल तक अध्यापक व्यक्तिगत रूप से शिक्षण कार्य करते रहे। कुछ विशेष स्थानों पर बड़ी संख्या में इनका समुदाय बन जाता था। ये स्थान राज्यों की राजधानियां होते थे या प्रसिद्ध धार्मिक तीर्थ। राजाओं द्वारा विद्या को प्रोत्साहन दिये जाने तथा विद्वानों को संरक्षण दिए जाने से विद्यान ब्राह्मण उनके नगरों की ओर स्वाभाविक रूप से आकर्षित होते थे। इस प्रकार इन स्थानों पर शिक्षा केन्द्र स्थापित हो जाते थे। भारतीय शिक्षा–संस्थाओं का प्राचीनतम तथा प्रमुख रूप गुरूकुल है। विद्यार्थी गुरू के साथ उसके कुल अर्थात कुटुम्ब या घर मे रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे। इसीलिये इन्हें गुरूकुल कहा गया। गुरूकुलों के आचार्य प्रायः गृहस्थ होते थे। अतः ये किसी ग्राम के निकट, परन्तु कोलाहल से दूर किसी एकान्त उपवन या स्थल में स्थित होते थे। शिक्षा संस्थाओं का एक अन्य रूप ऋषि–आश्रम के रूप में भी पुराणों मे देखने को मिलता है। ऋषियों के आश्रम नगरों तथा ग्रामों से बहुत दूर निर्जन वनों अथवा पहाड़ों में स्थित होते थे। ऋषि–गण एकान्त स्थलों मे तप–साधना करना अधिक श्रेयष्कर समझते थे। इन वन–विद्यालयों में ज्ञान–पिपासु ब्रह्मचारी ऋषियों के चरणों में बैठकर गम्भीर दार्शनिक तत्वों का अध्ययन करते थे।

गुरूकुल व गुरू–आश्रम पूर्णतया स्वायत्त होते थे। उनमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं था। छात्रों को इन्हीं गुरूकुलों में रहकर छात्र–जीवन व्यतीत करना होता था। आश्रमों के

आस–पास कृषि योग्य भूमि में छात्रों की सहायता से कृषि कार्य भी कराया जाता था, जिससे खाद्यान्न की प्राप्ति हो सके। ब्रह्मचारी भिक्षाटन के द्वारा भी खाद्य–पदार्थ मांग कर लाते थे। उन्हें भिक्षा देना गृहस्थ का पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था। छात्र वनों से फल–फूल, कन्द–मूल व ईंधन भी एकत्र करते थे। आश्रम में गौ–पालन भी होता था। शिक्षा यद्यपि निःशुल्क थी परन्तु छात्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार शिक्षा–समाप्ति पर गुरू को दक्षिणा प्रदान करते थे। गुरू को उचित दक्षिणा को स्वीकार करने का अधिकार था। राज–परिवारों व सम्पन्न व्यक्तियों के बालक प्रारम्भ में ही दक्षिणा की धनराशि गुरू को समर्पित कर देते थे। साधनहीन विद्यार्थी स्वयं परिश्रम करके अथवा दान–सहायता द्वारा गुरू–दक्षिणा चुकाते थे। गुरू–दक्षिणा के रूप में गाय, अश्व, अन्न व शाक–भाजी आदि कुछ भी दिया जा सकता था।

धन लेकर विद्यादान करना नितान्त निन्दनीय माना जाता था। शिक्षा देना ब्राह्मणों का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। गुरू–ऋण से मुक्त होने का एकमात्र साधन यही था। अध्यापन का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान–प्रसार था, जीविकोपार्जन नहीं। गुरूकुलों की आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित होने के कारण उन्हें अपनी अर्थ–व्यवस्था के लिए राजकीय सहायता तथा छात्र शुल्क पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। इसी कारण उनके लिये राजकीय तथा सामाजिक हस्तक्षेप से मुक्त होकर शिक्षा प्रदान करना संभव हो सका था। आचार्यों की अर्थ–संबंधी आवश्यकताओं का ध्यान रखना राजा तथा समाज का उत्तरदायित्व माना जाता था। राजा द्वारा शिक्षा–संस्थाओं को समय–समय पर धन, भूमि तथा गाँव आदि देकर सहायता दी जाती थी। इस प्रकार आश्रमों में सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने लायक सामान्यतः वांछित साधन् उपलब्ध हो जाते थे। गुरूकुल आत्म–निर्भर होने के कारण समाज व राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त रहते थे।

राजा द्वारा ऋषि–मुनियों का अत्यधिक सम्मान किया जाता था। राज्यागमन पर राजा द्वारा उनकी अगवानी की जाती थी, उच्चासन प्रदान कर आदर–सत्कार किया जाता

था, राजकीय कार्यों में उनसे मन्त्रणा ली जाती थी। कुछ ऋषि राज्य के पुरोहित भी होते थे। नीति–निर्धारण व निर्णयों में उनका परामर्श महत्वपूर्ण होता था।

गुरू की कृपा के लिये राजा आकांक्षी रहता था तथा गुरू–कोप से बचने हेतु प्रयत्नशील। ऋषि–मुनि अपने कठोर संयमपूर्ण जीवन, तपश्चर्या, निस्पृहता, भौतिकता के प्रति उदासीनता आदि गुणों के बल पर इस उच्चतम स्थान को प्राप्त किए हुए थे।
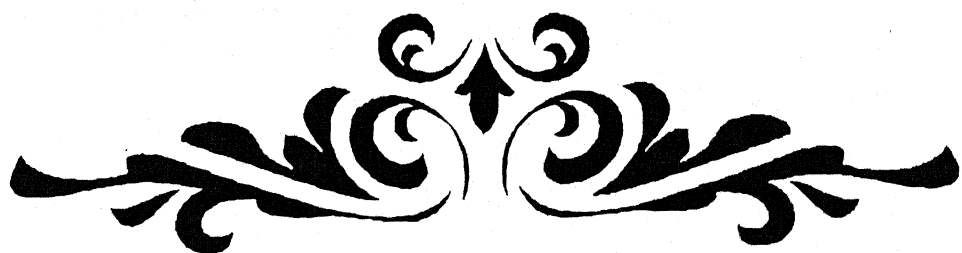
पुराणों के शैक्षिक तत्वों का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समालोचनात्मक मूल्यांकन

अध्याय 5

पुराणों के शैक्षिक तत्वों की समालोचना

पुराणों के शिक्षा दर्शन के अन्तर्गत शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधियाँ, छात्र, शिक्षक, छात्र–शिक्षक सम्बन्ध, अनुशासन एवं विद्यालय आदि अंगों का पूर्व अध्याय में वर्णन किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में शिक्षा के इन्हीं अंगों के सन्दर्भ में पौराणिक विषय–वस्तु का समालोचनात्मक विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है।

शिक्षा के उद्देश्य

ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना का विकास, चरित्र–निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक गुणों का विकास, आत्म–परिपूर्णता की प्राप्ति तथा संस्कृति का संरक्षण आदि पुराण वर्णित शिक्षा दर्शन के प्रमुख उद्देश्य हैं। ये उद्देश्य व्यक्ति व समाज दोनों के विकास की दृष्टि से निर्धारित किए गए थे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष– ये 'पुरुषार्थ चतुष्ट्य' व्यक्ति के लिए अभीष्ट थे। यद्यपि मोक्ष–प्राप्ति जीवन का परम् लक्ष्य था, तथापि लौकिक सुखों को प्राप्त करना तथा सम्मानजनक जीवन जीना भी एक गृहस्थ के श्रेष्ठ कर्तव्य माने गए थे। वर्तमान युग की भाँति शिक्षा केवल जीविकोपार्जन या भौतिक सुखों की प्राप्ति का साधन–मात्र न थी, आध्यात्मिक परिपूर्णता ही उसका उच्चतम लक्ष्य था। चारित्रिक व नैतिक विकास पर भी विशेष ध्यान दिया गया था। ब्रह्मचारियों में समाज के प्रति अनुग्रह–भावना का विकास करने की दृष्टि से ही भिक्षाटन हेतु उन्हें निकटस्थ ग्रामों में भेजा जाता था। यह समाज का उन पर ऋण था, जिससे उन्हें गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने के पश्चात समाज सेवा, अतिथि–सत्कार तथा ब्रह्मचारियों को दान देकर उऋण होना था।

पाठ्यक्रम

पौराणिक शैक्षिक तत्वों में शिक्षा के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत लौकिक व पारलौकिक, दोनों ही प्रकार के ज्ञान का समावेश किया गया दिखाई पड़ता है। आध्यात्मिक विद्या के अन्तर्गत वेद, वेदांग, उपनिषद, पुराण व नीति–शास्त्र तथा लौकिक पाठ्यक्रम में अंक–शास्त्र, इतिहास, भूगोल, व्याकरण, भूगर्भ विद्या, तर्कशास्त्र, गणित, भौतिक शास्त्र व प्राणिशास्त्र विषय सम्मिलित थे। उत्तर वैदिक काल में पाठ्यक्रम में अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, आयुर्वेद, पशुपालन, शिल्प व ललित कलायें भी सम्मिलित किए गए।

कुछ आलोचकों का कहना है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था मे लौकिक शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया, जिससे यह मनुष्यों को केवल परलोक–दृष्टा तथा असांसारिक बनाने में सहायक हुई। मनुष्य इस जीवन तथा जगत् को असार मानने लगा। उसमें व्यावहारिक संसार के प्रति उदासीनता तथा पलायनवादिता की प्रवृत्तियों का विकास हुआ। अवैज्ञानिक दृष्टिकोण विकासित होने से भारत में भौतिक उन्नति का मार्ग भी अवरुद्ध हुआ। पुराणों में उल्लेख है कि आयुर्वेद के प्रवर्तक अश्वनि कुमारों को ब्राह्मणों के विरोध के फलस्वरूप यज्ञ भाग देना बन्द कर दिया गया था। यहाँ तक कि वैद्यक कर्म करने वाले व्यक्तियों को भी समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। बाद में आयुर्वेद के अन्तर्गत अवैज्ञानिक तत्वों यथा– रोग, व्यक्ति के पिछले जन्म के बुरे कर्मो का परिणाम होते हैं, का समावेश कर देने से चिकित्सकों तथा ब्राह्मणों के मध्य एक समझौते की स्थिति उत्पन्न हुई तथा अश्वनि कुमारों को पुनः यज्ञ भाग दिया जाने लगा।

वस्तुतः यह आलोचना करना भी पूर्णतः उचित नहीं होगा कि प्राचीन शिक्षा का स्वरूप केवल आध्यात्मिक या धार्मिक ही था। सूक्ष्मता से तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था के पाठ्यक्रम पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जीवन के लिए आवश्यक जिस ज्ञान, शिल्प व कौशलों की आवश्यकता उस काल में व्यक्तियों को थी, तथा उस अवधि में

विभिन्न क्षेत्रों का जो भी ज्ञान उपलब्ध था, उसी के आधार पर पाठ्यक्रम सुनिश्चित किया गया था।

शिक्षण विधियाँ

वैदिक काल में शिक्षण विधि मुख्य रूप से मौखिक थी। जिस कालावधि में पुराणों की रचना हुई थी, उस अवधि में लेखन कार्य पर्याप्त रूप से होने लगा था। पुराणों से यह ज्ञात होता है कि पुराणों के प्रवचन के साथ–साथ उसके लेखन को भी एक पवित्र कार्य माना जाता था। गुरूकुलों व ऋषि आश्रमों में प्रवचन, व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, वाद–विवाद, निरीक्षण, प्रदर्शन आदि शिक्षण विधियाँ प्रचलन में थी। छात्रों में चिन्तन, मनन व निदिध्यासन के विकास पर बल दिया जाता था। शिक्षण विधियाँ क्रिया केन्द्रित भी थी तथा ''करके सीखना''पर भी पर्याप्त बल दिया जाता था। ज्ञान को कंठस्थ करने के लिये पुनरावृत्ति व अभ्यास विधि का प्रयोग किया जाता था। ब्रह्मचारियों को ही नहीं वरन् गृहस्थों को भी स्वाध्याय के लिए प्रेरित किया जाता था।

विषय–वस्तु को स्पष्ट करने के लिए उपमा, रूपक, दृष्टान्त, लोकोक्ति व प्रत्यक्ष उदाहरणों का उपयोग किया जाता था। कथाओं व गाथाओं के माध्यम से भी विषय का स्पष्टीकरण किया जाता था। छात्र चूँकि दीर्घावधि तक गुरू के सम्पर्क में रहते थे, अतः गुरू के लिये यह संभव था कि वह अपने शिष्यों की व्यक्तिगत भिन्नताओं की पहचान करके उनके लिये उपयुक्त पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधि का निर्धारण करते हुए शिक्षा दे।

आधुनिक समय में पाठ्यक्रम निर्धारण करते समय उसके मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय तथा दार्शनिक आधारों को ध्यान रखा जाता है। पाठ्यक्रम आवश्यकता–उन्मुख, बाल–केन्द्रित, जनतांत्रिक तथा लचीला होता है। पाठ्यक्रम की प्रकृति तथा छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नता को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षण–विधियों का निर्धारण किया जाता है। वर्तमान समय में प्रचलित शिक्षण–विधियाँ प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में भी किसी न किसी रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

शिक्षक, छात्र तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध

पुराणों के शैक्षिक विमर्श में गुरू का स्थान अत्यन्त उच्च परिलक्षित होता है। गुरू को ईश्वर रूप माना गया है। त्यागमय जीवन, विद्वता, तपश्चर्या एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा गुरू स्वयं का आदर्श उदाहरण लोक के सम्मुख रखता था, इसीलिए वह असीम श्रद्धा व सम्मान का पात्र भी था। वह राजा के द्वारा पूज्य था। राजा गुरूजनों के कोप से भयभीत रहते थे।

शिक्षक गुरू का आधुनिक संस्करण है। वर्तमान में शिक्षण एक वृत्ति है तथा शिक्षक एक वेतनभोगी कर्मचारी। भारतीय समाज में शिक्षक के सम्मान व स्थान में अत्यधिक गिरावट आई है। इसके कारणों का यहाँ विस्तृत विवेचन करना न तो संभव है और न ही शोधकर्ता का उद्‌देश्य। परन्तु यह स्पष्ट है कि शिक्षक व समाज दोनों ही इसके लिये कहीं न कहीं दोषी हैं।

गुरूकुलों के माध्यम से छात्र आगामी जीवन के कर्तव्यों के निर्वहन के लिए तैयार किए जाते थे। गुरूकुल बालक के गृह का स्थानापन्न थे तथा गुरू उसके अभिभावक थे। गुरू–शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त सहज, सरल, भावनात्मक तथा पारिवारिक थे। पारस्परिक संबन्धों का यह स्वरूप निश्चय ही श्रेष्ठतम था, जिसका वर्तमान समय में अभाव है। गुरू शिष्य का आध्यात्मिक जनक था जो उसे दूसरा जन्म (द्विज) देता था। आधुनिक शिष्य उपभोक्ता है, जो शुल्क देकर शिक्षक से उसकी सेवायें प्राप्त करता है। आधुनिक भौतिकतावादी युग में शिक्षकों से यह अपेक्षा करना तो अनुचित होगा कि वे प्राचीन गुरू की भाँति एक तपस्वी का सा जीवनयापन करें, परन्तु शिक्षण व्यवसाय की गरिमा व श्रेष्ठता को ध्यान रखते हुए यदि वे अपने व्यवसाय संबंधी आदर्शों, मूल्यों व उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हुए समर्पण भाव से कर्तव्य–पालन करेंगे तथा साथ ही शिक्षक व्यवहार के मापदण्डों पर खरा उतरेंगे तो समाज में उनके सम्मान में निश्चय ही वृद्धि होगी।

अनुशासन

अनुशासन की आदर्शवादी विचारधारा का प्रभाव पुराण के शिक्षा दर्शन में स्पष्टतः परिलक्षित है। यह माना जाता था कि गुरू के आदर्श व निष्कलुष आचरण का प्रभाव शिष्य पर पड़ता है। छोटे अनुकरण द्वारा अपने बड़ों से बहुत कुछ सीखते हैं। भारतीय संस्कृति में बालक के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले यही प्रभाव संस्कार कहे जाते हैं। पारिवारिक संस्कार बालक के व्यक्तित्व पर गहन प्रभाव डालते हैं। गुरूकुल शिक्षा में अनुशासन पर बहुत बल दिया जाता था। ब्रह्मचर्य–युक्त सादगीपूर्ण जीवन, नियमित दिनचर्या तथा गुरू के प्रति विनम्रता व आज्ञाकारिता का भाव होने से छात्रों में अनुशासनहीनता उत्पन्न होने के अवसर कम ही होते थे। गुरू शिष्यों के लिए पितृ–तुल्य व देव–तुल्य था। छात्र गुरू की संतान के समान थे। प्रेम व सम्मान से युक्त इस प्रकार के पारस्परिक संबंधों के होने पर यदि किसी त्रुटिवश शिष्य को दण्ड दिया भी जाता था, तो उसके स्वरूप में कितनी कल्याणकारिता व शुभ्रता होती होगी, इसका सहज अनुमान किया जा सकता है। अतः कुछ विद्वानों का यह विचार कि उस समय अनुशासन अत्यधिक कठोर था, पूर्णतः स्वीकार किए जाने योग्य नहीं है। वर्तमान जनतांत्रिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर अनुशासन का वह प्राचीन रूप भले ही एकतांत्रिक, अमनोवैज्ञानिक व कठोर दृष्टिगोचर होता हो, परन्तु छात्रों को भावी जीवन की कठोरताओं हेतु तैयार करने की दृष्टि से उनकी दिनचर्या को नियमित करना तथा श्रम पूर्ण कार्यों के लिए तैयार करना कठोर अनुशासन की परिधि में नहीं आता।

नारी विमर्श

पुराणों में नारियों के महत्व के विषय में निम्न उल्लेख मिलते हैं– इन चराचर लोकों में कभी भी उन सती–साध्वी महिलाओं के वचन मिथ्या नही हुआ करते हैं। इसी कारण से सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करने वाले मनुष्यों के द्वारा सर्वदा उन नारियों की अभ्यर्चना अवश्य ही करनी चाहिये। मत्स्य 2, 22/246.

जिस नारी का पति नही रहा करता है, वह तो जीवित रहते हुए भी मृत के ही समान हो जाया करती है। हे अरिमर्दन ! फिर भी जो बाल–विधवा होती है, उसके दुख का तो मैं वर्णन ही क्या करूँ। नारद 1, 57/174.

ब्रह्म पुराण– 1 के कपोततीर्थ वर्णन में कपोती को व्याघ्र द्वारा पकड़े जाने पर कपोत कहता है–

वह प्रिय मेरे धर्म की जननी है और मेरे शरीर की स्वामिनी है। (30) धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में नित्य ही सहायता करने वाली वह ही मेरी प्रियतमा होती है। जग मैं परम तुष्ट होता था, तो वह हंसती रहा करती थी और किसी कारण रुष्ट हो जाता था तो वह मेरे दुःख का परिमार्जन किया करती थी। (31) कभी किसी विषय में मन्त्रणा करने का अवसर होता था तो वह मेरी सखि बन जाया करती थी, अर्थात हितैषी के मित्र के समान सलाह दिया करती थी। वह सर्वदा मेरे वचनों में रति रखा करती थी। (32)

मार्कण्डेय पुराण में राजा–ब्राह्मण के मध्य होने वाले वार्तालाप में सुलक्षणा पत्नी की प्रशंसा व कुलक्षणा की निन्दा की गई है–

राजा ने कहा है– प्रिय ! ऐसी कुलक्षणा पत्नी का आप क्या करेंगे? मैं आपको एक पत्नी प्रदान कर सकता हूँ, क्योंकि सुलक्षण पत्नी से सुख और कुलक्षणा से दुख ही प्राप्त होता है।

"अलतेब्राह्मणतया भार्यामल्यांद्रदामिते
सुखाय भार्या कल्याणी दुखहेतुहितादृशी – मार्कण्डेय 2, 33/67.

ब्राह्मण बोला – हे राजन् ! पत्नी संदैव रक्षा के योग्य होती है। मूझे यह श्रुति विदित है। पत्नी की सम्यक रक्षा से ही संतान की रक्षा हो सकती है।

"रक्ष्या भार्यामहीपाल इति च श्रुतिरुत्तमा।

भार्यायांरक्ष्यमाणाया प्रजा भवति रक्षिता।।" —35/68

स्त्री धर्म

स्त्रियों को केवल पति सेवा करने से पति के समान लोकों की प्राप्ति हो जाती है। विष्णु 1, 28/361.

जो स्त्रियां पतिव्रता होती हैं और अपने पति को प्राणों के समान ही समझा करती हैं तथा अहर्निश पति की भक्ति में ही संलग्न रहा करती है, मात्सर्य से रहित होती है, वे मुझे (ईश्वर) धारण करने में सदा समर्थ होती हैं। जो स्त्रियां अपने पति की सेवा में सदा परायण रहती हैं, वे संसार चक्र से छुटकारा पा लिया करती हैं। नारद 1, 59/216.

स्त्रियों का तो सर्वदा एक पति ही गति हुआ करता है और वह ही उसका विशेष रूप से उद्धारक है। ब्रह्म 2, 69/20.

शूद्र द्विज सेवा से और स्त्रियां पति सेवा ही से धर्म को प्राप्त कर लेती हैं। विष्णु 1, 35/361.

ब्रह्म पुराण–1 के कपोततीर्थ वर्णन में कपोती के मुख से कहलवाया गया है–

इस संसार में नारियों का यही परम धर्म होता है कि वे अपने मृत भर्ता के साथ ही चिता में अपना प्रवेश कर जावें और यह स्वामी का अनुसरण सभी लोकों में पूजित माना गया है। गुरू, नारी, अतिथि–द्विजातियों का गुरू अग्निदेव होते हैं। वर्णों के गुरू ब्राह्मण होते हैं। स्त्रियों का गुरू एकमात्र पति हुआ करता है और जो अभ्यागत होता है, वह सबका गुरू होता है। ब्रह्म 1, 73–75/426.

विवाह की आयु

चौथे वर्ष से ऊपर जब तक दसवां वर्ष पूर्ण न हो, तभी तक पिता को कन्या का विवाह यत्नपूर्वक कर देना चाहिये। अपनी कन्या को किसी भी सम्पन्न युवा, जो विद्वान, कुलीन, उदार, सनाथ तथा यशस्वी हो, उसी से कर देना चाहिये। इस विश्वास के

विपरीत यदि कोई कन्या का पिता किया करता है, वहां पिता सदा निर्दयी होता है। हे भास्कर! विद्वानों के कन्या भी एक धर्म का साधन होती है। काम से उपहत चित्त वाले मूर्खों को नरक के ही समान है। एक ओर तो शैल, वन और कानन से संयुक्त सम्पूर्ण पृथ्वी है और दूसरी ओर सुन्दर कन्याओं के सम्बन्ध में जो भी दिया गया है, वह अक्षय होता है। कन्याओं के लिये जो भी दिया जाता है, वह अनन्तता को प्राप्त हो जाया करता है। अपने पुत्रों और पौत्रों के लिये तो कौन मनुष्य है जो सुख के साधन नही जुटाता है? जो अपनी कन्याओं के लिये सुख के साधन किया करता है, वही वास्तव में सम्पदाओं का पात्र तथा अधिकारी हुआ करता है। ठीक समय पर कन्या का विवाह हो। उसे बेचने वाला नरकगामी होता है। कन्या का बाल्यावस्था में ही विवाह कर देना चाहिये। ब्रह्म 2, 7–14/140–41.

रजोधर्म वाली अपनी पुत्री को देखकर भी जो मनुष्य उसका विवाह नही करता है, वह महान पापी होता है और साठ हजार वर्ष तक नरक में रहता है। जिस कामिनी ने गान्धर्व विवाह कर लिया है उसका भी विघ्न करने वाला वह पापी होता है और यम के द्वारा प्रपीडित किया जाता है। जो बिना ही दोषों से देखे हुए विवेक से रहित होकर कन्या का त्याग कर देता है, वह पापी मनुष्य नरकगामी होता है और एक वर्ष तक नरक भोगा करता है। अग्नि 1, 62–65/350.

स्त्री लक्षण

भविष्य पुराण में विवाह के लिए अनुपयुक्त स्त्री के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि अधिक केश वाली व अल्प केश वाली, अधिक सांवली, पाण्डु वर्ग की, अधिक या न्यून अंगों वाली, रोगी, नीच कुल की, दुष्ट, कटुभाषिणी, मूँछों वाली, पुरुषाकृति, कौवे जैसी या भिंची हुई जुबान वाली, जांघों पर रोम वाली, ऊँचे टखनों वाली, कपोलों पर हँसते समय जिसके गड्ढे पड़ जाते हों, मलिन कांति वाली, पीले या लाल नेत्रों वाली, भारी

हाथ–पांव वाली, अत्यन्त नाटी, बहुत लम्बी, जुडी हुई भृकुटि, असमान दाँतों वाली स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिये।

इसी पुराण में आगे कहा गया है कि जिन स्त्रियों के पैरों के तले प्रतिष्ठ हों और रक्त कमल के समान लाल प्रभा वाले हुआ करते हैं, ऐसी स्त्रियों के चरण धन्य हुआ करते हैं और वे भोग के बढ़ाने वाले हुआ करते हैं। कराल, मांस–रहित, रूखे और अर्ध शिरा से युक्त चरणों वाली स्त्रियां दरिद्रता और दुर्भाग्य को प्राप्त हुआ करती हैं, इसमें तनिक भी संशय नही है। जिसकी अंगुसिर सहन अर्थात एक दूसरों से सटी हों, स्निग्ध और बहुत सुश्रानख वाली हों, वे स्त्रियां अत्यन्त ऐश्वर्य और राज–भाव को प्राप्त किया करती हैं। जिस स्त्री के जांघ पर रोम होते हैं, वे स्त्रियां क्लेशित हुआ करती हैं। जिसकी पिडकायें उद्धत होती हैं, वह स्त्री भ्रमण किया करती हैं। जिसकी कोए की सी जांघें होती हैं तथा बहुत वाचाल और कपिला होती हैं, वह पति का हनन किया करती हैं। विपुल और सुकुमार कुक्षियों से युक्त स्त्री सुन्दर बहुत सी संतानों को उत्पन्न करने वाली होती हैं और जो स्त्री भण्डूक के समान कुक्षी वाली होती है, वह निश्चित रूप से राजा को जन्म देने वाली होती है। जिसकी बलियां उन्नत होती हैं, वह बन्ध्या स्त्री होती है। सुव्रत बलियों वाल कुलटा होती है। ऐसी स्त्रियां जार के कर्म में रत रहा करती हैं अथवा प्रव्रज्या को प्राप्त हो जाती हैं, अर्थात घर का त्याग कर बाहर निकल जाती हैं। जिस वनिता के हृदय सम होते हैं, वह आयु और ऐश्वर्य से सम्पन्न हुआ करती हैं। जिस नारी के प्रथम गर्भ में दोनों स्तनों में एक की अधिक उन्नति होती है, उसके वाम स्तन में ऊँचाई होने से कन्या और दाहिने में उन्नति होने से पुत्र उत्पन्न होता है। भविष्य 1, 8–13/94.

कलह से प्यार करने वाली स्त्री शुभ नही होती है। लोलुप और बुरी भाषा या भाषण करने वाली शुभ नही होती है। जो अपने पति को ही प्राण समझती है और पति को प्यारी होती है, वह शुभ–लक्षणा न होने वाली भी सुलक्षणा होती है। भविष्य 1, 6/450.

यह नारी तो अग्नि के कुण्ड के ही समान हुआ करती है और पुरूष धृत के कुम्भ के सदृश होता है। पुरूष तो स्त्री के केवल दर्शन से ही द्रवित हो जाता है और विमोहित हो जाया करता है। अतएव यही कहना उचित है कि इसमें नारी का कोई भी अपराध नही है। पुरूष यदि स्वयं इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने वाला होवे। भविष्य 1, 29–32/266.

कलियुगी नारी के लक्षण

केश–कलाप ही स्त्रियों का अलंकार होगा। स्त्रियां विषयाक्त, अति भोजन करने वाली, अधिक संतान उत्पन्न करने वाली, अभागी और छोटी देह वाली होंगी। वे अपने दोनों हाथों से सिर खुजाती हुई अपने बड़ों तथा पतियों के आदेश को न मानेंगी। वे क्षुद्र चित्त वाली, अपनी ही उदर–पूर्ति में लगी हुई, आचार–विचार से हीन तथा कठोर और मिथ्या वचन कहने वाली होंगी। दुश्चरित्र पुरूषों का संग चाहने वाली, दुराचारिणी और पुरूषों से धूर्ततापूर्ण व्यवहार करने वाली होंगी। विष्णु 1, 28–31/353.

कलियुग में स्त्रियों का रूप भद्दे केशों में होगा। स्त्रियां ललित समूह वाली, स्वैरिणी अर्थात आजाद स्वभाव वाली दुराचार में निरत हो जायेंगी। ब्रह्म 2

नारियां शील से शून्य, मिथ्याचार वाली, मदिरा व मांस से प्रेम करने वाली होती हैं। इस युग के अन्त में सभी स्त्रियां माया रचने वाली होती हैं। ब्रह्मंड 1, 44/111.

यह समझ करके कि केवल स्त्री ही तो है, कभी अवज्ञा नही करनी चाहिये। शक्ति ही सर्वत्र विजय की श्री का कारण हुआ करती है। ब्रह्मंड 2, (भस्मासुर अहंकार वर्णन में उल्लिखित) 58/280.

यद्यपि वह स्त्री है, तो भी उसका अपमान कभी भी नही करना चाहिये। जो आत्मज्ञानी है, उनके द्वारा छोटा भी शत्रु जीतने वालों की इच्छा के द्वारा कभी भी अपमानित नही होना चाहिये। ब्रह्मांड 2, 43/278.

वे स्वेच्छापूर्वक सुन्दर पुरूषों को चाहेंगी, धनहीन पति का त्याग करेंगी और धनवान को ही अपना पति मानेंगी। अधिक धन देने वाला ही उनका स्वामी होगा। विष्णु 1, 15–18/352.

दाम्पत्य जीवन

पुरूष को अपनी ही भार्या से ऋतु काल में समागम करना चाहिये। अप्रसन्न मन वाली, रोहिणी, रजस्वला, अभिलाषाहीन, क्रोधमयी, दु:खिनी या गर्भवती के साथ संगत उचित नही है। जो सरल स्वभाव की न हो, अभिलाषाहीन या दूसरे पुरूष की कामना वाली हो, भुख से आकुल या अधिक भोजन किये हुए हो, ऐसी पत्नी या कोई स्त्री गमन योग्य नही है। यदि अपने में भी इन दोषों की स्थिति हो तो उस दशा में संगति नही करनी चाहिये। श्रुति के निर्देशन से यज्ञ कर्म की सिद्धि बिना पत्नी के नही हुआ करती है। काम और मोह का त्याग करके पितृगण के अर्थ के लिये ही स्त्री का गमन करना चाहिये। विष्णु 1, 112–114/432–433.

नारियों का यदि भर्ता संतुष्ट है तो उससे सभी देवता परम संतुष्ट नही हैं तो अवश्य ही नाश के विपर्यय होने पर प्राप्त हो जाया करती है क्योंकि नारियों का एकमात्र पति ही सब कुछ हुआ करता है। ब्रह्म 1, 73–75/426.

जहाँ पर दम्पत्तियों की अनुकूलता होती है, वहाँ पर त्रिवर्ग की वृद्धि होती है।

यत्राऽऽनुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते। ब्रह्म 2, 13/89.

पर नारी में आसक्ति इहलोक और परलोक दोनों स्थानों पर भयावह होती है। अयोनि या भिन्न योनि में, पृथिवी और जल में तथा पर्व दिनों व दिन में समागम की वर्जना है। मार्कण्डेय, 124/432–34.

सती अनाधिकारिता एवं विधवा पुनर्विवाह

शास्त्र का यह सुनिश्चित सिद्धान्त है कि जिनकी बालक एवं असमर्थ होती है, जो गर्भवती होती है, जिसका रजोदर्शन नही हुआ है, जो रजस्वला है– वे चितारोहण करके सती नही होती हैं। उन्हें धर्मशास्त्र के अनुसार सती होने का अधिकार प्राप्त नही है। नारद 1, 52/136.

पुराण के अनुसार पति द्वारा त्यागी हुई और विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह तथा बलात्कार पीड़ित स्त्री को अपनाया जाना शास्त्र सम्मत है।

पति के नष्ट हो जाने पर, मर जाने, संन्यास ग्रहण कर लेने, नपुंसक हो जाने और पतित हो जाने पर इन पांच आपत्ति की अवस्थाओं में स्त्रियों को अन्य पति बनाने का विधान है। पति के मृत हो जाने पर स्त्री का विवाह देवर के साथ कर देना चाहिये। अगर देवर न हो तो जैसी भी इच्छा हो, वैसा करना चाहिये।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे व पतिते पतौ।
पंचस्वापयत्सु नारीणां पतिरन्यों विधीयते।।
मृते तु देवरेदेया तद्भावे यथेच्छया।।

इसका तात्पर्य यह नही है कि यह कोई प्रशंसनीय है अथवा जानबूझकर मनमाने ढ़ंग से किया जाये। पर जब ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जायें कि स्त्री एकाकी निर्वाह न कर सके या उसके कुटुम्बीजन उसके प्रति दुष्टता का व्यवहार करते हों तो उसके गुप्त रूप से कुमार्गगामिनी हो जाने से यह कहीं उत्तम है कि समाज के मुखिया स्वयं इस प्रकार की व्यवस्था कर दें। छूआछूत को भी इसमें अधिक स्थान नही दिया गया है। कहा है– "ध्यान से अधिक पापकर्मों का अन्य कोई भी शोधन करने वाला कार्य नही है। श्वपाक के साथ भी खाने वाला मनुष्य ध्यान करने से शुद्ध हो जाता है। आत्मा तो ध्याता अर्थात ध्यान करने वाला है। मन में ध्यान होता है, ध्यान करने वाले भगवान विष्णु हैं।

यदि किसी स्त्री को कोई बलपूर्वक भ्रष्ट कर दे अथवा वह शत्रु के हाथ में पड़ जाये तो उस समय उसे त्याग दें, पर ऋतुकाल (मासिक धर्म) हो जाने पर जब वह शुद्ध हो जाये तब उसे ग्रहण कर लें। इसी प्रकार यदि किसी स्त्री को अन्य वर्ण वाले से गर्भ रह जाये तो प्रसव हो जाने पर रजोधर्म द्वारा वह फिर शुद्ध हो जाती है–

"बलात्कारोपयुक्ता चेद्वै रिहस्तगताऽपि वा।
सत्यजेद् दूषितां नारी ऋतुकालेन शुध्यति।।

नारी–निन्दा

नारियों में कुछ भी सौन्दर्य नही होता है। पुरूषों की काम–वासना ने ही उसमें एक अद्भुत रूप–सुन्दरता की कल्पना कर रखी है। नारी में भूषण और वस्त्रों का चाक–चम्य होता है, उसी को रूप–सौन्दर्य कहा करते हैं। वस्त्र–भूषण विहीन नारी के देखने का ध्यान मात्र ही करिये। साक्षात चुडैल जैसी प्रतीत होंगी। पद्म 2, 22/99.

स्त्री की बुद्धि प्रलंयकारी हुआ करती है। नारद 1, 94/223.

भोजन करती हुई पत्नी को कभी नही देखना चाहिये। भार्या के साथ एक ही थाली या पात्र में भोजन नही करना चाहिये और भेदन करती हुई अपनी भार्या का अवलोकन नही करना चाहिये। छींक लेती हुई और जंभाई लेती हुई और आसन पर सुखपूर्वक बैठी पत्नी को नही देखना चाहिये। कूर्म 2, 49–51/167.

विद्वान पुरूष को स्त्री का विश्वास नही करना चाहिये, क्योंकि उसका वचन कामासक्त पुरूष में प्रेम की वृद्धि करने वाला होते हुए भी हृदय में छुरे की धार के समान है। स्त्रियों का अपमान, उनसे ईर्ष्या, उनका विश्वास न करें और न उन्हें निन्दित ही करें। विष्णु 1, 30–32/439,

स्त्रियों के साथ ईर्ष्या नही करनी चाहिये और उनमें विश्वास भी न करें। अग्नि 1, 29/290.

मैं विषयों में भ्रमित होकर स्त्री रूपिणी माया के वशीभूत हो गया, अब मुझे अवश्य ही नरक मिलेगा। स्त्री स्वभाव के कारण इसका इतना दोष नही है, वरन् दोष मुझ इंद्रिय–जनित का ही है, जो उसकी माया के वशीभूत हो गया। स्वार्थ में पडी हुई स्त्रियों के लिये कोई भी प्रिय नही है, वह चाहे तो पति, पुत्र या भाई की भी हत्या कर सकती हैं।

जिस स्त्री के लिये कभी मनुष्य को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ सकता है तथा जिसके लिये पुरूष अपने पिता या गुरू की भी हत्या कर सकता है, उस स्त्री का त्याग कर देने वाला पुरूष अपने भगवान को शीघ्र ही अपने अधीन कर लेता है।

आपके अन्दर यदि बुद्धि हो तो वह हमेशा सुख देने वाली हुआ करती है, परन्तु गुरूदेव की बुद्धि परम् सुख दिया करती है और शत्रु अथवा दूसरे की बुद्धि नाशकारिणी होती है। यह कहा गया है कि मूर्ख सदा दूसरे की बुद्धि ग्रहण किया करता है। स्त्री की बुद्धि प्रलंयकारी हुआ करती है। नारद 1, 94/223.

नारी संबंधी दण्ड विधान

जो स्त्री दुष्ट स्वभाव के कारण स्वामी की सेवा न करे तो उस प्रकार की स्त्री को बारह वर्ष तक त्याग देने का दण्ड देना चाहिये। स्त्री को उसके साथ सम्पर्क न करने का ही दण्ड होता है। धन का दण्ड उसको नही देवें। नारद 1, 17/292.

अभिशाप और अव्यय (नाश) उपस्थित होने के तुरन्त ही विचार करना चाहिये। अर्थात मुकदमें की सुनवाई तथा निर्णय शीघ्र करना चाहिये। पति तथा पुत्र के द्वारा किये हुए ऋण को स्त्री को नही देना चाहिये। अर्थात स्त्री के पति तथा पुत्र का ऋण स्त्री से नही लिया जाता है। गौएं, शौन्डिक, शैलूष, रजक और व्याध की स्त्रियों का कर्जा पति को देना चाहिये क्योंकि उनके ही आश्रय वाली उसकी जीविका हुआ करती है। स्त्री के द्वारा अथवा पति के साथ अथवा स्वयं किया हुआ जो ऋण है, वह स्त्री को देना चाहिये। नारद 1, 7–9/478.

जो पुरूष स्त्रियों या शूद्रों के निकट वेदों के अध्ययन में परायण होते हैं, वे ब्रह्म के एक दिव्य वर्ष पर्यन्त नीचे की ओर मस्तक और ऊपर की ओर टांग करके दो खम्बों के बीच में टांग दिये जाया करते हैं और कीलें ठोक दी जाती हैं, नीचे धुँआ कर दिया जाता है। नारद 1, 101/322.

ब्रह्म हत्या हो जाने पर जो शोक व्रत किया जाता है उसका आधा ही ब्राह्मणी की हत्या होने पर और केवल चौथा भाग प्रायश्चित किसी कुमारी कन्या के वध होने पर किया जाये। नारद 2, 19/24.

हे महाबाहो ! शीघ्र ही जाकर सान्नहि की भेरी को बजा दो, जिस तरह दुष्ट स्वभाव वाली स्त्री को विक्षुब्ध होकर ताडित किया जाता है। वामन 2, 54/190.

नारी शिक्षा

ब्रह्माजी के अनुसार स्त्री का कर्तव्य है कि वह अपने पति को मन, वाणी और शरीर से पूर्णतया देवता के समान समझे। पत्नी को चाहिये कि वह अपने आपको पति के आधे शरीर से उत्पन्न होने की भॉति ही सर्वदा पति के हित का आचरण करे। पति के प्रिय को प्रिय देखे और उसके द्वेष्य को द्वेष्य के समान सदा देखे। उसके अधर्म और अनर्थों से युक्तों से युक्त विवृत हो जाती है। गृहस्थ में पत्नी का कर्तव्य है कि उसे देवता और पितरों के कार्य में तथा पति के भोजन और स्नान आदि कार्यों में एवं अभ्यागतों के सत्कार में जो भी औचित्य हो उसे नही त्यागना चाहिये। घर और आत्मा– यह गृहिणियों का दो प्रकार का शरीर बताया गया है। अतः जो प्रथम है अर्थात घर, उसका और आत्मा का प्रयत्नपूर्वक संस्कार करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि शरीर से अधिक घर का संस्कार होना चाहिये। तीनों काल में जहॉ अर्जन का विधान होता है, उसे (घर को) भली–भॉति स्वच्छ और सुसंस्कृत करना चाहिये। वृत, कर्म और उपभोगों का यथोचित संस्कार करना चाहिये। प्रातः काल और अपरान्ह में बाहर, मध्य में अन्दर के, भोगों में घर का सम्मार्जन करके जो निष्कार अर्थात झाडकर निकले हुए पदार्थ है,

उन्हें रात्रि में नही फेंकन चाहिये। जो पास कर्मों के करने वाले नौकर आदि हैं और जो बाहर तथा अन्दर चरण किया करते हैं, उन सबकी पोषण की विधि को अच्छी तरह जान लेना चाहिये तथा यह भी ज्ञान रखना एक गृहिणी का कर्तव्य है कि उनसे क्या–क्या कर्म कराने चाहिये। शाक मूल और फल आदि का, बल्लियों और औषधि का तथा सब प्रकार के बीजों का काल के अनुसार यथा बल संग्रह करना चाहिये। तांबा,, कांसे और लोहे आदि धातुओं के तथा लकड़ी और बॉस के एवं मिट्टी के विविध प्रकार के पात्रों का संग्रह भी स्त्रियों को करना चाहिये। दूध दूहने का दोहनी पात्र, मट्ठा चलाने की नेली, तुला बुहारी आदि का ध्यान रखना चाहिये। मसाले आदि उपस्कर जो भोजन बनाने में आवश्यक होते हैं, जैसे– हींग, जाजी, पीपल, मिर्च, राई, धनिया, सौंठ तीन और चार जातक लवण तथा क्षार वर्ग, दाल आमलक (ऑवला) चिचा और सब प्रकार से स्नेह जाति वाले आदि पदार्थों का संग्रह करना चाहिये। इसमें नित्य के काम के उपयोग में आने वाले तथा नैमित्तिक कार्यों के उपयोग के वास्ते सभी का सन्देह होना चाहिये और वह अपनी आर्थिक स्थिति के अनुकूल ही होना चाहिये। जब कार्य उपस्थित हो जाते हैं, तो उसी समय पर इन सबकी आपूर्ति नही की जा सकती है। इसलिये पहले से ही कार्य के आने के पूर्व यथायोग्य इनका प्रयत्नपूर्वक संग्रह कर लेना चाहिये। 9–20 / 188–190

जो राजा धर्म में निष्ठा रखता है, उसका कर्तव्य है कि उसे सती–साध्वी स्त्रियों का पालन करना चाहिये। स्त्री जो प्रसन्न होती है और गृह कार्यों में उसे दक्ष होना चाहिये। घर में जो भी सामान हो, उसे सुसंस्कृत रखना चाहिये तथा व्यय करने में कभी भी हाथ नही भींचना चाहिये। अर्थात जिसके साथ विवाह कर कन्या का दान कर देवें, उसे अपने पति की, स्त्री को, भली–भॉति सदा सेवा करनी चाहिये। यदि स्त्री का पति मृत हो जावे और वह उसके मरने के पश्चात ब्रह्मचर्य में रहे तो उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुआ करती है। स्त्री को कभी दूसरे के घर मे रूचि नही रखनी चाहिये और न उसे कलह करने के स्वभाव वाली होना चाहिये। जब स्त्री का पति परदेश में हो तो उसे श्रंगार नही करना चाहिये। उसे ऐसी स्थिति में सर्वदा देवों की आराधना करते हुए अपने

स्वामी के हित में संलग्न रहना चाहिये। केवल मंगल के लिये कोई साधारण सा आभूषण उसे धारण करना चाहिये। जो नारी पति–मृत्यु हो जाने पर उसकी ही चिता के साथ जलकर सती हो जाया करती है, वह भी स्वर्ग की प्राप्ति किया करती है। स्त्री को सर्वदा भली प्रकार से श्री का पूजन करना चाहिये। और घर का समाजन करना चाहिये। पतिव्रता स्त्रियों के विषयों में और विधवा तथा आतुरा (रोगिनी) स्त्रियों के, जब तक वे जीवित रहें, यदि उनके बान्धव धन ग्रहण करें तो, उनको चोर के समान दण्ड़ राजा को देना चाहिये। अग्नि 1, 19–23 / 398–399.

स्त्रियों का माता–पिता, बन्धु, सखा, मित्र और बान्धव भर्ता ही है। स्त्रियां पाप–कर्मों में रत भी हों, तो भी वे सदा पूज्य होती हैं। इनको नही मारना चाहिये। स्त्रियां अत्रि के कुल में समुत्पन्न हैं और सब परम पवित्र हुआ करती हैं। एक स्त्री का वध करने से ब्रह्म–हत्या के समान ही पाप होता है, इसलिये सभी स्त्रियों का, चाहे वे पाप–कर्म में भी रति रखने वाली होवें, कभी हनन नही करना चाहिये। मलिन और रूप–लावण्य से युक्त–विरूप तथा मलिन वस्त्र धारण करने वाली, इन सभी को सदा शिव के समान शंका से मनुष्यों को कभी हनन नही करना चाहिये। लिंग 2, 16–20 / 495.

पर्यावरण शिक्षा

पुराणों में पर्यावरण–संरक्षण के संबंध में भी अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलते हैं। पर्यावरण को प्रदूषित करना अत्यन्त दुष्कर्म तथा पर्यावरण विकास में योगदान देना सत्कर्म माना गया है। पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहियें, इसके विषय में भी अनेक उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। इन शिक्षाओं से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन मानव पर्यावरण के प्रति आज की तुलना में अधिक संवेदनशील व जागरूक था। इस विषय में पुराणों में निम्न चर्चा है–

पर्यावरण का महत्व

पुष्प और फलों के रज रेणु के समागम प्रतिदिन प्रतिकर्म में पितृगण को पोषण किया करते हैं। जो वृक्ष छाया देता है, पुष्प देता है और फल दिया करता है और मार्ग में या देवालय में रहता है, वह पितृगण को पाप तार दिया करता है। ऐसे स्थान में समारोपित छाया, पुष्प एवं फलों के देने वाला वृक्ष इस मनुष्य लोक में कीर्ति देता है और शुभ फल प्राप्त कराता है। जो पितृगण हो चुके हैं और जो आगे होने वाले हैं, उन सब पितरों को वह स्वर्गगत होकर वृक्षों का रोपण करने वाला तार देता है। इसलिये वृक्षों का रोपण अवश्य करना चाहिये। इस लोक में जो मनुष्य पुत्रहीन हो, उसको ये समारोपित हुए वृक्ष पुत्र वाला कर देते हैं। ये वृक्ष निम्न हैं– अश्वत्थ, अशोक, प्लक्ष, दाडिम, जामुन, आम, मथुंक, अर्जुन, वंजुल, वकुल, बिल्व– ये वृक्ष लगाने चाहिये। कदम्ब का वृक्ष तितडी, जीवन्ती, श्वेतवट, पनस, कलिवृक्ष, शारबोट, उदरावर्त्तक, मर्कटी, नीप, शिशया, अर्जन, जयन्ती, ह्यपराक, श्रीवृक्ष, किंशुक– इन वृक्षों के रोपण करने से स्वर्ग की प्राप्ति हुआ करती है। पूर्वा का कभी रोपण न करें। समिथ और कन्टकी, द्रुअ, कुश, पदम और जलज के वृक्षों के रोपण से दुर्गति से प्राप्त होता है। जितने पुष्पों वाले शाल हैं और जितने भी इस पृथ्वी पर सुगन्ध से युक्त हैं, वे प्रभु सभी के द्वारा समर्चित होते हैं, जिसने भी यह विधान किया है। वामन 2, 24–37, पेज 220–221

भगवान ने प्रजा के भोजन की सुविधा के लिये ही इन वृक्षों और औषधियों की रचना की है। बालकों के रक्षक माता–पिता, नेत्रों के रक्षक– पलक, स्त्री का रक्षक– पति, भिक्षुक का रक्षक– गृहस्थ, मूर्ख का रक्षक – विद्वान तथा प्रजा का रक्षक–राजा होता है। सब जीवों के अन्तःस्थल में प्रभु है। इसलिये सम्पूर्ण विश्व प्रभु का ही निवास स्थान है। ब्रह्म 2, 6/267.

कलियुग में अनावृष्टि होने के कारण सभी वर्गों के मनुष्य भूख-प्यास से कातर होकर आकाश की ओर ताका करेंगे। भूमि ऊसर हो जायेगी, जिसके कारण सब पदार्थों के बीज तथा पुष्प समाप्त हो जाया करेंगे। नारद 2, 5/201.

नदियों को भारतीय संस्कृति में अत्यन्त पूज्य माना गया है। स्कन्द पुराण कहता है–

गंगा सब सरिताओं में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सरस्वती, कावेरी, देविका, सिन्धु, लाल कुढ़ी, सरयू, शतरुद्रा, चर्चिला के साथ मही, गोदावरी ये भी सब नदियां परम पुण्यमयी हैं। इस प्रदूषित कलियुग में जो परम घोर है, सभी सर और नदियां क्षय को प्राप्त हो जाया करते हैं। स्कन्द 2, 51–52/359.

जो उद्यान लगाया करते हैं, तालाब और बावडी खुदवाकर उनका निर्माण करवाया करते हैं, श्रेष्ठ भक्त होते हैं। (जलाशय निर्माण) जो स्वयं किसी तालाब आदि जलाशय का निर्माण करता है या कराता है, तो उसका इतना पुण्य होता है कि उसकी गणना सौ वर्ष की पूरी आयु में भी नही की जा सकती। नारद 1, 6/54.

जलाशय निर्माण में चन्दा देना, तालाब खुदवाने में श्रम-दान करना भी पुण्य कर्म है। तालाब, जोहड, कूप, बावडी बनवाने तथा नहर बनवाने वाले राजा को अत्यन्त पुण्य मिलता है। नारद 1, 58/254.

धनाढ्य पुरूष किसी तालाब का निर्माण कराये और गरीब मनुष्य छोटी सी कुइयां ही बनवाये तो आर्थिक स्थिति देखते हुए दोनो को एक सा ही फल मिलता है। (17) जो मनुष्य अनेक प्राणियों को सुख पहुँचाने वाले उद्यान को लगाकर खडा करता है, वह अपने माता-पिता तथा श्वसुराल, तीनों कुलों के साथ ब्रह्म लोक प्राप्त करता है। (18)

वृक्षारोपण, तडाग बनवाने, सब प्राणियों के उपकार हेतु उद्यान का निर्माण करना अत्यन्त पुण्यप्रद होता है। उस उद्यान के जितने भी फूल और फल होते हैं, उतने ही वर्षों तक वह मनुष्य, जिसने वृक्षों का आरोपण किया है, अपनी करोड़ों पीढ़ियों के सहित

स्वर्ग लोक में आनन्द का उपभोग करता है। उद्यान की सुरक्षा की व्यवस्था करने वाले भी ब्रह्म लोक में निवास करते हैं। नारद 1, 19–23/266.

जो उद्यानों के समारोपण करने की रति रखते हैं तथा वाटिकाओं के जो रक्षक होते हैं एवं कासार और कुओं के जो बनवाने वाले होते हैं, वे भागवतोत्तम हुआ करते हैं। स्कन्द 1, 50–51/298.

पुष्प और फलों से परिपूर्ण उद्यानों का दान करके मनुष्य स्वेच्छा से अतिश्लाघा के योग्य भोगों के सुख का उपभोग करता है। वामन 2, 46/459.

पर्यावरण–प्रदूषण की रोकथाम

ग्राम निवास के स्थान, तीर्थ क्षेत्र, मार्ग के मध्य में जुटे हुए भूभाग में और गौ स्थल में मल–मूत्र त्याग नही करना चाहिये। ब्रह्म 2, 22/281

फलों की चोरी करना, फलहीन अन्न तथा वृक्ष–जातियों का छेदन करना पापकर्म है। वामन 2, 2/109.

जल, जो जलाश्य में हैं, में मल–मूत्र और मैथुन नही करना चाहिये।

जो पुरूष प्याऊ, देव कुल, बाग, विप्रों तथा गृह सभा–स्थल, बावडी, कुआ और तालाबों का भग्न कर विध्वंस कराते हैं नरकगामी होते हैं। वामन 1, 23–24/160.

नारद–1 में कहा गया है कि जो पुरूष जल में विष्टा, कफ और मूत्र का उत्सर्जन करते हैं नरकगामी होते हैं। जलाश्‌य में मल–त्याग पापकर्म होता है। ग्रामों, देव–मंदिरों, जलाश्‌यों, और उचित उद्यानों को नष्ट–भ्रष्ट करना अत्यन्त दुष्कर्म है।

वृक्षादि की छाया में, कूप में, नदी गोष्ठ में, चैत्य में, जल–मार्ग और भस्म में, अग्नि तथा श्मशान में कभी भी भूलकर मल–मूत्र का त्याग न करना चाहिये। नारद 2, 29/85.

क्षीर को प्रावृत करके ही विट्–मूत्र का विसर्जन करना चाहिये। छाया–कूप–नदी–गोष्ठ–चैत्य के अंदर–मार्ग–भस्म–अग्नि–वेश्म–श्मशान में कभी भी मल–मूत्र का त्याग नही करना चाहिये। गोषक में, जुती हुई भूमि में, महावृक्ष के नीचे खडे होकर या बिना वस्त्र वाला होकर और पर्वत की चोटी पर, जीर्ण देवता के आयतन में, वल्मीक में, जीवों में युक्त, गन्तों में चलते हुए कभी भी मल–मूत्र का त्याग कभी नही करना चाहिये। कपालों में, राजमार्गों में, विमल क्षेत्र में, तीर्थ में, चौराहे पर, उद्यान में, ऊसर भूमि में तथा परम अशुचि स्थल में मल–मूत्र का त्याग नही करना चाहिये। स्त्रियों के सामने और गुरू–ब्राह्मणों के समक्ष में मल–मूत्र का उत्सर्ग नही करें। देवों के देवालयों में और नदी में भी त्याग न करें। नदी और ज्योतियों को देखकर और जल के सामने होकर आदित्य, अग्नि और सोम की ओर मुख करके भी त्याग नही करना चाहिये। तृण, काष्ठ, फल और पुष्प बुध को प्रकाश में ही हरण करने चाहिये। वे भी जितने धर्म–कर्म के लिये आवश्यक हों, उतने ही ग्रहण करें अन्यथा ग्रहण करने पर पतित हो जायेगा। तिल, पत्र और मूंग आदि की केवल एक मुट्ठी ही मार्ग में स्थित लोगों के द्वारा ग्रहण करनी चाहिये। सात नदियां इस प्रकार की हैं– अनुतप्ता, शिखा, विपाशा, त्रिदिवा, कृता, अमृता और सुकृता। कूर्म 2, 36–45/135.

देवता के स्थान में, मार्ग के मध्य में, जुती हुई भूमि में, वृक्ष के मूल में, वन में, तालाब में कभी भी मल–मूत्र का त्याग नही करना चाहिये। पद्म 2, 5/448.

वृक्षों–लताओं को काटना– पाप कर्म

जो फलों को प्रदान करने वाले वृक्ष हैं, उनके काटने पर सौ ऋचाओं का जप करना चाहिये। गुल्म, वल्ली, लता और पुष्पों वाली वीरूधों के छेदन करने में तथा सभी अण्डज प्राणियों के एवं स्वेदज जीवों के वध में तथा फल एवं पुष्पों के उद्भव करने वालों के छेदन में घृत का प्राश कर लेना ही विशोधन होता है। कूर्म 2, 29–30/321.

जीव–संरक्षण

कूर्म पुराण–2 में जीवों की हत्याओं को पापकर्म बताते हुए उनके प्रायश्चित के उपाय भी बताये गये हैं। पुराण कहता है– किसी श्वान की हत्या करके तीन रात्रि तक अनिद्रित होकर पय का पान न करें। मार्जार अथवा नकुल का वध करके मार्ग में एक योजन तक गमन करें। द्विज को अश्व के वध में बारह रात्रि तक कृच्छ व्रत करना चाहिये। सर्प का हनन करके कार्ष्णापसी अर्चा देनी चाहिये। तीतर के वध में एक द्रोण तिलों का दान देना चाहिये। शुक के वत्स को मारने पर दोहायन, क्रोन्च के वध में तीन हायत– हंस, लाका, वक, वर्ही, वानर, श्येन, भास के वध में ब्राह्मण को गौ का स्पर्श करावें। मृगों का हनन करके तपस्विनी धेनु का दान करना चाहिये। हाथियों के वध में तो तप्त कृच्छ ही विशोधन होता है। गौ का वध होने पर चन्द्रायन महाव्रत या पराक व्रत करें। जान–बूझ कर बुद्धिपूर्वक गौ के वध करने पर तो कोई भी पाप से शुद्धि पाने का प्रायश्चित ही नही है। निष्कर्ष यही है कि ज्ञान पूर्वक गौवध एक अत्यन्त ही महान पाप होता है, जिससे छुटकारा ही नही है। 24–33/321.

कृषक अर्थात खेती का काम करने वाले किसान भूमि का भेदन किया करते हैं अर्थात हल से उसे जोतते हैं और औषधियों का छेदन करते हैं, अर्थात खेतों की जुताई के समय समस्त प्राकृतिक उत्पन्न जड़ी–बूटियों को काटकर फेंक देते हैं। ये दोनों ही पापकर्म उनसे बनते हैं, क्योंकि खेती के काम में बहुत से कीड़े–मकोड़े और चींटियों का भी हनन होता है। उनका इस पाप से उद्धार यज्ञ और देवताओं के पूजन से होता है। हल के चलाने के काम में आठ बैलों को रखना ही धर्म से मुक्त होता है। दिन भर में आठ बैलों को बारी–बारी से जोतना चाहिये। जो छैं बैलों से अर्थात तीन जोडियों से ही काम करते हैं, वे जीवित रखने के अर्थी लोग माने गये हैं। तात्पर्य यह है कि छैं बैलों से कृषि कर्म करना कोई धर्मयुक्त तो नही है किन्तु इतना भर ही है कि वे जीवन रख सकते हैं। चार गौ सुत अर्थात बैलों से काम करने वाले क्रूर पुरूष कहे गये हैं और जो

केवल एक ही जोड़ी से कृषि का सब काम करते हैं और रात–दिन उन दो ही बैलों को जोतते रहते हैं, वे पूरे धर्मघाती लोग माने गये हैं। नारद–2, 2–4, पेज 277.

मृग, ऊँट, गधा, बन्दर, चूहा, सर्प, बिच्छु, पक्षी, मक्खी आदि जितने भी मनुष्य जाति के लिये हितकर या अहितकर जीव हैं, उन सबको पुत्र के समान मानें। घर में निवास करता हुआ भी धर्म अर्थ या काम के लिये परिश्रम न करें, वरन् जो स्वयं प्राप्त हो, उसी में संतोष करें। यह पशु, पक्षी, ऋषि, देवता, मनुष्य आदि को उन्हीं ने रचा है तथा स्वयं ही उन सब में जीव रूप में विद्यमान है। जिन यज्ञादि कर्मों में भी पशु आदि का प्रयोग किया जाता है, उसे देखकर जीवमात्र भयभीत होता है। उन्हें शंका रहती है कि अपने प्राणों का पोषक यह निर्दय मनुष्य न जाने कब हमें मार डाले। इसलिये सात्विक अन्न द्वारा ही अपनी क्रियाएं करके संतुष्ट रहें। श्रीमद्‌भागवत– 337.

शूद्र विमर्श

पुराणों में यह स्वीकार किया गया है कि जन्म से कोई व्यक्ति शूद्र अथवा ब्राह्मण नहीं होता, अर्थात् वर्ण–निर्धारण जन्म से नहीं अपितु कर्म से किया जाता है। एक चरित्रवान, धर्मज्ञ, विद्वान व उत्तम कर्म करने वाला शूद्र वस्तुतः द्विज ही है।

जन्म से द्विजत्व नही होता है। चरित्र से होता है। इस लोक में सब चरित्र से ब्राह्मण हो जाया करते हैं। यदि कोई शूद्र भी है और चरित्र में स्थित है, तो निश्चित रूप से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाया करता है। हे देवि ! ब्रह्माजी ने स्वयं ऐसा बतलाया है कि जो पवित्र कर्मों के द्वारा विशुद्ध आत्मा वाला और अपनी इन्द्रियों को जीत लेने शूद्र भी हो, तो उसकी सेवा द्विज की भांति ही करनी चाहिये। स्वभाव और कर्म से जहाँ पर शूद्र अकिंचित होता है, वह द्विजातियों से भी विशुद्ध होता है, ऐसा ही समझना चाहिये। ब्रह्म 2, 51--57–60 / 324–25.

मेरे जो भक्त होते हैं, वे चाहे क्षत्रिय हों, वैश्य हों, स्त्रियां, शूद्र और अन्त्यज हों, परम् सिद्धि को प्राप्त किया करते हैं। इस प्रकार ईश्वरभक्ति परायण स्त्री, शूद्र और अन्त्यज को समकक्ष माना गया है।

जो शूद्र अपने ही धर्म से ज्ञान और विज्ञान वाला तथा परम पवित्र होता है एवं धर्म का ज्ञाता और धर्म में विशेष रति रखने वाला होता है, वही धर्म के फल को प्राप्त करता है। ब्रह्म 2, 21/318.

न्यून जाति और कुल में होकर भी सम्मुख वर्ण वाला हो सकते हैं।

शूद्र भी आगम से सम्पन्न होकर संस्कारों वाला द्विज हो जाता है। ब्राह्मण भी यदि असत् आचरण वाला है तथा सब संकरों का भोजन करने वाला होता है तो वह ब्राह्मणत्व का त्याग करके उसी प्रकार का शूद्र हो जाया करता है।

शूद्र तुलाधार के चरित्र की पद्म पुराण में अत्यन्त प्रशंसा की गई है। विद्वान तुलाधार द्वारा दिए गए उपदेश का कुछ अंश यह है–

दया मन्त्र–जाप के समान है और शुद्ध संतोष ही धन है। किसी भी प्राणी की मन–वाणी और शरीर से हिंसा न करना सबसे बड़ी श्रेष्ठ सिद्धि है। शाकों का आहार कर लेना अमृत–पान के समान है और उपवास करना ही सबसे बड़ी श्रेष्ठता है। संतोष ही मेरा महाभाग्य है और एक कौडी ही महान दान है। पराई स्त्रियों को माता के समझना तथा पराये द्रव्य को मिट्टी के ढ़ेले की तरह मानना श्रेष्ठ व्रत है। पद्म 1, 45/393.

इसी पुराण में शूद्र वीर विक्रम के कार्यों और चरित्र की भी अत्यधिक सराहना की गई है। वह अनेकानेक सद्गुणों से सम्पन्न था। पुराण कहता है–

वह अत्यधिक बोलने वाला और परम सुन्दर था। धन से भी सम्पन्न था तथा पुत्र वाला था और अत्यन्त सभ्य, विद्वान एवं सर्वजन प्रिय था। वह परम् पितृ–भक्त था और सदा ही अपनी की गयी प्रतिज्ञा का परिपालन करने वाला था। वह अपने गुरूजनों का

पूर्णतः पालन करने वाला था एवं हरि की एक परम सुंदर श्वपच जो कि तरुण और सुधि भी था, पद से ब्राह्मण स्वरूप धारण करके उसके समीप में प्राप्त हो गया था। पद्म 2, 17/146.

पुराणों में ही अनेक स्थानों पर शूद्र तथा अन्त्यज जाति के व्यक्तियों के लिए इस प्रकार के कथन भी मिलते हैं जिनसे तत्कालीन समाज में उनकी हीन दशा की जानकारी मिलती है–

धोबी, चमार, नट, पुरुड, कैवर्त, मेद, भील – इन सात अन्त्यज जातियों का अज्ञानवश या जानबूझकर अन्न का भक्षण कर लेने या इनकी स्त्रियों से संगम करने, इनके घर का पानी पीने या इनका तन ग्रहण कर लेने पर शास्त्रोक्त व्रत कर शुद्धि करें।

शूद्र का अन्न द्विज को नही खाना चाहिये। ब्रह्म 2, 25/318.

विप्र को शूद्र का अन्न मोह के वश में आकर लोभादि के कारण कभी भी नही खाना चाहिये। जो बिना ही किसी आपत्ति के समय के शूद्र का अन्न खाता है, वह शूद्र की ही योनि को प्राप्त किया करता है। कोई विशेष आपत्ति का समय ही उपस्थित हो तो भले ही विप्र शूद्रान्न का सेवन कर लेवे, अन्यथा जो द्विज छह मास–पर्यन्त विगर्हित शूद्र के अन्न का सेवन करता है अर्थात खाता है, वह जीवित रहते हुए ही शूद्र हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के तथा शूद्र के अन्दर जिस किसी का भी अन्न उदर में रखते हुए मनुष्य मृत होता है, वह उसी की योनि में जन्म ग्रहण किया करता है– यह अन्न का महान प्रभाव होता है। नट का अन्न, नृत्य करने वाले का अन्न, वक्षा का अन्न, कर्मकारी का अन्न, गण का अन्न और वेश्या का अन्न इन छह लोगों के अन्नों को वर्जित कर देना चाहिये अर्थात इन छह का अन्न अत्यन्त निषिद्ध अन्न होता है। मृतक कैसा ही है, उसका अन्न वर्जित कर देना चाहिये। नास्तिक और देवों की निन्दा करने वाला, इन सबके अन्न का विप्र को वर्जित कर देना चाहिये। कूर्म 2, 4–7/175.

बेचारे शूद्र बहुत ही हीन मालूम होते हैं। हे द्विज प्रभा ! ये शूद्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? विद्वान ब्राह्मण को नवम् पुराण का प्रयत्न के साथ अवश्य ही अध्ययन करना चाहिये और चारों वर्णों के शिष्यों के लिये इसको कहना चाहिये। ब्राह्मण या क्षत्रिय को छोड़कर अन्य किसी भी वर्ण वाले को इसका अध्ययन नही करना चाहिये। शूद्र को तो इसे सुनना ही नही चाहिये और न कभी इनका अध्ययन करना चाहिये। पहले देव–पूजन करके ब्राह्मणों द्वारा तथा अन्य द्विजातियों के द्वारा और शूद्रों के द्वारा इसे सुना जाना चाहिये। इस पुराण में श्रोत अर्थात श्रुति से प्रतिपादित और सन्मति अर्थात स्मृतियों से प्रतिपादित धर्म कहा गया है। इससे विप्रों के बिना शूद्रों को किसी प्रकार से भी श्रवण नही करना चाहिये। भविष्य 1, 37–43/40.

जो द्विज भूमि में मिथ्या बोलने वाला है, वेदों के द्वारा जीविका करने वाला है, जो नक्षत्री और निमित्ती है तथा चाण्डालों को पढ़ाने वाला है, जो मनुष्य मायावी अर्थात माया की रचना करने वाले हैं, रति करने वाले और तुला के ही आधार वाले हैं, जो सभी पापियों के संघ करने वाले हैं......। पद्म 1, 50/386–394.

स्वास्थ्य शिक्षा

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन यह शरीर होता है। इसलिये महान प्रयत्न से बुद्ध पुरूष को अपने शरीर का पालन करना चाहिये। जीवित रहते हुए मनुष्य कीर्ति का लाभ पाता है। जो मृत हो जाता है, उसकी लोक में क्या कथा है? अर्थात मरने पर फिर कुछ भी नही रह पाता है। ब्रह्म 2, 45–46/375.

धन्वन्तरि महाराज काशिराज समस्त रोगों का नाश करने वाले थे। वहां पर भिषक क्रिया करने वाले वह भारद्वाज से वह आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने वाले हुए थे। इन्होंने उसे आठ भागों में विभक्त करके अपने शिष्यों को प्रदान किया था। ब्रह्म 1, 36–38/126.

पवित्र होकर और आचमन करके भोजन खाना चाहिये। पूर्व मुख होकर जो खाता है वह आयुष्य की प्राप्ति करता है। दक्षिण मुख वाला वंश का लाभ, पश्चिम मुख श्री का लाभ तथा जो उत्तर मुख होकर भोजन करता है, वह सत्य का भोजन किया करता है। रोज ही अन्न का पूजन करना चाहिये और इस अन्न की कोई भी बुराई नही करते हुए इसका भोजन करें। अन्न के दर्शन करके ही प्रसन्न होना चाहिये और मन में अधिक हर्ष करना चाहिये। मन ने कहा है कि पहले अन्न का विशेष अभिनन्दन करके फिर इसका भोजन करना चाहिये। जो अन्न नित्य ही इस प्रकार से पूजित एवं सत्कर्त होकर खाया जाता है, वह बल और औज दोनों प्रदान किया करता है। झूठा अन्न कभी किसी का नही खाना चाहिये और इसको तथान्तर नही खाना चाहिये। अति भोजन, आरोग्य, अपुण्य और स्वर्ग का देने वाला नही होता है। अधिक खाना अपुण्य है और लोक से विद्वेष रखने वाला होता है। इसलिये इसका सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिये। भविष्य 1, 35–50/72.

अधिक नमक या अत्यन्त गर्म अन्न का भोजन न करें। शशक, कच्छप, गोधा, श्वचित–मत्स्य, शल्वक– यें भक्ष्य हैं। गाय, शुकर और कुक्कुट यें वर्जित हैं। औषध हेतु मनुष्य का मॉस भी दोषयुक्त नही होता। स्वच्छ स्थान पर भोजन करें, असमय भोजन न करें, ताजा अन्न सेवन करें तथा एकाग्र मन से भोजन करें। पहले मीठे, फिर नमकीन फिर खट्टे और अन्त में कडुए तीक्ष्ण पदार्थ खायें। प्रथम द्रव, मध्य में कठिन फिर द्रव का सेवन करें। भोजन करते समय वाणी संयम में रखें।

जो मूढ़ अज्ञान वाले केवल पके हुए अन्न को खाते हैं। जो जल कलुषित हो उसको वर्जित कर देना चाहिये। जो जल किसी भी तरह गन्ध, वर्ण एवं रस से दूषित हो तथा किसी अपवित्र स्थान में रखा हुआ हो एवं कीच–पत्थर से दोषयुक्त हो, वह किसी समुद्र का हो या किसी सरोवर का, शैवाल वाला हो या किन्हीं अन्य दोषों वाला हो, तो उसका त्याग कर देना चाहिये। दूषित जल को वस्त्र के द्वारा शौच से युक्त कर लेवें तभी उससे समस्त कार्यों का सम्पादन करें। भविष्य 1, 50 से 52–66/207.

शुद्धता व स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य नियम

केश, अस्थि, कॉटे, अशुभ वस्तु, बलि–भस्म, तुष और स्नान से गीली हुई भूमि को दूर से ही त्याग दें। विष्णु 1, 15/437.

सूर्योदय से पहले उठना चाहिये एवं नींद खुलने पर देर तक न लेटें। सांय व रात को शयन नहीं करना चाहिये तथा शयन स्वच्छ बिस्तर पर पूर्व या दक्षिण दिशा में सिर करके ही करना चाहिये। अन्य दिशाओं में सिर रखना रोग उत्पन्न करने वाला होता है। ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतु में दिन में सोना और दिन के समय मैथुन करना अनुचित है। नारद 1, 14/245.

ब्रह्म मुहुर्त्त में जागरण, आचमन, दांतुन, दुपहरी पूर्व स्नान करना, स्नान करके सूखे वस्त्र से देह पौंछना, भोजन के समय भोजन में ही चित्त रखना, प्रत्यक्ष लवण और उच्छिष्ट अन्न का त्याग स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है। जूते–वस्त्र–माला आदि जो वस्तुएं अन्यों के द्वारा धारण की गई हैं, उन्हें न पहनें। बासी भोजन न करें। भोजन स्नान करके ही करें। शुद्ध जल का आचमन करें। दिन में शयन व मैथुन नही करना चाहिये। दूसरों के द्वारा धारण किये हुए वस्त्रों को सभी प्रयत्नों के द्वारा वर्जित करना चाहिये। वामन 1, धर्मानुशासन वर्णन

जो स्नान तथा मंगल से हीन होते हैं, उनके गृह में तुम (अलक्ष्मी) प्रवेश करो। जो नारी शुद्धता से भ्रष्ट रहती हो तथा अपनी देह के संस्कारों से हीन होती है, सब प्रकार के भक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने में रत रहा करती है, उसके स्थान में तुम अपना प्रवेश करो। जो गृहस्थी मलिन मुख वाले और जो मनुष्य मैले वस्त्र धारण करने वाले हैं, जिनके दॉत मैले रहा करते हैं, ऐसे गृहस्थों के घर तू अपना प्रवेश कर। जो पैरों की शुद्धि से रहित हों अर्थात पैरों को नही धोया करते हैं तथा सन्ध्या के समय में शयन किया करते हैं, एवं संध्या के समय में जो खाया करते हैं, उनके घर में तुझे प्रवेश करना चाहिये। जो मनुष्य अत्यधिक खाने में रति रखने वाले हों तथा अत्यन्त पान करने वाले

हों, जो द्यूत एवं वाद की क्रिया करने वाले मूढ़ होते हैं उनके घर में तू प्रवेश कर। भविष्य 1, 50–66, पेज 207.

वामन–1 में कहा गया है कि शरणागत का त्याग करने वाले का, ढोंगी, कृपण, पक्षपाती, देव–पितृ–गुरू–गौ–ब्राह्मण–त्यागी तथा स्त्री का वध करने वाले उपविद्धों का अन्न नही खाना चाहिये। वामन 1, धर्मानुशासन वर्णन, 85–90/28.

सामान्य सावधानियां

जल प्रवाह के वेग के सामने स्नान न करें। जलते घर में न घुसें। वृक्ष के शिखर पर न चढें। अकेले यात्रा सुनसान जगह पर न करें। सूने जंगल या सूने घर में अकेला न रहें। चौराहा, चैत्य, वृक्ष, श्मशान, वन, दुष्ट स्त्री की निकटता उन सबको रात्रि में त्याग दें। सर्प के समीप न जायें। वर्षा व धूप में छाता लेकर जायें। रात्रि में वन जाना पड़े तो डंडा हाथ में हो। जूते पहनें; ऊपर की ओर या दूरस्थ पदार्थों को देखता हुआ न चलें, केवल चार हाथ तक पृथ्वी को देखते हुए चलना चाहिये। कटे–फटे वस्त्र, केशों से भरे वस्त्र न पहनें, हाथ धोने के लिये शुद्ध मिट्टी लें।

स्वस्थ आदतें

दॉतुन करना भी शुचिता का एक प्रधान अंग माना गया है। प्रातःकाल में शुद्धि के लिये विशेष रूप से तीर्थ में स्नान करें, क्योंकि यह मलिन शरीर सदा प्रातःकाल के स्नान से ही शुद्ध हुआ करता है। प्रातःकाल के स्नान को उत्साह–मेधा–सौभाग्य–रूप लावण्य और सम्पत्ति का प्रवर्धक प्राजापत्य के समान ही महान अधों का विनाश करने वाला कहा गया है। स्कन्द 1, 61/463.

अस्वास्थ्यकर तथा अभद्र क्रियायें

दांत रगड़ना, जोर से हंसना, अधोवायु का शब्द–सहित त्याग, नाखून चबाना, तिनका तोड़ना, नखों से भूमि पर लिखना, मूँछ–दाढ़ी के बाल चबाना, दो ढेलों को

परस्पर घिसना। दोनो हाथों से सिर खुजाना, पूर्ण नग्न होकर स्नान करना या शयन करना, पैरों को फैलाना, पैर पर पैर रखना, बाहों व जंघाओं को ऊपर की ओर उठाना अभद्र क्रियाएं हैं। विष्णु 1, 8—11/436.

मूर्ख, उन्मत्त, विकृत रूप वाले, विकलांग, निर्धन— इनका उपहास न करें। दांत का घर्षण, अपने शरीर की स्वयं ताडना न करें। ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सूर्य और अन्न का अपमान कभी नही करना चाहिये, पैरों से आसन नही खींचना चाहिये। ब्रह्म 2, 36/283.

दोनों हाथों से मस्तक न खुजावें। अकारण स्नान तथा सदैव सिर से स्नान न करें। सिर से स्नान करने के अन्त में किसी अंग से तेल न लगावें। किसी के पहने हुए जूता, वस्त्र और माला आदि को धारण न करें। गीले केश या गीले वस्त्र को न फटकारें। लाल, काले या चित्रित वस्त्र न पहनें। मार्कण्डेय 1, सदाचार श्लोक

आवास

उत्तम स्वास्थ्य व सुखी जीवन के लिए परिवेश भी उत्तम ही होना चाहिये। परिवेश का सामाजिक वातावरण भी भौतिक वातावरण की भाँति ही महत्वपूर्ण होता है। इस संबंध में पुराणकार कहता है—

विप्रों को उस स्थान में कभी नही रहना चाहिये, जहां यें तीन सदा रहते हों— एक जिगीषु (जीत की इच्छा रखने वाला), पूर्व का बैर रखने वाला जन और तीसरा निरन्तर उत्सव करते रहने वाला हो। पुरवासी संगठित हों, निरन्तर न्याय का बर्ताव करने वाले हों, परम शान्त, मत्सरता से रहित हों, किसान अत्यधिक मानी न हों, समस्त औषधियां होती हों, भूमि सस्यों को प्रदान करने वाली हो, ऋण देने वाला उपलब्ध हो, वैद्य हो, श्रोत्रिय हो, सजला नदी हो, राजा योग्य हो, वहीं वास करें। ब्रह्म 2, 107/295.

जीवन–संरक्षण

पुराणों में जीवनहंता को पापी माना गया है, चाहे वह आत्महत्या हो या किसी अन्य जीव की हत्या। आत्महत्या करने वाले के लिए नारद–पुराण में निम्न दण्ड विधान उल्लिखित है–

जो रस्सी आदि के द्वारा आत्मघात करना चाहे तो उसके मृत हो जाने पर पवित्र वस्तुओं से उसके शरीर का लेपन करना चाहिये और यदि वह जीवित रह जाये तो उसे दो सौ पण का दण्ड करना चाहिये। उसके पिता व पुत्र पर एक–एक पण का दण्ड करना चाहिये। इसके पश्चात शास्त्र वर्णित प्रायश्चित करना चाहिये। चूँकि आत्मघात करने का बड़ा अपराध शास्त्रों में बताया गया है।

जो जल, अग्नि और बन्धन से मरने की इच्छा करके भ्रष्ट हो गये हों, संन्यासी का व्रत भंग करने से पतित हो गये हों, विषपान या कूद कर मरने से दूषित हो गये हैं, जो शस्त्र का प्रहार कर आत्महत्या करने के दोष से दूषित हो गये हों, वे मनुष्य फिर व्यवहार के पात्र नही रहा करते हैं। सबको चाहिये कि इनका बहिष्कार कर देवें। नारद 1, 19–22/293.

व्यवसायोन्मुख शिक्षा

प्राचीन भारत में आध्यात्मिक शिक्षा के साथ–साथ लौकिक शिक्षा की व्यवस्था थी। पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय लौकिक शिक्षा के अन्तर्गत भिन्न–भिन्न व्यवसायों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उनमें से कुछ विशेष का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

चिकित्सा शास्त्र

चिकित्सा शास्त्र की विभिन्न शाखाओं यथा– रोग निदान, औषधि निर्माण, शल्य, सर्प–दंश, रक्त परीक्षण, अस्थि तथा शरीर के विभिन्न रोगों के उपचार के लिए दी जाने

वाली उपयुक्त औषधियों की शिक्षा दी जाती थी। पुराणों में अश्वनि कुमारों, काशीराज, चरक, धन्वन्तरि आदि चिकित्सा शास्त्रियों का उल्लेख किया गया है।

पशु चिकित्सा

तत्कालीन समाज का कृषि मुख्य उद्यम था, जिसमें पशुओं का बहुत महत्व था। राजाओं के यहाँ अश्व व गज सेनाएं रहती थी। अतः इन पशुओं के रोगों की चिकित्सा करने के लिए भारत में पशु चिकित्सा विज्ञान का विकास भी हुआ। इस विज्ञान का जन्मदाता 'शालीहोम' को माना जाता है। पाण्डवों में नकुल और सहदेव इस विज्ञान के विशेषज्ञ कहे गए हैं।

सैन्य शिक्षा

प्राचीन युद्धों में अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनके संचालन हेतु भी सैन्य शिक्षा महत्वपूर्ण थी। सेना के अंग ये थे– हाथी, अश्व, रथ व पदाति। पुराणों में प्राचीन समय में युद्धों में प्रयुक्त होने वाले सेना के विभिन्न अस्त्र–शस्त्र ये थे– दिव्यास्त्र, वज्र, चक्र सुदर्शन, ब्रह्मस्त्र, पाशुपतिनास्त्र, आग्नेस्त्र, वरुण–पाश, नाग–पाश, मुदगर, भाला, अंकुश, गदा, दण्ड। भिन्दीपाल, खडग, कुणर, तोमर, परिध, छुरिका, कुन्त (भाले), चक्र, शंकु, मूसल, अंकुश, लकडी, पटे, गोफन, तोप, फांसे, हथेली, मुक्के, बंदूक, नाराय, क्षेपनीय, मुदगर। नारद 1, 25–28/199.

मत्स्य पुराण में दैत्यराज हिरण्यकश्यपु तथा नरसिंह भगवान के युद्ध के वर्णन में भी तत्कालीन समय मे प्रयुक्त होने वाले अस्त्र–शस्त्रों की जानकारी मिलती है।

विचित्र अशनि तथा शुष्क और आर्द्र– दोनो प्रकार के अशनिरौद्र तथा उग्रशूल, कंकाल, मुसल, मोहन, शोषण, सन्तापन, विलाप्न नाम वाले अस्त्रों से दैत्यराज ने नरसिंह प्रभु के शरीर पर डर–डर कर प्रहार पर प्रहार किये थे। हयशिर अस्त्र, ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, ऐन्द्र, अद्भुत सार्प अस्त्र, पेजाशाचास्त्र, अजित शोषद शार्मन, महाबल,

भावन, प्रस्थापन, विकम्पन इन सब अस्त्रों को जो महान द्विय थे, दैत्यराज हिरण्यकश्यप ने भगवान नरसिंह के शरीर पर छोड़ दिया था। असुरों की उस विशाल सेना ने प्राश, पाश, खंग, गदा, मूसल, वज्र, अशनि, अग्नि के सहित महान द्रुम, मुदगर, भिन्दीपाल, शिला, उलूखल, पर्वत, दीप्तशवघ्नी और सुदारुण दण्ड आदि के द्वारा नरसिंह प्रभु पर प्रहारों की भरमार कर दी थी। मत्स्य 2, 21–31/25–2

सैन्य शिक्षा के लिए विशेष प्रकार के विद्यालयों की विशेष व्यवस्था नहीं थी। युवक ग्राम के बुजुर्गों से ग्रामों में ही रहते हुए अथवा इस शिक्षा के विशेषज्ञ गुरूओं के आश्रमों में रहकर सैन्य शिक्षा प्राप्त करते थे। राजकुमारों के लिए सैन्य शिक्षा अनिवार्य थी।

ललित कलाओं तथा हस्त कलाओं की शिक्षा

लकड़ी का काम, लोहारी तथा शिल्प कला के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, चित्रकला, वास्तुकला, ज्योतिष विद्या आदि अनेक ऐसी कलाएं थी, जिनके द्वारा जनता का एक बड़ा भाग तत्कालीन समय में जीविकोपार्जन करता था। कालान्तर में श्रम से जुड़े हुए इन हस्त–कौशलों की शिक्षा को हीन मानते हुए इसे समाज के निम्न वर्गों तक ही सीमित कर दिया गया।
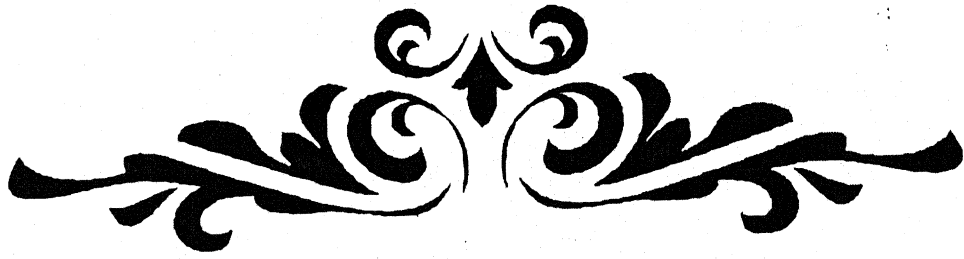
निष्कर्ष एवं सुझाव
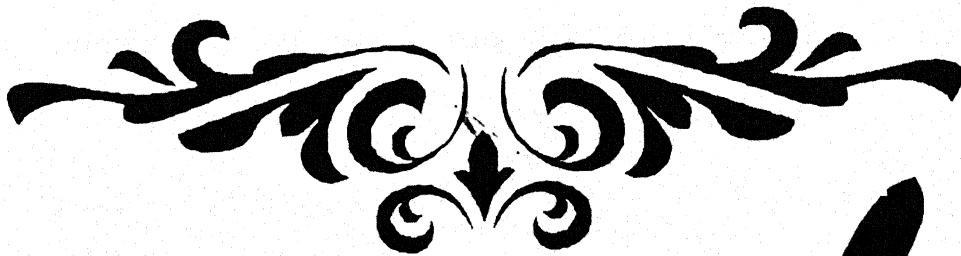
अध्याय 6

निष्कर्ष एवं सुझाव

'प्राचीन' सर्वथा हेय अथवा त्याज्य नहीं है तथा प्रत्येक नवीन परिवर्तन ग्राह्य नहीं हो सकता। समाज के विद्वजनों की दृष्टि सदैव लोक–कल्याण, समाजोत्थान तथा राष्ट्रहित की ओर उन्मुख रहा करती है। नवीन हो अथवा अर्वाचीन जो भी विचार या कार्य समाज को ऊँचे स्तरों की ओर ले जाता है, वही ग्राह्य तथा स्वीकार्य हो जाता है। वर्तमान युग तो बिखरते, टूटते तथा जुड़ते हुए मूल्यों का युग कहा जाता है। प्राचीन आदर्शों को बाह्य आड़म्बर का नाम देकर उन्हें भुलाने का प्रयास करना उचित नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य सभ्यता तथा आधुनिक वैश्वीकरण के प्रभाव में आकर स्वयं को 'मॉडर्न' कहलाने की ललक में युवा वर्ग जिस तरह से बाह्य संस्कृति की अनेक अनुचित बातों को अपना रहा है, उसे कदापि श्लाघनीय नहीं कहा जा सकता।

सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव जन–मानस पर पड़ना स्वाभाविक ही है। युवा वर्ग में जो निराशा, भग्नाशा, अवहेलना, अलगाव, आक्रामकता, कर्तव्य की उपेक्षा आदि व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी न तो वर्तमान समाज–हित की दृष्टि से उचित कहे जा सकते हैं और न ही ये प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप हैं। अन्य देशों की संस्कृतियों के मिश्रण से, विदेशों में कुछ अवधि रहकर पुनरागमन करने से, जन–संचार साधनों– विशेषतया केबल टी. वी. तथा इन्टरनेट संस्कृति के प्रचलन से, लोकतंत्रीय भारत में स्वाधीनता का अर्थ ठीक न समझने से तथा प्रत्येक संस्था व स्थान पर राजनीतिक उठा–पटक के प्रवेश से आज भारतीय युवक स्वयं को किंकर्तव्यविमूढ़ पाता है। यह ऊहा–पोह व अंधकारहीनता केवल छात्रों और युवा वर्ग में ही नहीं, अपितु समूचे राष्ट्र को दिशाहीनता, आदर्शहीनता तथा मूल्यहीनता की ओर ले जा रहा है। जब तक इस गम्भीर समस्या का निराकरण करके हम सुपथगामी नहीं होंगे, तब तक दुःख व हताशा के सागर में यूँ ही गोते लगाते रहेंगे।

उपर्युक्त निराशाजनक परिस्थिति का यदि ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाये, तो यह कुशिक्षा का परिणाम ही प्रतीत होती है। शिक्षा को प्रजातंत्र की रीढ़ स्वीकार किया जाता है। अपने देश के सांस्कृतिक मूल्यों से पृथक हुई शिक्षा में अपने नागरिकों के व्यक्तित्व को परिमार्जित करने की शक्ति नहीं रहती है। ऐसी शिक्षा निष्क्रिय एवं प्रभावहीन ही कही जा सकती है। अतएव यह परमावश्यक है कि शिक्षा मूल्यों व उच्च आदर्शों की ओर उन्मुख हो।

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में अतुलित ज्ञान का भंडार है, जन–कल्याण हेतु सदुपदेश भी हैं। वेद, उपनिषद, गीता आदि के अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में पुराण साहित्य का महत्व भी किसी दृष्टि से कम नहीं है। पुराणों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनमें लगभग सभी प्राचीन व महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सार व्याप्त है। जनता में अष्टादश पुराण भारतीय साहित्य की अमूल्य धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि शिक्षा–शास्त्रियों व शोधकर्ताओं द्वारा इनके प्रति उपेक्षा भाव ही अपनाया गया है, तथापि इस अध्ययन से यह स्पष्ट है कि विद्यालयों, विश्व–विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा तथा समाज–शिक्षा की दृष्टि से भी पुराणों से उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

पुराण–साहित्य में जो कुछ भी वर्णित है, वह सम्पूर्ण अपने उसी रूप में ग्रहण करने योग्य है, अन्ध–श्रद्धा के आधार पर ऐसा कहना उचित नहीं है। जहॉ किसी बात को पुराणों में अत्यधिक अतिश्याक्तिपूर्ण ढ़ंग से कहा गया है, वहॉ स्व–विवेक का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिये। पुराण की विषय–वस्तु को ग्रहण करते समय वैज्ञानिकता, देश के समाजवादी–लोकतांत्रिक स्वरूप तथा आधुनिक समय में उसकी व्यावहारिकता आदि को भी ध्यान रखना चाहिये। पुराणों में जहॉ मानव–कल्याण के लिए उपयोगी सामग्री को व्यक्त किया गया है, वहॉ उन उद्देश्यों का अक्षरशः पालन करने में कोई हानि नहीं है। शिक्षा–दर्शन के अन्तर्गत मुख्यतः शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, विषय–वस्तु, शिक्षण–विधियाँ, गुरू–शिष्य सम्बन्ध, अनुशासन, मूल्य व नैतिक शिक्षा,

व्यावसायिक शिक्षा, पर्यावरण शिक्षा आदि का अध्ययन किया जाता है। शोध से यह स्पष्ट है कि पुराण साहित्य में इन सभी विषयों पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

पुराण साहित्य का विवेचन करने से विदित होता है कि पुराणों की सामग्री व्यक्ति के नैतिक व आध्यात्मिक उन्नयन में पूर्णतः सहायक है। व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने के लिए जो विशेषतायें अपेक्षित है, उनका उल्लेख पुराण साहित्य में प्रचुरता से किया गया है। शिक्षक एवं शिष्य दोनों की बहुमुखी उन्नति निश्चित रूप से होनी चाहिये। इस उन्नति हेतु परस्पर अन्तःक्रियात्मक सम्बन्धों का होना भी आवश्यक है, वेद, उपनिषद, पुराण आदि ग्रन्थों में दी गई सामग्री का अध्ययन करने से छात्र व शिक्षक के रूप में ही नहीं, एक मानव के रूप में भी व्यवहार व चिन्तन पर गहन प्रभाव पड़ता है। शास्त्रों की मर्मज्ञ वाणी व्यक्तियों के हृदय पर गहरा प्रभाव छोड़ती है। भारतीय प्राचीन साहित्य की सुन्दर शिक्षाओं, शिक्षण–विधियों तथा गुरू व शिष्य की चारित्रिक विशेषताओं को भी प्रकाश में लाया जाना चाहिये। महान पुरूषों की जीवन–गाथाओं तथा कार्यों, जिनका कि उल्लेख पुराणों में किया गया है, के विषय में वर्तमान पीढ़ी को अवश्य ही जानकारी होनी चाहिये।

शिक्षा का एक उद्देश्य संस्कृति का संरक्षण, हस्तांतरण व विकास है। शिक्षा–विदों, विद्वानों, समाज–सुधारकों व अन्य प्रबुद्ध व्यक्तियों को निरन्तर संस्कृति के विभिन्न तत्वों व प्रभावों की जॉच–पड़ताल करते रहना चाहिये। प्राचीन संस्कृति में जो समय की दृष्टि से उचित है, उपयोगी है, उसके संरक्षण के समुचित प्रयास किए जायें। साथ ही जो विकास के मार्ग में अवरोधक सिद्ध हो रहे हैं, ऐसे तत्वों को दूर करने के प्रयत्न भी निरन्तर चलने चाहियें। मन्थन की इस प्रक्रिया से संस्कृति को निरन्तर विकासोन्मुख बनाने में मदद मिलेगी।

अष्टादश पुराण साहित्य के विस्तृत व गहन अध्ययन–मनन एवं विवेचन के पश्चात सार रूप में इसमें निहित शिक्षा दर्शन तथा वर्तमान परिदृश्य के सम्बन्ध में प्रासंगिक तत्वों को निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है–

1. पुराणों में ईश्वर को सगुण व निर्गुण, दोनों रूपों में मानते हुए भक्ति के द्वारा सगुण रूप की उपासना के माध्यम से निर्गुण व निराकार ब्रह्म की प्राप्ति पर बल दिया गया है। वेदों व उपनिषदों का सार–तत्व पुराणों में है। वेदान्त दर्शन व सांख्य योग दर्शन को पुराणों में दृश्टान्तों, कथाओं व उदाहरणों के माध्यम से सरल एवं प्रभावोत्पादक ढ़ंग से समझाया गया है। ज्ञान–योग, कर्म–योग व भक्ति योग का सुन्दर समन्वय पुराणों में किया गया है। भागवत दर्शन, शैव दर्शन व अष्टांग योग की चर्चा भी पुराणों में अनेक स्थानों पर की गई है।

पुराणों में यद्यपि कर्मकांड़, व्रत, तीर्थाटन, श्राद्ध, यज्ञ व पूजा विधान तथा स्वर्ग–नरक वर्णन भी प्रचुरता में है, तथापि पुराणकार परम् सत्य के रूप में ईश्वर या ब्रह्म को सर्व–व्याप्त मानते हुए प्राणि–मात्र में उसके दर्शन करते हुए ब्रह्म की अनुभूति करने पर बल देते हैं। पूजा व भक्ति से ईश्वर को प्रसन्न करने के वे नाना भौतिक उपाय तो बताते हैं, पर साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि पवित्र भावना व निष्कलुष आचरण द्वारा सर्व–हित चिन्तन का भाव मन में रखते हुए जो कर्म परमात्मा को समर्पित करते हुए मनुष्य द्वारा किए जाते हैं, वह भी भक्ति ही है। बाह्य शुचिता के लिए नियमों का वर्णन करते हुए पुराणकार आन्तरिक शुद्धि को श्रेष्ठ बताकर उसके लिये प्रयत्न करने पर ही बल देता है। विभिन्न तीर्थों का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त पुराण में सार–रूप में कहा गया है कि "सच्चा तीर्थ तो मन है"। श्राद्ध की विधि–विधान का विशद् वर्णन करते हुए पुराणकार अन्त में यह स्पष्ट रूप से कहता है कि श्राद्ध में अनावश्यक दिखावा व व्यय नहीं किया जाना चाहिये, चूँकि यह तो श्रद्धा व भावना का विषय है।

2. पुराण दर्शन में ब्रह्म–ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए योग, तप व साधना को साधन के रूप में वर्णित किया गया है। ज्ञान–प्राप्ति के अन्य स्रोतों के रूप में पुराणों में प्रत्यक्ष निरीक्षण, आगमन–निगमन व शास्त्र के वचन आदि को भी

स्वीकार किया गया है। आत्म–निरीक्षण अथवा आत्म–अवलोकन के द्वारा व्यक्ति परमात्मा की अनुभूति कर सकता है, अतः इस प्रक्रिया पर भी पुराणों में विशेष बल दिया गया है।

3. नैतिक व मूल्य शिक्षा की दृष्टि से पुराणों में अत्यन्त उपयोगी विषय सामग्री उपलब्ध है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय व ब्रह्मचर्य, जैन धर्म के ये पंच महाव्रत पुराणों में विशिष्ट स्थान पाये हुए हैं। बौद्ध दर्शन में जिस अष्टांगिक मार्ग की चर्चा है, उसे संबंधित मूल्य भी पुराणों में सर्वत्र व्याप्त हैं। पुरूषार्थ, आत्म–निर्भरता, विवेक, स्वतंत्रता, परोपकारिता, शुचिता, दया, मैत्री–भाव, समानुभूति, सर्व–धर्म–समभाव जैसे मूल्यों पर पुराणों में अनेक स्थानों पर बल दिया गया है। भारतीय परम्परागत चिन्तन के अनुरूप ही पुराणों में भी पुरुषार्थ चतुष्ट्य अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति पर भी विशेष बल दिया गया है। प्राणि–मात्र में ब्रह्म की अनुभूति करने की शिक्षा देकर पुराणों में अनेकता में एकता का भाव जाग्रत करने का भी प्रयास किया गया है। विश्व–बन्धुत्व तथा समानता व समता की सच्ची अनुभूति व्यक्ति आध्यात्मिक स्तर पर ही कर सकता है। यही अनुभूति समाज और विश्व में कलह, द्वन्द्व व संघर्ष का निवारण कर स्थायी शान्ति और मेल–मिलाप को जन्म दे सकेगी। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में जिस नैतिक व मूल्य शिक्षा पर बल दिया जा रहा है, उसे अनुप्राणित करने में पुराणों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

4. पुराणों में सदाचार विषयक चर्चा विस्तार में मिलती है। जीवन के प्रत्येक पक्ष को सदाचार वर्णन करते समय ध्यान में रखा गया है। मानव के सामाजिक, चारित्रिक व नैतिक विकास की दृष्टि से पुराणों की सदाचार संबंधी शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण व उपयोगी है।

पुराणों में मनुष्यों के उत्तम व अधम कर्मों का विशद् विश्लेषण करते हुए उनके परिणामों के प्रति भी सचेत करने का प्रयास किया गया है। स्वर्ग–नरक संबंधी चर्चायें वस्तुतः व्यक्ति को सत्कर्म करने की प्रेरणा देने की दृष्टि से ही की गई हैं। वर्तमान समय में स्वर्ग–नरक संबंधी अवधारणा मात्र कपोल–कल्पना प्रतीत होती है, परन्तु यदि

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो इसमें कुछ अनुचित भी नहीं है, चूँकि पुरस्कार, भय, निन्दा, भर्त्सना व दण्ड़ आदि को प्रेरणा के तरीकों के रूप में सदैव से अपनाया जाता रहा है। सत्कर्म करने से स्वर्ग के रूप में उत्तम फल–प्राप्ति तथा उससे भी ऊपर उठकर ईश्वर–प्राप्ति की संभावना होती है, जो वास्तव में जीवन का चरम् लक्ष्य है। निःसन्देह कलुषित आचरण व दुष्कर्म से व्यक्ति का पतन होता है। व्यक्ति में या तो इतना विवेक हो कि वह अच्छे–बुरे आचरण में अन्तर करते हुए स्वयं ही सदैव सद् आचरण करे, अन्यथा उसे अवांछनीय व्यवहारों से रोकने के लिए ही इनके दुष्परिणामों से अवगत कराते हुए उसमें किसी प्रकार का भय उत्पन्न किया जाये। पुराणों में वर्णित 'नरक–निरूपण' को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिये।

5. अध्याय चार में पुराणों की विषय–वस्तु का शिक्षा के अंगों की दृष्टि से विश्लेषण करने के पश्चात सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि पुराणकारों की दृष्टि में शिक्षा से संबंधित कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है। शिक्षा को मानव–जीवन के सर्वागींण विकास के साधन के रूप में पुराणों में स्वीकार किया गया है। पुराणों के शिक्षा दर्शन में उद्देश्यों को निर्धारित करते समय मानव के बौद्धिक, भावात्मक एवं कौशलात्मक क्षमताओं के विकास को ध्यान रखा गया है। व्यक्ति एवं समाज दोनों की उन्नति को दृष्टिगत रखते हुए व्यक्तित्व के मानसिक, शारीरिक, चारित्रिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास पर पुराणों में बल दिया गया है। भारत के प्राचीन मनीषियों को यह बोध था कि व्यष्टि एवं समष्टि, दोनों के संतुलन एवं सांमजस्य से ही संस्कृति व सभ्यता विकास की दिशा में अग्रसर हो सकेगी। अतः शिक्षा के वैयक्तिक व सामाजिक उद्देश्यों के महत्व को स्वीकार करते हुए लोक–कल्याण के माध्यम से आत्मानुभूति के उच्चतम स्तर तक पहुँचना एक सांसारिक व्यक्ति के लिए श्रेयष्कर माना गया था।

पुराणों के वर्ण्य विषयों का शैक्षिक उपयोगिता की दृष्टि से विवेचन करने पर पाठ्यक्रम का एक सुनिश्चित स्वरूप भी सम्मुख आता है। 'परा व अपरा विद्या' अर्थात

लौकिक व पारलौकिक ज्ञान द्वारा व्यक्ति को सुसम्पन्न करते हुए अनेक विषयों को अध्ययन की दृष्टि से आवश्यक माना गया था। प्रमुख विषय थे इतिहास, भूगोल, वेद, उपनिषद, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, गणित, राजनीति और विज्ञान। जीवन–यापन की दृष्टि से व्यवसायपरक शिक्षा, शिल्प व सैन्य शिक्षा की भी व्यवस्था की गई थी।

पुराणों के शैक्षिक विमर्श के माध्यम से तत्कालीन समय में प्रयुक्त होने वाली विभिन्न शिक्षण विधियाँ भी प्रकाश में आती हैं। चिन्तन, मनन व निदिध्यासन पर प्राचीन भारतीय शिक्षा में अत्यन्त बल दिया जाता था। निरीक्षण विधि, प्रश्नोत्तर विधि, वाद–विवाद या शास्त्रार्थ विधि, कहानी–कथन, वार्तालाप (संवाद विधि) आदि अनेक विधियाँ प्रचलन में थीं। अधिगम् व स्वाध्याय को प्रेरित करने की दृष्टि से भी पुराणों में कुछ विशेष निर्देश दिए गए हैं। आश्रमों में ब्रह्मचारियों को विभिन्न श्रम कार्यों को करने के लिए प्रेरित किया जाता था, ताकि वे श्रम में आस्था रखते हुए स्वक्रिया के द्वारा भी अनेक कौशल अर्जित कर सकें।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का निर्वहन करते हुए पुराणों में भी गुरू को अत्यधिक श्रेष्ठ व सम्मानजनक स्थान प्रदान किया गया था। गुरू को अपने व्यक्तित्व तथा आचरण के द्वारा छात्र समुदाय में ही नहीं, समाज में भी यह प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

शिष्य की आध्यात्मिक उन्नति हेतु गुरू के मार्गदर्शन व संरक्षण को आवश्यक माना गया था। शिष्य के लिये गुरू के प्रति विनम्र व आज्ञाकारी होना अपेक्षित था। गुरूकुलों व आश्रमों में गुरू–शिष्य सम्बन्धों का आदर्श रूप पुराणों में भी परिलक्षित होता है। सादगीपूर्ण जीवन व ब्रह्मचर्यपालन उसके लिये अनिवार्य था। एक नियमित व सुनिश्चित दिनचर्या के माध्यम से छात्रों के व्यवहार को नियंत्रित करते हुए उन्हें अनुशासन में रहने की प्रेरणा दी जाती थी। आश्रम व गुरूकुल प्रकृति की गोद में स्थित थे। ये राजकीय हस्तक्षेप से मुक्त स्वायत्त संस्थाओं के रूप में थे, परन्तु समाज व राजा के द्वारा सदैव इनके हितों को ध्यान रखा जाता था।

6. अध्याय पांच में शोधकर्ता द्वारा 'नारी विमर्श' शीर्षक के अन्तर्गत नारी के सम्बन्ध में पुराणों में उपलब्ध सामग्री का विवेचन करने के पश्चात नारी विषयक सकारात्मक व नकारात्मक बातों का अलग–अलग उल्लेख किया गया है। इस चर्चा से तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। इस चर्चा से यह स्पष्ट है कि पुराणों में नारी के सम्बन्ध में प्रतिपादित विचार अन्तर्द्वन्द्व, विरोधाभास व विसंगति से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए नारद पुराण में कहा गया है कि स्त्री की बुद्धि प्रलयंकारी होती है तथा नारी का कभी विश्वास न करें। जबकि लिंग पुराण कहता है कि स्त्री पापकर्म में लिप्त हो, तो भी सदा पूज्य व अबध्य होती है। वे सदा पूज्य होती हैं।

7. पर्यावरण के संबंध में पुराणों में पर्याप्त विषय वस्तु उपलब्ध होती है। परिवेश की स्वच्छता के विषय में अनेक स्थानों पर निर्देश दिए गए हैं। पर्यावरण को प्रदूषित करना एक गर्हित कर्म माना गया है। भारतवर्ष की अनेकानेक नदियों व सरोवरों को पवित्र मानते हुए उनकी महिमा का वर्णन पुराणों में मिलता है, जो वस्तुतः मानव के लिए उनके असीम महत्व व उपयोगिता का ही द्योतक है। जल का जीवन में क्या महत्व है, वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व के साथ–साथ भारत भी एक बार पुनः इसे भली प्रकार समझने लगा है तथा नदियों व तालाबों की स्वच्छता को बनाए रखने की दिशा में प्रयत्न किए जाने लगे हैं।

पुराणों में आश्रमों व तपस्थलियों का अत्यन्त सुन्दर ढ़ंग से वर्णन किया गया है। प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य की अनुभूति पुराणों में यत्र–तत्र किए गए वर्णनों से सहज ही होती है। भारत की जैव– विभिन्नता व सम्पदा की बानगी देते हुए पुराणों में नाना प्रकार के पेड़–पौधों, वनस्पतियों व वनचरों के नामों का बहुलता से उल्लेख किया गया है। भारतीय धर्म परम्परा में मनुष्य के लिए लाभदायक पौधों को पूज्य माना जाता है। विभिन्न पशु–पक्षी विभिन्न देवी–देवताओं के वाहन के रूप में परिकल्पित किए जाते हैं। अहिंसा, जीवदया व जीव–संरक्षण पर पुराणों में विशेष बल दिया गया है। कुएं, सरोवर,

बावड़ी विनिर्मित कराने तथा वृक्षारोपण कराने वाले व्यक्ति स्वर्ग–प्राप्ति के अधिकारी माने गए हैं तथा इन्हें दूषित व नष्ट करने वाले नरकगामी।

8. पुराणों में मानव–स्वास्थ्य के महत्व को स्वीकार करते हुए स्वास्थ्य–संरक्षण हेतु इंद्रिय–संयम, स्वस्थ जीवन–शैली व उत्तम आचरण पर बल देने के साथ–साथ खाद्य सामग्री, खान–पान संबंधी नियम, परिवेश, आदतों व दिनचर्या आदि के विषय में भी समुचित निर्देश दिए गए हैं। रोग–निदान, औषधि विज्ञान तथा चिकित्सा शास्त्र से संबंधित अन्य सामग्री भी पुराणों में उपलब्ध है।

9. नारी को मानव जाति का सदस्य न मान उसे 'नारी जाति' का विशिष्ट सम्बोधन देने की प्रवृत्ति भारतीय समाज में आज भी है। हमारे समाज में नारी प्राचीन समय से देवी व शक्ति के रूप में पूज्य रही है, परन्तु साथ ही दैनन्दिन के व्यवहार में वह उपेक्षिता, शोषिता व दयनीय के रूप में भी देखी जा सकती है। ऋषियों व मुनियों के लिये, जबकि वे कठोर ब्रह्मचर्य युक्त तपस्वी जीवन जीते हुए ईश्वर से मिलने का प्रयास कर रहे थे, नारी उन्हें सबसे बड़ा खतरा नजर आती थी। जिसके आकर्षण में बंधकर उनका वर्षों का श्रम बेकार हो जाता था। जब भी इस प्रकार तप भंग हुआ, दोषी नारी ही ठहराई गई, शापित की गई। पुराणों की अनेक कथाओं से यही सिद्ध होता है। पुराणों में नारी शिक्षा के संबंध में जो विषय–वस्तु दृष्टिगोचर हुई है, वह उन्हें गृहस्थ जीवन में सद् गृहणी बनाने की दृष्टि से ही प्रतिपादित की गई प्रतीत होती है। नारी का स्थान घर तक सीमित मानते हुए पत्नी या स्त्री धर्म के अन्तर्गत उसके गृहस्थी संबंधी कर्तव्यों की चर्चा की गई है। पति उसका एकमात्र गुरू व पति सेवा उसका एकमात्र धर्म घोषित किया गया है।

10. अध्याय पांच में ही शूद्र विमर्श के अन्तर्गत पुराणों की वर्ण्य वस्तु में शूद्र विषयक चर्चा का विवेचन किया गया है, जिसके आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि नारी की भाँति ही शूद्र की स्थिति भी प्राचीन भारतीय समाज में अच्छी नहीं थी। अनेक स्थानों पर पुराणों में उन्हें समकक्ष ही माना गया है। ब्रह्म पुराण में

कहा गया है कि शूद्रों का एकमात्र धर्म अन्य त्रिवर्णों की सेवा करना तथा स्त्री का धर्म पति–सेवा है। ऐसा करने से ही वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। पुराणों की रचना का एक उद्देश्य था– वेद से वर्जित प्राणियों के लिए वेद प्रतिपाद्य, आत्म–ज्ञान तथा मुक्ति–प्राप्ति की शिक्षा। वेदत्रयी का जिन व्यक्तियों को वेद श्रवण का अधिकार नहीं था, उनमें थे, स्त्री, शूद्र तथा जन्मना द्विज (कर्मणा नहीं)। शूद्रों को पुराणों के श्रवण का ही अधिकार था, पठन का नहीं। सभी पुराणों में शूद्रों को अत्यन्त निम्न, हेय या त्याज्य ही देखा गया हो, ऐसा भी नहीं है। ब्रह्म पुराण में उत्तम चरित्र व आचरण से युक्त धर्मज्ञ व विद्वान शूद्र को भी द्विज की भाँति ही सम्मान के योग्य बताया गया है तथा असत् आचरण वाले द्विज को भी शूद्र बताया गया है।

सुझाव

उपर्युक्त निष्कर्षों के अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुराण में मानव–जीवन के विभिन्न पक्षों तथा समाज के विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है। अनेक विद्वानों द्वारा पुराणों की यह कहकर आलोचना की जाती है कि वे केवल धार्मिक ग्रन्थ हैं, अथवा उनमें मात्र कपोल–कल्पित कथाएं व पुराने राजा–महाराजाओं से संबंधित किस्से–कहानियाँ हैं। आलोचकों का यह भी कहना है कि पुराणों में नारी व शूद्रों को बहुत अपमानजनक स्थिति में देखा गया है। अष्टादश पुराणों की विषय–वस्तु का विश्लेषण करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आलोचकों के मत पूर्णतया निष्पक्ष नहीं हैं।

शोधकर्ता द्वारा अपनी क्षमताओं व सीमाओं को दृष्टिगत रखते हुए विस्तृत पुराण–साहित्य में से केवल अष्टादश मान्य पुराणों के अध्ययन तक ही अपने शोध–कार्य को सीमित किया गया था। तदानुरूप ही शोध–उद्देश्यों का निर्धारण भी किया गया था। अध्ययन समाप्ति के उपरान्त शोधकर्ता विश्वासपूर्वक यह कह सकता है कि वह शोध–उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रहा है। परन्तु साथ ही आत्म–स्वीकृति के रूप

में वह यह भी स्वीकार करता है कि इन अष्टादश पुराणों की विषय–सामग्री व्यापक होने के साथ–साथ अनेक स्थानों पर इतनी गूढ़ता लिए हुए है कि एक श्रंखलाबद्ध दीर्घावधि की शोध–योजना के द्वारा ही इनका गहन विवेचन एवं विश्लेषण संभव है। पुराणों में उपलब्ध इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, व्याकरण व गणित आदि विषयों पर स्वतंत्र रूप से विभिन्न विषय–विशेषज्ञों द्वारा ही शोधकार्य अपेक्षित है। शिक्षा के विभिन्न अंगों यथा– उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधियाँ, गुरू–शिष्य सम्बन्ध व अनुशासन आदि के लिये अलग–अलग एक स्वतंत्र रूप से शोध कार्य किया जाना अपेक्षित है। ऐसे शोधकार्यों में एक समय में शिक्षा के एक ही अंग पर गहन अध्ययन किया जाना अधिक उपयोगी होगा। शिक्षा से संबंधित विभिन्न क्षेत्रों जैसे– पर्यावरण शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा, स्त्री शिक्षा, नैतिक व मूल्य शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा पर भी स्वतंत्र शोध कार्य किए जाने चाहियें। 'प्रौढ़ व समाज शिक्षा की दृष्टि से पुराणों की उपयोगी विषय वस्तु', 'राष्ट्रीय एकता, भावात्मक एकता एवं सांस्कृतिक एकीकरण के क्षेत्र में पुराणों का योगदान' जैसे विषय भी भावी शोधकर्ताओं द्वारा चयनित किए जा सकते हैं।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

- अग्रवाल, वासुदेव शरण – 'मार्कण्डेय पुराण (एक सांस्कृतिक अध्ययन)' हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1961
- अवस्थी, एस. (1984) – 'आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वैदिक शिक्षा', फोर्थ सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, बुच एम. बी. 1983–88, वॉल्यूम फर्स्ट
- अय्यर, सर पी. एस. एस. – 'इवोल्यूशन ऑफ हिन्दू मोरल आइडियल्स', नाग पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1976
- ओशो – 'धर्म और राजनीति', डायमण्ड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2001
- बुच, एम. बी. (1978–99) – 'रिसर्च इन एजुकेशन', II - V सर्वे, एन. सी. ई. आर. टी, नई दिल्ली।
- भट्टाचार्य, डा0 रामशंकर – 'पुराणगत वेद विषय सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1968
- भट्टाचार्य, डा0 रामशंकर – 'इतिहास पुराण का अनुशीलन', वाराणसी, 1970
- डा0 देवराज – 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ0 प्र0 शासन, 1972
- दामोदरन, के. – 'भारतीय चिन्तन परम्परा', पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस प्रा. लि. रानी झांसी रोड, नई दिल्ली–55, 1992
- डसन, डा0 पॉल – 'आउटलाइन्स ऑफ इंडियन फिलास्फी', एस. एस. पब्लिकेशन, दिल्ली– 110052, 1976
- दूबे, एम. (1980) – उपनिषदों में शिक्षा दर्शन, थर्ड सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, बुच एम. बी. 1978–83
- गैरोला, वाचस्पति – 'भारतीय संस्कृति और कला, प्रथम संस्करण', उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 1973
- गौतम, डॉ0 चमन – 'श्रीमदभागवत्', संस्कृति संस्थान बरेली, 2003
- गुप्त, डॉ. नत्थू लाल – 'मूल्यपरक शिक्षा', कृष्णा ब्रादर्स, अजमेर, 1987

- गुप्ता, डा0 सुरेन्द्र नाथ दास – ''भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–4,'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकेड़मी, जयपुर–4, 1978
- गुप्ता, दास – 'भारतीय दार्शनिक इतिहास', हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1962
- हिरयन्ना, एम. – 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा', राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली, 1977
- जैन, पं0 पन्ना लाल साहित्याचार्य – 'पद्म पुराण प्रथम व द्वितीय भाग', द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1977
- जौहरी एवं पाठक, – 'भारतीय शिक्षा का इतिहास' विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1989
- काणे, डॉ. पाण्डुरंग बामन – 'धर्म शास्त्र का इतिहास', उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1980
- लाल, डॉ. राम नारायण – 'धर्म दर्शन' मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972
- मिश्र, प0 ज्वाला प्रसाद – 'अष्टादश पुराण दर्पण', नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली, 1980
- पांडे, डा. रामशकल – 'शिक्षा दर्शन', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1982
- पांडे, राजबलि – 'पुराण विषयानुक्रमणी', प्रथम भाग, हिन्दी विश्वविद्यालय, काशी, 1957
- सद्गोपाल, अनिल – 'शिक्षा में बदलाव का सवाल', ग्रन्थ शिल्पी, (इंडिया), प्रा0 लि0, दिल्ली, 2004
- शास्त्री, माध्वाचार्य – 'पुराण दिग्दर्शन (तृतीय संस्करण)', देहली, संवत् 2014
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'नारद पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'मत्स्य पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'गरुड़ पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002

- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'मार्कण्डेय पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2001
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'विष्णु पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2003
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 1999
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'लिंग पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'भविष्य पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'ब्रह्म पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'पद्म पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'वायु पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2001
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'भागवत् पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'स्कन्द' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 1999
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'वामन पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2000
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'कूर्म पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2000
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'वराह पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2001

- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'अग्नि पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2002
- शर्मा, आचार्य श्रीराम – 'ब्रह्माण्ड पुराण' प्रथम व द्वितीय खण्ड, संस्कृति संस्थान बरेली, 2000
- शर्मा, पं0 गिरधर – 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1960
- शर्मा, पं0 गिरधर – 'दर्शन अनुचिन्तन', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1964
- शर्मा, पं0 गिरधर – 'पुराणानुशीलन', बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1970
- शर्मा, मणि (1980) – ''समकालीन शिक्षा का स्वरूप एवं उसकी भावी सम्भावनायें, थर्ड सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, बुच एम. बी. 1978–83
- शर्मा, पं0 नन्द किशोर – 'भारतीय दार्शनिक समस्याएं, प्रथम संस्करण', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1976
- शर्मा, राम नाथ – 'भारतीय शिक्षा दर्शन के मूल तत्व', केदारनाथ–रामनाथ प्रकाशन, मेरठ, 1985
- शुक्ल, पं0 बद्रीनाथ – मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन', चौखम्बा, काशी, 1960
- शुक्ला, डॉ0 अनिल (समन्वयक) – 'श्री माँ का शिक्षा दर्शन – चिन्तन से क्रियात्मकता की ओर', राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा, नई दिल्ली, 2005
- शुक्ला, डॉ0 रमा – 'शिक्षा के दार्शनिक आधार', आलोक प्रकाशन, लखनऊ, 2004
- सिन्हा, डा0 यदुनाथ – 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी', वॉल्यूम– 1, 125–177 ऑन द फिलॉसफी ऑफ पुराणाज, 1956
- सुखिया, एस. पी. – 'शैक्षिक अनुसंधान के मूल तत्व', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1991
- स्वामी, असंगानन्द सरस्वती – 'अमृतत्व और उसकी साधना', राधा प्रेस, दिल्ली, 2003
- स्वामी, विवेकानन्द – 'जाति, संस्कृति और समाजवाद', रामकृष्ण मठ, नागपुर, 1986

- तिवारी, एस. सी. (1984) – 'वर्णाश्रम शिक्षा–व्यवस्था तथा आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता', फोर्थ सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, बुच एम. बी. 1983–88, वॉल्यूम फर्स्ट
- त्रिपाठी, मालती – 'वामन पुराण का एक सांस्कृतिक अध्ययन', वाराणसी, 1980
- त्रिपाठी, श्री कृष्णमणि – 'अष्टादश पुराण परिचय', वाराणसी, संवत् 2013
- त्रिपाठी, श्री कृष्णमणि – 'पुराण पर्यालोचना', चौखम्बा, सुर भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977
- त्रिपाठी, श्री कृष्णमणि – 'पुराण तत्व मीमांसा', वाराणसी, 1961
- उपाध्याय, आचार्य बलदेव – 'भारतीय दर्शन सार', सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली।
- उपाध्याय, आचार्य बलदेव – 'पुराण विमर्श', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1987
- वारलू, एम. वैंकटेश (1978) – 'द एजुकेशनल फिलॉसफी एज रिफ्लेक्टिड इन द महाभारत', थर्ड सर्वे ऑफ रिसर्च इन एजुकेशन, बुच एम. बी. 1978–83
- व्यास, महर्षि वेद – 'श्रीमदभागवत् पुराण हिन्दी अनुवाद, स्वामी अखण्ड़ानन्द सरस्वती, गीता प्रेस, गोरखपुर।